प्रियप्रवास
एवं
काव्य, संस्कृति और दर्शन

TEXT BOOK

लेखक
डा० द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
एन० आर० ई० सी० कॉलिज, खुरजा

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रकाशक
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड आगरा

प्रथम संस्करण
सन् १९६०
मूल्य
आठ रुपया

मुद्रक
गुलाबसिंह यादव
आगरा फाइन आर्ट प्रेस, आगरा

प्राक्कथन

प्रत्येक महाकाव्य युग-चेतना का प्रतीक होता है। उसमें युगानुकूल विचारों का प्रवाह अपनी मंद-मंथर गति से प्रवाहित होता हुआ युग के धर्म, युग की मान्यतायें, युग की दुर्बलतायें एवं युग की विशेषताओं को अपने कल-कल-निनाद द्वारा उद्घोषित करता रहता है। इसीकारण प्रत्येक महाकाव्य किसी न किसी महत्प्रेरणा से प्रेरित होकर ही लिखे जाते हैं और वे अपने लघु अथवा दीर्घ आकार में प्रकट होकर युग की संचित सामग्री को आत्मसात् करते हुए अपना गौरवशाली स्वरूप ग्रहण किया करते हैं। 'प्रियप्रवास' के जन्म की कथा भी कुछ ऐसी ही है। इससे पूर्व आधुनिक युग में खड़ी बोली का कोई भी महाकाव्य निर्मित नहीं हुआ था। सर्वत्र खड़ी बोली का बोल बाला तो था, परन्तु अभी वह इतनी सशक्त एवं सक्षम नहीं हो पाई थी कि उसमें महाकाव्यों का भी निर्माण हो सके। साथ ही किसी कवि का इधर साहस भी नहीं होता था कि ब्रजभाषा या अवधी के समकक्ष खड़ी बोली में भी कोई महाकाव्य लिखें। हरिऔधजी ने सर्वप्रथम यह प्रयास किया और अपनी अद्भुत प्रतिभा एवं अनुपम कला का परिचय देते हुए इस युग के अभाव की पूर्ति की। यह दूसरी बात है कि प्रथम प्रयास होने के कारण वह इतना उत्कृष्ट एवं इतना सम्पन्न महाकाव्य नहीं है कि हिन्दी के पदमावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि की समता कर सके। परन्तु उसका अपना महत्व है और वह आधुनिक युग के महाकाव्यों के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति स्थित है।

'प्रियप्रवास' के इस आलोचना-ग्रंथ की प्रेरणा मुझे अपने विद्यार्थियों से मिली। प्रायः सभी विद्यार्थी यह आग्रह करते रहते थे कि जब आप कक्षा में इतनी विस्तृत आलोचना करते रहते हैं, तब उसे पुस्तकाकार क्यों नहीं प्रकाशित करा देते! इसके अतिरिक्त मैंने भी इस ग्रंथ की उपेक्षा का अनुभव किया। प्रायः अधिकांश आलोचकों ने अन्य कवियों एवं हिन्दी के अन्य उत्कृष्ट महाकाव्यों पर तो अधिक से अधिक लिखने का प्रयत्न किया है, परन्तु विचारे 'प्रियप्रवास' को नगण्य समझकर इसकी ओर ध्यान कम दिया है। इस ओर सबसे सराहनीय कार्य पं० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने किया

है। उनके प्रति मैं अत्यंत आभार प्रकट करता हूँ परन्तु वह ग्रंथ भी केवल 'प्रियप्रवास' पर न लिखा जाकर हरिऔधजी की अन्य कृतियों पर भी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त एक संक्षिप्त अध्ययन प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का भी मिलता है, जिसमें 'प्रियप्रवास' के गुणों की अपेक्षा दोषों का उद्घाटन अधिक हुआ है और उसमें भी लेखक ने आगे चलकर 'वैदेही वनवास' तथा 'पारिजात' पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने भी एक आलोचनात्मक पुस्तक "कविसम्राट् हरिऔध और उनकी कला-कृतियाँ" के नाम से पहले लिखी थी, जिसमें हरिऔधजी के सम्पूर्ण साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनके साहित्य पर अपने संक्षिप्त विचार व्यक्त किये थे। उसी समय यह विचार हुआ था कि हरिऔधजी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'प्रियप्रवास' की आलोचना पृथक् पुस्तकाकार रूप में लिखी जाय। किन्तु अनुसंधान कार्य में व्यस्त रहने के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका। अब अनुसंधान से अवकाश मिलने पर यह ग्रंथ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यह आलोचना-ग्रंथ सात भागों में विभक्त है, जिन्हें प्रकरण नाम दिया गया है। प्रथम प्रकरण में 'प्रियप्रवास' की प्रेरणा और पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है, जिसमें कवि के जीवन-परिचय के साथ-साथ उसके समस्त ग्रंथों का काल-क्रमानुसार परिचय देते हुए यह देखने की चेष्टा की गई है कि कवि की प्रतिभा का विकास किस तरह होता गया और उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में कितने अमूल्य ग्रंथ-रत्न भेंट किये। इसके साथ ही 'प्रियप्रवास' के निर्माण में जिन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों ने योग दिया था, उनका भी वर्गीकरण एवं विश्लेषण करते हुए 'प्रियप्रवास के निर्माण में उनकी उपादेयता एवं उपयोगिता पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' लिखने के कतिपय कारणों पर भी दृष्टि डाली गई है और यह देखा गया है कि कवि ने इस ग्रंथ का नाम यह क्यों रखा। अन्त में इस नाम की सार्थकता का भी विवेचन किया गया है।

दूसरे प्रकरण में 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर सांगोपांग विचार प्रकट किए गए हैं और यह बताया गया है कि 'प्रियप्रवास' में कितनी कथाओं एवं उपकथाओं का समावेश हुआ है, उनके मूलस्रोत कहाँ हैं तथा अपनी मूल-कथाओं से 'प्रियप्रवास' की कथाओं में क्या अन्तर किया गया है। कवि ने अपनी इस कथा में कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की हैं और उन उद्भावनाओं में कवि को कहाँ तक सफलता मिली है—इस का भी विस्तृत विवेचन किया गया

है। इतना ही नहीं कथावस्तु के शास्त्रीय विधान का उल्लेख करते हुए अंत में उसके गुण-दोषों पर भी सम्यक् दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरण में 'प्रियप्रवास' के काव्यत्व पर विचार करते हुए उसकी प्रबन्धात्मकता एवं महाकाव्यत्व का पर्यवेक्षण किया गया है। साथ ही यह देखने की भी चेष्टा की गई है कि इस काव्य का मुख्य 'कार्य' क्या है और उस 'कार्य' की दृष्टि से इसमें एकरूपता कहाँ तक विद्यमान है। प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन करते हुए प्रकृति-चित्रण एवं भाव-निरूपण पर विस्तारपूर्वक सम्यक् रूप से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त वियोग शृंगार की करुण रस में किस तरह परिणति हुई है, इस पर विचार व्यक्त करते हुए भाव एवं रस निरूपण में जिन नवीन उद्भावनाओं का समावेश हुआ है उनका भी यहाँ सांगोपांग उल्लेख विद्यमान है। अन्त में कवि के सौंदर्य-निरूपण का अध्ययन करते हुए इस काव्य की महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य का उद्घाटन किया गया है।

चौथे प्रकरण में 'प्रियप्रवास' के कला-पक्ष पर विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें इस काव्य की सर्गवद्धता, शब्द-विधान, वर्णमैत्री, लोकोक्ति-मुहावरे आदि पर विचार प्रकट करते हुए इसमें आए हुए विभिन्न प्रकार के शब्दों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण किया गया है और शुद्ध एवं अशुद्ध प्रयोगों की ओर भी संकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' की भाषा, उसमें शब्द-शक्तियों का प्रयोग, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति, अलंकार, छंद, औचित्य आदि का स्वरूप यहाँ किस प्रकार का मिलता है इसका भी समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। अंत में काव्य-शैली के स्वरूप का विवेचन करके 'प्रियप्रवास' की कला पर समीक्षात्मक विचार व्यक्त किये गये हैं।

पाँचवें प्रकरण में 'प्रियप्रवास' के सांस्कृतिक पक्ष का निरूपण किया गया है, जिसमें यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत भारतीय संस्कृति की अधिकांश विशेषतायें सन्निविष्ट हैं। कवि ने यहाँ भारतीय धार्मिक जीवन की उन सभी मान्यताओं को काव्य-रूप देने की सुन्दर चेष्टा की है, जिनका संबंध यहाँ के दैनिक जीवन से है और जो फल्गू की भाँति भारतीय हृदयों में अनन्त काल से प्रवाहित होती चली आ रही हैं।

छठे प्रकरण में 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत मानव-जीवन के प्रति कवि के जो विचार व्यक्त हुए हैं उनका सम्यक् उद्घाटन किया गया है। इस 'जीवन-दर्शन' में यह दिखाने की चेष्टा हुई है कि कवि किन-किन विचारों, सिद्धान्तों

एव साधनों को मानव-कल्याण के लिए आवश्यक मानता है, किस तरह वह समाज को नया रूप देने की आकाक्षा करता है, किस तरह के आचरण को वह मानव मात्र के लिए अपेक्षित समझता है, कौन-कौन से कार्य वह देशोद्धार के लिए अनिवार्य समझता है आदि-आदि। अन्त मे कवि के मूल-सिद्धान्त 'लोकहित' का भी सम्यक् निरूपण किया गया है।

सातवें अथवा अन्तिम भाग के अन्तर्गत 'उपसहार' आता है, जिसमे सर्वप्रथम 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कामायनी' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और देखा गया है कि किस तरह महाकाव्य की कला क्रमश. विकसित होती हुई 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य के रूप मे अपने चरम विकास पर पहुँची थी। इस दृष्टि से आधुनिक युग के महाकाव्यों मे 'प्रियप्रवास' प्रथम सोपान पर, 'साकेत' द्वितीय सोपान पर तथा 'कामायनी' अभी तक अतिम अथवा तृतीय सोपान पर स्थित है। अत मे 'प्रियप्रवास' के अमर सदेश का उद्घाटन करके यह अध्ययन समाप्त किया गया है। मुझे अपने प्रयत्नो मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसके बारे मे मैं कुछ कहने का अधिकारी नही। फिर भी यदि इस अध्ययन द्वारा 'प्रियप्रवास' सम्बन्धी समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की कुछ पूर्ति हो गई, तो मैं अपने प्रयास को सफल ही समझूँगा।

अन्त मे मैं उन सभी विद्यार्थियो एव मित्रो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्रेरणा का यह प्रसाद पाठको के सम्मुख समर्पित कर रहा हूँ। उन सभी लेखको के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके ग्रथो की सामग्री का उपयोग मेरे इस आलोचना-ग्रंथ मे हुआ है। साथ ही श्रीयुत भोलानाथ अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा भी धन्यवाद के अधिकारी हैं, क्योंकि प्रकाशन के लिए आश्वासन देकर तथा समय-समय पर शीघ्रता करने के लिए उत्साहित करके आपने ही इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराया है। आशा है दयालु पाठक मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके तथा त्रुटियों से अवगत कराके मुझे सदैव आभारी बनाते रहेंगे।

मकर-सक्रांति
माघ कृ० १ स० २०१६
जनवरी, १९६० ई०

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

विषय सूची

प्रकरण १

प्रियप्रवास की प्रेरणा और पृष्ठभूमि

जीवन परिचय—महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म वैसाख कृष्णा ३ सं० १९२२ वि० तदनुसार १५ अप्रैल सन् १८६५ ई० में जिला आजमगढ़ के अन्तर्गत निजामाबाद नामक स्थान पर हुआ था। उपाध्याय जी के पूर्वज मुग़ल सम्राट् जहाँगीर के समय में दिल्ली में रहते थे। किन्तु किसी कारणवश मुग़ल सम्राट् के कोप का भाजन बन जाने के कारण इनके पूर्वज पं० काशीनाथ उपाध्याय पहले उत्तर प्रदेश के बदायूँ जिले में आकर रहने लगे। कहा जाता है कि बदायूँ में उनके पूर्वजों का मकान अभी तक स्थित है। तदुपरान्त वे आजमगढ़ जिले के निजामाबाद नगर में आकर बस गये। यह परिवार पहले तो अगस्तगोत्रीय शुक्लयजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण परिवार था, परन्तु निजामाबाद में आकर इस परिवार ने सिक्ख-धर्म स्वीकार कर लिया। पं० काशीनाथ उपाध्याय की पाँचवीं पीढ़ी में पं० रामचरन उपाध्याय हुए, जिनके तीन पुत्र थे—ब्रह्मासिंह, भोलासिंह तथा बनारसीसिंह। पं० ब्रह्मासिंह निस्संतान रहे तथा भोलासिंह के दो पुत्र हुए—अयोध्यासिंह और गुरुसेवकसिंह। इस तरह कविवर अयोध्यासिंह के पिता का नाम भोलासिंह और इनकी माता का नाम रुक्मिणी देवी था। इनके पिता कुछ पढ़े-लिखे न थे, परन्तु इनके ताऊ पं० ब्रह्मासिंह संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् एवं ज्योतिषी थे। उनकी देख-रेख में ही अयोध्यासिंह जी की शिक्षा-दीक्षा हुई।

बचपन में कवि अयोध्यासिंह ने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। किन्तु सात वर्ष की अवस्था में आपको निजामाबाद के तहसीली स्कूल में प्रवेश कराया गया, फिर भी आपके ताऊजी घर पर ही संस्कृत पढ़ाया करते थे। स्कूल में आपने फारसी की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर आपको बनारस के क्वीन्स कालेज में अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण आप अंग्रेजी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। फिर भी घर पर ही आपने संस्कृत, फारसी, बंगला आदि का विस्तृत अध्ययन

करके अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। इसी समय आपका परिचय निज़ामाबाद के प्रसिद्ध नानकपंथी बाबा सुमेरसिंह से हो गया। वहाँ आप प्रायः कवि गोष्ठी तथा भजन-कीर्तन आदि में सम्मिलित होने के लिए जाया करते थे। बचपन में ही आपको कविता के प्रति रुचि थी। अतः कभी-कभी समस्या-पूर्ति भी कर लिया करते थे। बाबा सुमेरसिंह भी कविता किया करते थे। उनका उपनाम 'हरिसुमेर' था। अयोध्यासिंह जी ने भी इसी नाम के अनुकरण पर अपना उपनाम 'हरिऔध' रख लिया।

हरिऔध जी का विवाह सन् १८८२ ई० में बलिया जिले के अन्तर्गत सिकन्दरपुर ग्राम के निवासी पं० विष्णुदत्त मिश्र की सौभाग्यवती कन्या अनन्त कुमारी के साथ सम्पन्न हुआ था। आपका पारिवारिक जीवन आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त अभावपूर्ण था। इसीलिए आपने सर्वप्रथम १६ जून १८८४ ई० में हिन्दी मिडिल स्कूल में अध्यापक का कार्य आरम्भ कर दिया। १८८७ ई० में आपने नार्मल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। तदुपरान्त आपने कानूनगो की परीक्षा भी पास करली और १८९० ई० में आप कानूनगो हो गये। फिर अपनी कार्यक्षमता एवं ईमानदारी के कारण आप सदर कानूनगो हो गये। १९०५ ई० में आपकी पत्नी का देहावसान हो गया, फिर हरिऔध जी ने दूसरा विवाह नहीं किया और आगामी ४२ वर्ष तक विधुर जीवन ही व्यतीत किया। १ नवम्बर १९२३ ई० में आपने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया। उसी समय आपकी साहित्यिक ख्याति एवं हिन्दी-प्रेम को देखकर काशी विश्वविद्यालय में पं० मदनमोहन मालवीय जी के अनुरोध से आपको हिन्दी-साहित्य के अध्यापन का कार्य सौंपा गया। लगभग २० वर्ष तक आपने वहाँ सहर्ष अवैतनिक सेवायें प्रस्तुत करते हुए बड़ी कुशलता एवं दक्षता के साथ हिन्दी अध्यापन का कार्य किया। इस समय तक आपकी ख्याति समस्त भारत में फैल चुकी थी। इसी कारण हिन्दी जगत् ने आपको "कवि सम्राट्" की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने आपको 'विद्यावाचस्पति" की उपाधि प्रदान की तथा 'प्रियप्रवास" नामक महाकाव्य पर आपको मंगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्रदान किया। काशी विश्वविद्यालय से अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त आप आजमगढ़ में आकर रहने लगे। यहीं पर ६ मार्च सन् १९४७ ई० को आपका गोलोकवास हुआ। यद्यपि हरिऔध जी का पार्थिव शरीर हमारे बीच में नहीं रहा, फिर भी अपने काव्य-ग्रन्थों के रूप में वे आज भी विद्यमान हैं और सदैव विद्यमान रहेंगे।

व्यक्तित्व—हरिऔध जी अत्यन्त सरल हृदय एवं उच्च विचारों के व्यक्ति थे। आप सिक्ख मतावलम्बी थे। आपके लघुभ्राता पं० गुरुसेवकसिंह तो वंश-परम्परा का परित्याग करके सिक्खों की वेश-भूषा छोड़ बैठे थे, और पूर्णतया पाश्चात्य सभ्यता में रंग गये थे, परन्तु हरिऔध जी अन्त तक अपनी परम्परा का पालन करते रहे। आप लम्बे केश तथा दाढ़ी रखते थे। आपकी मुखाकृति अत्यन्त आकर्षक थी। आपका शरीर दुबला-पतला और रंग गेहुँआ था। वैसे मुख पर सदैव तेज विद्यमान रहता था, परन्तु कुछ दिनों तक अर्श रोग से पीड़ित रहने के कारण अन्तिम दिनों में आपके चेहरे पर चिन्ता की क्षीण रेखायें विद्यमान रहीं आती थीं। आप घर पर प्रायः कमीज, वास्कट तथा पाजामा पहनते थे, परन्तु अन्य सार्वजनिक स्थानों पर जाते समय श्वेत पगड़ी, शेरवानी, पाजामा, अंग्रेजी जूते तथा मोजे धारण किया करते थे। गले में दुपट्टा भी डालते थे।[1] वैसे आपको खद्दर पहनना पसन्द न था, परन्तु स्वदेशी कपड़ा पहनना अधिक अच्छा समझते थे।

आपका हृदय अत्यन्त उदार एवं स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा मृदु था। आप बड़े ही मिलनसार थे। आपके घर छोटा-बड़ा कैसा ही व्यक्ति क्यों न पहुँच जाय, आप सदैव सभी का समान रूप से आदर-सत्कार किया करते थे। अपने मित्रों एवं हितैषियों से मिलना तो आपको अत्यन्त रुचिकर था। आपके यहाँ कितने ही युवक अपनी तुकबन्दियाँ लेकर उन्हें ठीक कराने आया करते थे, परन्तु आप सदैव उन्हें उचित परामर्श देकर उनका पथ-प्रदर्शन किया करते थे।

आपका हृदय प्रकृति की मनोरम छटा देखकर एक अद्भुत आनन्द का अनुभव किया करता था। आप प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। अपने प्रकृति-प्रेम का उल्लेख करते हुए आपने स्वयं लिखा है—"घन पटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरिणी, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिला का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरदर्तु की शोभा, दिशाओं की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य, ज्योत्स्ना-रंजित यामिनी, तारक-मंडित नील नभोमंडल, सुचित्र विहंगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्प-चय मेरे आनन्द की प्रिय सामग्री है। किन्तु पावस की सरस छवि, वसंत की विचित्र शोभा,

---

१. हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ—पृष्ठ ४४३।

कोकिल का कुहूरव और किसी कलकण्ठ का मधुर गान वह भी भावमयी कविता ललित मुझको उन्मत्तप्राय कर देते हैं।' [1]

अत आपके हृदय म प्राकृतिक शोभा के लिए एक विशेष आकर्षण था। आप प्रकृति की माधुरी पर सदैव विमुग्ध रहा करते थे। परन्तु जैसा आपका आकर्षण प्रकृति सुन्दरी की मनोरम छटा के प्रति था वैसा ही मानव सौंदर्य के प्रति भी था। आपने प्रकृति के अनिद्य सौन्दर्य की भांति मानव-सौंदर्य की भी अद्भुत झाँकियां अपने काव्यो मे चित्रित की हैं तथा समाज सेवा, लोकानुरजन विश्व बधुत्व परोपकार आदि उच्च भावनाओ से समवलित करके मानव जीवन के आदर्शपूर्ण मनोरम चित्र अपने काव्यो म यत्र-तत्र अकित किए हैं। मानव-समाज को उन्नत बनाने की एक उत्कट अभिलाषा आपके हृदय म विद्यमान थी। समाज की कमिया एव दुर्बलताओ के चित्र अकित करके आपने सदैव मानव को अपने आदर्श की ओर बढने की प्रेरणा दी। आप नैतिकता के अनन्य भक्त थे। इसी कारण आप समाज मे परम्परा का उच्छेद एव भारतीय सस्कृति का विरोध सहन नहीं कर सकते थे। इसीलिए आपने अपने 'चोखे चौपदे' एव 'चुभते चौपदे' म भारतीय समाज पर कटु व्यग्य द्वारा प्रहार भी किया है।

आप काव्य और सगीत कला के प्रति बचपन से ही रुचि रखते थे। अपने हृदय की सगीतजन्य पिपासा को शान्त करने के लिए आप किसी भी स्थान पर निस्सकोच भाव से जाने के लिए उत्सुक रहा करते थे। आपकी फुटकल रचनाओ म आपके सगीत प्रेम का आभास भली प्रकार मिल जाता है।

आपके हृदय म आदर्शवादिता कूट-कूट कर भरी हुई थी और आपके हृदय मे अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति अनन्य श्रद्धा थी। परन्तु आप अध-विश्वासी न थे। आप अत्यत सहिष्णु थे और सिक्खमतानुयायी होकर भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। आपकी दृष्टि म किसी भी धर्म मे कोई बुराई न थी। सभी धर्मों की उच्च भावनाएँ एव सारपूर्ण बातें ग्रहण करना आपको अत्यत प्रिय थी। आपको भजन-पूजा आदि रुचिकर न थी, परन्तु सनातन धर्म एव उसके धर्म ग्रन्थो म आपकी अटूट श्रद्धा थी। वेदो को आप ज्ञान का अक्षय भडार मानते थे तथा उनके ज्ञान का प्रसार एवं प्रचार होना भारत के लिए श्रेयस्कर समझते थे। आप वैसे तो एकेश्वरवाद के

---

१ महाकवि हरिऔध—पृ० २१।

मानने वाले थे, परन्तु हिन्दुओं के सभी देवी-देवताओं के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए आप उन्हें असाधारण व्यक्ति मानते थे। ईश्वर के बारे में आपका भावुकता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक था और आप ईश्वर की सत्ता को सर्वत्र व्याप्त माना करते थे।

बहुमुखी प्रतिभा—हरिऔध जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने विद्यार्थी जीवन में ही कविता करना आरम्भ कर दिया था। जब आप मिडिल स्कूल में पढ़ा करते थे, तभी आपने कबीर की साखियों पर कुंडलियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे आपकी प्रतिभा विकसित होती गई और आपने कितने ही काव्य-ग्रन्थ लिख डाले, जिनमें से कबीर-कुंडल, श्रीकृष्ण-शतक, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेम-प्रपंच, उपदेश-कुसुम, प्रेम-पुष्पोपहार, उद्बोधन, प्रियप्रवास, ऋतुमुकुर, पुष्प विनोद, विनोद वाटिका, चोखे चौपदे, चुभते चौपदे, पद्यप्रसून, बोलचाल, रसकलस, फूलपत्ते, पारिजात, ग्रामगीत, वैदेही-वनवास, हरिऔध सतसई, मर्मस्पर्श आदि पद्यग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनमें से प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास तथा पारिजात तीन महाकाव्य माने जाते हैं। हरिऔधजी ने हिन्दी के समस्त मुहावरों को लेकर 'बोलचाल' नामक ग्रंथ लिखा है तथा रसकलस में ब्रजभाषा के अन्तर्गत नायिकाभेद लिखा है। आपने फुटकल कविताओं के कितने ही संग्रह प्रकाशित कराये थे, जिनमें से कई अब अप्राप्य हैं।

काव्य के अतिरिक्त हरिऔध जी ने दो उपन्यास भी लिखे थे। सर्व प्रथम आपने "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के लिए खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीनसिंह ने विशेष आग्रह किया था। इसका कारण यह था कि उन दिनों अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रियर्सन की यह बड़ी अभिलाषा थी कि खड्गविलास प्रेस से ठेठ हिन्दी भाषा में कोई गद्य की पुस्तक प्रकाशित हो। डाक्टर साहब ने इसके लिए बा० रामदीनसिंह जी से आग्रह किया था। उसी आग्रह पर आपने हरिऔध जी से अनुरोध किया और हरिऔध जी ने डाक्टर साहब की अभिलाषा-पूर्ति के लिए ३० मार्च सन् १८६६ ई० को "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा, जिसमें हिन्दू समाज की विवाह सम्बन्धी एक निकृष्ट रीति को पाठकों के सम्मुख प्रदर्शित करते हुए हरिऔध जी ने तत्कालीन सामाजिक जीवन की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। इसकी कथावस्तु तो अत्यन्त सरल एवं सुबोध है, किन्तु वस्तु में सजीवता एवं स्वाभाविकता है। वैसे इसमें औपन्यासिक कला का अभाव है। परन्तु इसकी विशेषता भाषा का ठेठ रूप

प्रस्तुत करने म है। कहीं भी आपको कोई तत्सम शब्द देखने को नहीं मिलेगा। सवत्र तद्भव शब्द प्रधान सरल एव सुबोध बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। इस उपन्यास को पढकर डा॰ ग्रियसन इतने प्रसन्न हुए थे कि इन आपने इडियन सिविल-सर्विस की परीक्षा के पाठ्यक्रम में रखवा दिया था। तदुपरान्त हरिऔध जी ने अधखिला फूल नामक दूसरा उपन्यास लिखा। यह भी सामाजिक उपयास है। इसम तत्कालीन बिलासी जमीदारो क नग्नरूप का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ प्रकृति चित्रण अत्यन्त सजीव एव मनोमाहक है तथा चरित्र चित्रण म आदशवादिता को अपनाया गया है। य दानो उपयास औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतन उत्कृष्ट नहीं, क्योकि य हिन्दी की ठठ भाषा का नमूना प्रस्तुत करने के लिए लिखे गये थ। इसी कारण इनम औपन्यासिक कला का ता सवथा अभाव ही है किन्तु फिर भी उपयास-क्षेत्र म भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

हरिऔध जी न उपन्यासो क अतिरिक्त रुक्मिणी परिणय तथा प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नामक दो रूपक भी लिख। इनम स रुक्मिणी परिणय' के सवाद प्राय अधिक लम्ब तथा अस्वाभाविक हैं। यहाँ प्राचीन नाट्य शैली का अपनाया गया है। कविता के लिए व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है तथा नाट्यकला का सुदर रूप दिखाई नहीं देता। दूसरा प्रद्युम्न विजय व्यायोग' भारतेन्दु बाबू क धनजय व्यायोग क उपरान्त हिन्दी का दूसरा व्यायोग है। इसम भागवत क आधार पर श्रीकृष्ण क पुत्र प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर क वध की कथा दी गई है। नाट्यकला की दृष्टि स यह ग्रथ भी साधारण हा है। परन्तु रूपक-क्षेत्र म अपनी विधा क कारण इसका एतिहासिक महत्व है।

हरिऔध जी ने इतिहास तथा आलोचना क क्षेत्र म भी पर्याप्त काय किया। आपने पटना विश्वविद्यालय के लिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर जा व्याख्यान तैयार किय थ जा पुस्तकाकार रूप म हिन्दी भाषा और साहित्य विकास' क नाम स प्रकाशित हुए। इस ग्रथ म इतिहास और भाषा विज्ञान का सुदर सम्मिश्रण है तथा भाषा क स्वरूप, उसक उद्गम एव विकास आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सबस बडी विशषता यह है कि इस इतिहास-ग्रथ म उर्दू भाषा के कवियो का भी उल्लख मिलता है और उर्दू को भी हिन्दी भाषा की ही एक शैली स्वीकार किया गया है। इस ग्रथ के अतिरिक्त आपन रसकलश की भूमिका लिखी, जो आलाचना-साहित्य म

प्रौढ़ता एवं प्रांजलता की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती है। उसमें आपने रस-सम्बन्धी खोज एवं अपनी रसगत मान्यताओं का सुन्दर विवेचन किया है तथा सभी रसों की आनन्द-स्वरूपता पर अत्यन्त मार्मिक दृष्टि से विचार किया है। इतना ही नहीं रीतिकालीन नायिका-भेद की भर्त्सना करते हुए आपने शृंगार रस के रसराजत्व का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है और नवीन नायिकाओं की भी उद्भावना की है। सारी भूमिका हरिऔध जी की गवेषणात्मक आलोचना का अत्यन्त उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है तथा आलोचनात्मक व्याख्या के प्रकाण्ड पांडित्य की ओर संकेत करती है। यही बात "कबीर वचनावली की भूमिका" में दृष्टिगोचर होती है। इस भूमिका में लेखक ने कबीर के जीवन-वृत्त, उनके शील, आचार, धर्म-प्रचार, विरोधी दल, अन्तिम कार्य आदि का बड़ा ही सराहनीय विवेचन किया है, तथा कबीर की साखियों पर अपने मार्मिक विचार प्रस्तुत किए हैं। यहाँ लेखक की प्रौढ़ भाषा, समीक्षा-पद्धति एवं आलोचना की सामर्थ्य सर्वथा प्रशंसनीय है। हरिऔध जी ने "बोलचाल की भूमिका" भी लगभग २४६ पृष्ठों में लिखी है। इसमें विद्वान् लेखक ने बोलचाल की भाषा, ठेठ हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति सम्बन्धी सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की है तथा उर्दू भाषा में प्रयुक्त छन्दों का गंभीरता पूर्वक निरुपण किया है। आगे चलकर आपने बोल-चाल की भाषा तथा ठेठ हिन्दी के स्वरूप को समझाया है तथा हिन्दीभाषा को चार भागों में विभक्त किया है—(१) ठेठ हिन्दी, (२) बोलचाल की भाषा, (३) सरल हिन्दी और (४) उच्च हिन्दी अथवा संस्कृत गर्भित हिन्दी। इस तरह यह भूमिका भी हिन्दी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन भूमिकाओं के अतिरिक्त आपने प्रियप्रवास, वैदेहीवनवास आदि काव्यों के प्रारम्भ में भी बड़ी ही सारगर्भित भूमिकायें दी हैं, जो आपके आलोचना-चातुर्य्य एवं प्रकांड पांडित्य की द्योतक हैं।

हरिऔध जी ने कुछ ग्रंथों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रस्तुत किए थे। इनमें से कुछ रचनायें गद्य में और कुछ पद्य में मिलती हैं। गद्य के अन्तर्गत वेनिस का बाँका, रिपवान विंकिल, और नीति-निबन्ध नामक ग्रंथ आते हैं और पद्य में उपदेश-कुसुम तीन भाग और विनोद-वाटिका नामक ग्रन्थ आते हैं। इन सभी अनूदित ग्रन्थों की भाषा ठेठ हिन्दी है और सभी ग्रन्थ मौलिक से जान पड़ते हैं आपने फारसी के ग्रन्थ गुलिस्ताँ के आठवें अध्याय का अनुवाद उपदेश-कुसुम तीन भाग के नाम से किया था। और "गुलजारदबिस्ताँ" का अनुवाद 'विनोद-वाटिका' के नाम से किया था। दोनों ही ग्रंथ शिक्षाप्रद हैं तथा इनमें सेवा, परोपकार, सरल व्यवहार, सत्य पालन, अहंकारहीनता आदि

को समझाते हुए सत्पथ का दिग्दर्शन कराया गया है। ये अनुवाद इतने सफल हैं कि इनमे मूल अर्थ कही भी विशृंखल नही हुआ है। यद्यपि मूल ग्रंथ के कुछ दृष्टान्तो मे कवि ने परिवर्तन कर दिया है, तथापि मुख्य ग्रंथ का आशय कहीं भी नष्ट नही हुआ है।

इस प्रकार हरिऔध जी ने मुक्तक कवितायें एवं प्रबन्ध काव्य, उपन्यास, आलोचना, इतिहास, अनुवाद आदि के द्वारा अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी-साहित्य के भण्डार को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपका गद्य और पद्य दोनो पर समान अधिकार था। आपने जितनी सजीवता एवं मार्मिकता के साथ ब्रज भाषा मे कविताएँ लिखी, उतनी ही सजीवता एवं मार्मिकता आपकी खड़ी बोली की कविताओं मे भी विद्यमान है। पद्य के ही अनुरूप आपके खड़ी बोली के गद्य मे भी अत्यन्त परिष्कृत, प्राजल एवं विशुद्ध भाषा के दर्शन होते हैं। यद्यपि आपका सम्पूर्ण साहित्य प्रयोगात्मक ही रहा, क्योंकि आपने हिन्दी में जिन-जिन अभावों के दर्शन किए, उनकी ही पूर्ति के लिए प्रयोग किये थे, फिर भी आपका वह प्रयोगात्मक साहित्य हिन्दी-साहित्य की अनूठी निधि है और भाषा एवं साहित्य के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

काव्य-कला का क्रमिक विकास—जैसा कि अभी उल्लेख किया जा चुका है कि हरिऔध जी ने बचपन मे ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। जिस समय आप लगभग १२-१३ वर्ष के थे और निजामाबाद के तहसीली स्कूल मे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उसी समय आपने कबीर की तीनेस साखियो पर पंचहत्तर कुण्डलियाँ लिखी थीं, जो सन् १८७९ ई० मे "कबीर-कुण्डल" के नाम से प्रकाशित हुई। इन कुण्डलियो मे कवि हरिऔध ने साखी के भाव को बड़ी सजीवता के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि कवि का यह ग्रंथ उनके बाल-चातुर्य का द्योतक है, फिर भी शब्द-चयन, भाव-प्रकाशन आदि मे अद्भुत प्रतिभा के बीज विद्यमान हैं। इस पुस्तक की रचना-शैली मे प्रारम्भिक प्रयास के कारण ग्रामीण शब्दो एवं असयत भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु कवि का प्रथम प्रयास होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त सन् १८८२ ई० मे आपकी "श्रीकृष्ण-शतक" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। हरिऔध जी की यह प्रथम मौलिक रचना है, जिसमें एक सौ उन्नीस दोहो के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण के परमब्रह्म स्वरूप का

गुणानुवाद गाया गया है। इस ग्रंथ में ही हरिऔध जी की काव्य-प्रतिभा का प्रथम प्रस्फुटन हुआ है, फिर भी यहाँ उनकी कवित्व-शक्ति अविकसित ही है। भाषा भी अधिक परिमार्जित नहीं है, उसमें ब्रज और खड़ीबोली का सम्मिश्रण है। रचना-शैली साधारण है।

सन् १९०० ई० में हरिऔध जी के चार ग्रंथ प्रकाशित हुए—प्रेमाम्बु वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेम-प्रपंच। इन चारों ग्रंथों में कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म का अवतार मानकर उनके ब्रह्मत्व का बड़ी मार्मिकता के साथ निरूपण किया है।[1] इनमें से 'प्रेमाम्बु-वारिधि' में कुल ७५ घनाक्षरी पद हैं, जिनके अन्तर्गत कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को अनादि, अनन्त, अगम, अगोचर, निरंजन आदि कहा है तथा शेष, महेश, गणेश, सुरेश आदि सभी को उनके सम्मुख नतमस्तक होकर उनका गुणगान गाते हुए बतलाया है। इस ग्रंथ में कवि ने भगवान् कृष्ण के गुणानुवाद गाने का आग्रह किया है और उन्हें संसार का नियंता सिद्ध किया है। रचना-शैली पर प्राचीनता की छाप है। ब्रजभाषा में रचना की गई है और सम्पूर्ण ग्रंथ पर सूर, मीरा आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है।

"प्रेमाम्बु-प्रवाह" में हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के वियोग में व्याकुल गोपियों के विरह-कातर जीवन की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ में ४२ सवैये, ३० कवित्त तथा ७ घनाक्षरी पद हैं। सभी छन्दों में गोपियों की विरह-विह्वल दशा का चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ किया गया है। वे मधुवन, हरी-हरी लतायें, यमुना-कछार, वंशीवट आदि को देखकर किस तरह व्यथित होकर अपने प्रियतम कृष्ण के लिए विलाप करती हैं, इसी का निरूपण कवि ने यहाँ अपेक्षाकृत सशक्त ब्रजभाषा में किया है।[2] इस ग्रन्थ पर भी

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका—पृ० ३०।

२. बावरी ह्वै जातो बार-बार कहि वेदन को,
   बिलखि-बिलखि जो बिहारचल रोती ना।
   पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत,
   प्यारे प्राननाथ जो कसक निज खोती ना।
   प्यारे हरिऔध के पधारे परदेश दोऊ,
   नैन नसि जात जो समन संग सोती ना।
   तनु जरि जातो जो न अँसुआ ढरत ऊधो,
   प्राण कढ़ि जातो जो प्रतीति उर होती ना।
   —प्रेमाम्बु-प्रवाह, पृष्ठ ४

कृष्ण-भक्त कवियों की छाप है। भाषा में लाक्षणिकता नहीं है, अपितु सीधी एवं सरल उक्तियों का प्रयोग हुआ है।

"प्रेमाम्बु-प्रस्रवण" में हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के मनोहारी स्वरूप की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। इसमें ५६ कवित्त तथा ३० सवैया छन्द हैं, जिनके अन्तर्गत श्रीकृष्ण प्रेम का निरूपण करते हुए भगवद्भक्ति का उल्लेख किया गया है। भगवान् की रूप माधुरी देखकर एक भक्त किस तरह उनके स्वरूप में अनुरक्त होता हुआ भगवत् प्रेम की परिपक्वावस्था को प्राप्त करता है और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देता है इसी अवस्था का निरूपण कवि ने विभिन्न छन्दों में किया है। इस ग्रन्थ में भगवद्भक्ति के साथ-साथ स्वदेशोद्धार की भावना भरने का भी स्तुत्य प्रयत्न हुआ है। कवि की लोकाराधना अथवा लोक-संग्रह की भावना के भी दर्शन सर्वप्रथम इसी ग्रंथ में होते हैं। यह ग्रंथ भी सरस एवं सुबोध ब्रजभाषा में लिखा गया है तथा रचना-शैली पर भक्ति-काल के कवियों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सन् १९०० ई० में चौथी पुस्तक "प्रेम-प्रपंच" के नाम से प्रकाशित हुई। यह ग्रंथ फारसी की पुस्तक "फिसाना अजायब" का हिन्दी अनुवाद है, जो दोहा, सोरठा, छप्पय, कुण्डलिया, रोला, बरवै, सवैया, घनाक्षरी पद आदि प्रचलित छन्दों में किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा का माधुर्य प्रकट करने की दृष्टि से की गई थी। इसमें फारसी के शेरों का ब्रजभाषा में अत्यन्त सजीव एवं सुष्ठु अनुवाद किया गया है। उर्दू-फारसी के मुहावरों का भी अनुवाद हिन्दी में इतनी सफाई के साथ किया गया है कि अनुवाद में मौलिकता के दर्शन होते हैं। भाषा में सरलता एवं ओज है, किन्तु ग्रामीण प्रयोगों की ही बहुलता है। मुहावरों का प्रयोग अच्छा किया गया है।

तदनन्तर १९०१ ई० में हरिऔध जी की "उपदेश कुसुम" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध जी ने "गुलिस्ताँ" के आठवें अध्याय का ब्रजभाषा में अनुवाद किया है। परन्तु यह अनुवाद भी अत्यन्त सजीव एवं मौलिक सा जान पड़ता है। इसमें पहले मूलग्रंथ के भाव को खड़ीबोली के गद्य में रखा गया है और उसके अनन्तर उसी भाव को दोहे में व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ उपदेशात्मक है और नैतिक विचारों के प्रचारार्थ लिखा गया जान पड़ता है। रचना शैली सरल एवं साधारण है, किन्तु कवि के अनुवाद-कौशल की छटा सर्वथा सराहनीय है।

१९०४ ई० में हरिऔध जी की हिन्दी भाषा के बारे में एक सुन्दर कविता "प्रेम-पुष्पोपहार" के नाम से प्रकाशित हुई। यह कविता आपने काशी

नागरी-प्रचारिणी सभा के भवन का उद्घाटन होने के अवसर पर पढ़ी थी। यह हरिऔध जी की खड़ीबोली की सर्वप्रथम कविता है, इसमें हिन्दी भाषा की दीन-हीन दशा का वर्णन करते हुए कवि ने हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है और अन्त में हिन्दी भाषा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए कामना की है। इस कविता को पुस्तक का रूप दे दिया गया है। इसकी रचना-शैली सरल और सुन्दर है, कवि का खड़ी बोली में प्रथम प्रयास होने पर भी यह कविता अलंकारपूर्ण है तथा खड़ी बोली के सरस रूप को प्रस्तुत करती है। कवि ने खड़ीबोली में भी सर्वप्रथम मुहावरों का सुन्दर प्रयोग यहीं पर किया है।[1] आगे चलकर "बोलचाल", "चुभते-चौपदे" आदि ग्रंथों में इसी शैली का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

इसके अनन्तर हरिऔधजी 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य के लिखने में लग गये। इस समय तक आप खड़ीबोली की रचना करने में भी सिद्धहस्त हो चुके थे। अतः १५ अक्टूबर १६०८ से लेकर लगभग ५ वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त आपने १६१३ ई० में यह महाकाव्य समाप्त कर लिया। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस पटना से १६१४ ई० में हुआ था। हिन्दी में संस्कृत वृत्तों के अन्तर्गत इतना बड़ा १७ सर्गों का काव्य लिखना हरिऔध जी की अद्भुत प्रतिभा एवं अनुपम काव्य कौशल का द्योतक है। वैसे श्रीजयशंकर प्रसाद उस समय तक संस्कृत वर्णवृत्तों में कवितायें प्रस्तुत कर चुके थे, परन्तु अभी तक संस्कृत वर्णवृत्तों में ही नहीं, किसी भी छन्द में आधुनिक खड़ीबोली के अन्तर्गत कोई भी महाकाव्य नहीं लिखा गया था। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' लिखकर उसी अभाव की पूर्ति की। यह काव्य कथावस्तु, भाव-निरूपण, रचना-शैली, भाषा, वृत्त आदि सभी दृष्टियों से अनुपम एवं अद्वितीय है, इसकी विस्तृत आलोचना आगामी प्रकरणों में की जायेगी।

प्रियप्रवास के चार वर्ष उपरान्त १६१७ ई० में हरिऔध जी का "ऋतुमुकुर" नामक काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ। इसमें उनकी ब्रजभाषा में रची हुई ऋतु सम्बन्धिनी कविताएँ संगृहीत हैं, जिनमें कवि ने अपनी प्रशस्त

---

१. पर नहीं जो आप लोगों को हुआ,
आज भी इसकी दशा का ध्यान कुछ।
तो फिरेगी झांकती सब दिन कुआ,
हाय! होगा मान भी इसका न कुछ।
—प्रेमपुष्पोपहार, पृ० ४

लखनो द्वारा शरद हेमन्त शिशिर बसन्त ग्रीष्म और पावस ऋतुओं का बडा ही मार्मिक वणन किया है। यहा सवत्र प्रकृति को उद्दीपन रूप मे ही अधिक अकित किया गया है और प्राकृतिक शोभा के निरूपण म परम्परागत बातों का ही उल्लेख अधिक दिखाई देता है।[1] फिर भी भाषा की कमनीयता एव अलकारो की रमणीयता कवि के अनुपम कौशल की द्योतक हैं। रचना शैली पर रीतिकालीन कवियों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

इसी वर्ष १६१७ ई० में ही हरिऔधजी की पद्य प्रमोद नामक कविता पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता सग्रह म कवि की खडीबोली मे लिखी हुई ५३ कविताये सकलित हैं जो समय-समय पर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं म प्रकाशित हो चुकी थी। इनम स धर्मवीर 'कर्मवीर' आदि कवितायें उपदेशात्मक हैं तथा कमण्यता का सचार करने वाली हैं।[2] कुछ कवितायें प्रकृति-वणन सम्बन्धी हैं कुछ समाज के उत्थान पर लिखी गई हैं और कुछ सामाजिक दुष्प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराने के लिए लिखी गई हैं। भारत गीत विद्या प्रेमधारा धर्मवीर कर्मवीर चित्तौड की एक शारद रजनी सती सीता सुतवती सीता उर्मिला मतलब की दुनिया आदि कवितायें सुन्दर और

---

१ काढि लहै कैलिया करेजो कूकि कूजन मैं
बावरी करत मौरि आम अमराई मैं।
गूंजि गूंजि भौरन की भीर हू अधीर कहै
पीर हू उठैगी पीरे पात की पिराई मैं।
ए हो हरिऔध मेरे हिय ना हुलास रहै
बारिज बिकास हेरे पास की तराई मैं।
अन्तक लौं अन्त ए करत काम तन्त वारे,
कन्त जो न आयो या बसन्त की अवाई मैं।
—ऋतुमुकुर पृ० २०

२ काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोडते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोडते॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहिं तोडते।
सपदा मन से करोडों की नहीं जो जोडते॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
कांच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन॥
—पद्य प्रमोद पृ० ४३

सजीव हैं। रचना-शैली सरल और अभिधापूर्ण है। सर्वत्र कवि ने खड़ीबोली के शुद्ध एवं प्रांजल रूप को अपनाया है। छन्दों में उर्दू की सी बहरों का भी आनन्द यत्र-तत्र मिल जाता है। वैसे अधिकांश मात्रिक छन्द ही अपनाये गये हैं। भाषा बोलचाल के निकट है।

इसके ७ वर्ष उपरान्त १९२४ ई० में हरिऔध जी की दो प्रमुख कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं—(१) चोखे चौपदे और (२) चुभते चौपदे। 'चोखे चौपदे' को 'हरिऔध हज़ारा' नाम भी दिया गया है। यह कविता-पुस्तक नौ खण्डों में संकलित है—(१) गागर में सागर, (२) केसर की क्यारी, (३) अनमोल हीरे, (४) काम के कलाम, (५) निराले नगीने, (६) कोर कसर, (७) जाति के कलंक, (८) तरह-तरह की बातें और (९) बहारदार बातें। इन सभी खण्डों में कवि ने विभिन्न विषयों पर कवितायें लिखी हैं और मीठी-मीठी चुटकियाँ लेते हुए तत्कालीन समाज की बुराइयों को चित्रित किया है। इस संग्रह में कहीं ईश्वर सम्बन्धी विचार हैं, कहीं माँ के वात्सल्य का वर्णन है, कहीं समाज के निराले लोगों का चित्रण है और कहीं प्रकृति की मनोरम झाँकी अंकित की गई है। सारे संग्रह में ४७ कविताएँ हैं, जिनमें मानव की अन्तर्बाह्य प्रकृति का बड़ा ही सजीव एवं व्यंग्यपूर्ण वर्णन किया गया है। उक्तियों की सरलता एवं मार्मिकता सर्वत्र दर्शनीय है।[१] सम्पूर्ण चौपदे उर्दू के वज़न पर लिखे गये हैं। जहाँ-तहाँ उर्दू, फ़ारसी, ब्रजभाषा आदि के भी शब्द आगये हैं। परन्तु सर्वत्र सरस, सुबोध तथा मुहावरेदार खड़ीबोली का ही प्रयोग हुआ है। रचना-शैली में आलंकारिक छटा के साथ-साथ ओज एवं व्यंग्य दर्शनीय हैं।

इसी वर्ष 'चुभते चौपदे' नामक काव्य भी प्रकाशित हुआ। इस काव्य का नाम 'चुभते चौपदे' अथवा 'देश-दशा' दिया गया है। यह काव्य भी १३ भागों में विभक्त है—(१) गागर में सागर, (२) जाति के जीवन, (३) हित-गुटके, (४) काम के कलाम, (५) संजीवन बूटी, (६) जगाने की कल, (७) विपत्ति के बादल, (८) नाड़ी की टटोल, (९) जाति-राह के रोड़े,

---

१. वे चुहल के, चाव के पुतले बने,
चोचलों का रंग हैं पहचानते।
चाल चलना, चौंकना, जाना मचल,
दिल चलाना, दिलचले हैं जानते॥
—चोखे चौपदे, केसर की क्यारी, पृ० ६३

(१०) आठ-आठ आँसू, (११) जन्मलाभ, (१२) पारस-परस और (१३) परिशिष्ट। इस ग्रन्थ मे तत्कालीन समाज की दुर्बलताओ का अत्यन्त सजीवता के साथ व्यग्यात्मक शैली मे वर्णन किया गया है। कवि ने समाज के कायर, आलसी, अकर्मण्य, परमुखापेक्षी, धर्मांध, अधविश्वासी, छूआछूत फैलाने वाले, ढोगी, पाखण्डी, मनचले, निर्लज्ज आदि महापुरुषो पर अच्छी फबतियाँ कसी हैं। समाज मे 'बेजोड ब्याह' की कुरीति पर व्यग्य करते हुए आपने उन बूढे लोगो की भी खूब खबर ली है, जो कम उम्र की लडकियो से विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं।[1] आधुनिक सभ्यता का जामा पहन कर हमारी देवियो ने किस तरह अपनी मर्यादा का उल्लघन कर डाला है और वे किस तरह अपनी लाज, शरम तथा कुल धर्म को छोड बैठी हैं—ये सभी बातें भी हरिऔधजी की आँखो से ओझल नही हुई थी। अत उन पर भी करारा व्यग्य करते हुए कविने उन्हे सचेत होने का अनुरोध किया है।[2] रचना-शैली अत्यत सजीव एव ओजपूण है। भाषा खडीबोली है और बोलचाल के सर्वथा निकट

---

१ हो बडे बूढ़े न गुडियों को ठगें,
पाउडर मुँह पर न अपने वे मलें।
ब्याह के रगीन जामा को पहन,
बेईमानी का पहन जामा न लें॥
छोकरी का ब्याह बूढ़े से हुए,
चोट जी मे लग गई किसके नहीं।
किसलिए उस पर गडाये दाँत वह,
दाँत मुँह मे एक भी जिसके नहीं॥
—चुमते चौपदे, पृ० १६०

२ जाति की कुल की, धरम की लाज की।
बेतरह ए ले रही हैं फबतियाँ।
हैं लगाती ठोकरें मरजाद को।
देवियाँ हैं या कि ए हैं बीबियाँ॥
सब घरों को दें सरग जैसा बना।
लाल प्यारे देवतों जैसे बनें।
अब रहे ऐसे हमारे दिन कहाँ।
बेबियाँ जो देवियाँ सचमुच बनें॥
—चुमते चौपदे, पृ० १४७-१४८

है। उसमें उर्दू, अंग्रेजी आदि के प्रचलित शब्द पर्याप्त मात्रा में आये हैं। सरलता एवं स्पष्टवादिता इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

तदनन्तर १९२५ ई० में हरिऔधजी की "पद्यप्रसून" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔधजी की फुटकल कविताएँ संगृहीत हैं। पहले ये कविताएँ चार भागों में प्रकाशित हुई थीं, किन्तु पीछे सबको एकही ग्रन्थ में संकलित कर लिया गया। अब यह ग्रंथ ८ भागों में विभक्त है—(१) पावन प्रसून, (२) जीवन-स्रोत, (३) सुशिक्षा-सोपान, (४) जीवनी धारा, (५) जातीयता-ज्योति, (६) विविध विषय, (७) दिव्य दोहे और (८) बाल-विलास। इस ग्रन्थ में कवि ने शीर्षकों के अनुसार ही अपनी विविध कविताओं को संकलित किया है। इन कविताओं में कवि ने हिन्दुत्व, वेद, जीवन-मरण, अहिंसा, जाति-प्रेम, छूआछूत, भाषा-प्रेम, चतुर नेता आदि विषयों पर बड़ी गहनता से विचार किया है। सम्पूर्ण कवितायें सामाजिक एवं धार्मिक विचारों से ओत-प्रोत हैं तथा मानव के नैतिक जीवन को समुन्नत बनाने वाली हैं। समाज की धार्मिक संकीर्णता एवं सामाजिक कुरीतियों की भर्त्सना करते हुए कवि ने समाज को अज्ञान-निद्रा से जाग्रत करने का सफल प्रयत्न किया है। सभी कविताएँ खड़ीबोली के शुद्ध एवं प्रांजल रूप को प्रस्तुत करती हैं तथा रचना-शैली अत्यन्त सजीव एवं मार्मिक है। जहाँ-तहाँ आलंकारिक पदावली भी कवि की कलात्मक चातुरी का परिचय दे रही है।

इसके उपरान्त १९२८ ई० में हरिऔध जी का "बोलचाल" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर कवि ने अथक परिश्रम करके हिन्दी में प्रचलित समस्त मुहावरों पर पद्य-रचना की है। यहाँ कवि ने बाल से लेकर तलवे तक समस्त अंगों, शारीरिक चेष्टाओं एवं व्यापारों से सम्बन्धित सभी मुहावरों पर बोलचाल की भाषा में भावमयी कवितायें रची हैं। इस ग्रन्थ-रचना का कारण यह था कि उस समय हिन्दी में मुहावरों का प्रयोग ठीक-ठीक नहीं होता था और हिन्दी में ऐसी कोई पुस्तक भी नहीं थी, जिसमें मुहावरों का ठीक-ठीक प्रयोग करके रचना की गई हो। सर्वत्र मुहावरों की छीछालेदर हो रही थी और मुहावरों के प्रयोग से हीन होकर हिन्दी भाषा सर्वथा निर्जीव सी जान पड़ती थी। इसी कारण कवि हरिऔध ने बोलचाल की भाषा के अंतर्गत मुहावरों का यह सुन्दर ग्रन्थ "बोलचाल" के नाम से लिखा। इन मुहावरेदार पद्यों में सजीवता, मार्मिकता, व्यंग्य, हास्य, चुटीलापन आदि अनेक विशेषताएँ भरी पड़ी हैं। अधिकांश मुहावरों के प्रयोग इतने सुष्ठु, सुन्दर एवं चित्ताकर्षक हैं कि इन में उक्ति-वैचित्र्य, अर्थ-गांभीर्य तथा

प्रयोग-साफल्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।[1] रचना-शैली अत्यंत सजीव एवं मार्मिक है। भाषा में उर्दू, फारसी अंग्रेजी आदि के प्रचलित शब्दों का प्रयोग हुआ है और उर्दू की बहरों के वजन पर छन्दों की रचना हुई है। अलंकार भी पर्याप्त मात्रा में भरे पड़े हैं। सम्पूर्ण कविता लक्षणा एवं व्यंजना से परिपूर्ण है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त १६३१ ई० में 'रसकलस' नामक ब्रजभाषा का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में कवि ने शृंगार-रस की अश्लीलता का निवारण करते हुए उसकी रसराज उपाधि को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है तथा सभी रसों का सोदाहरण मार्मिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने इस ग्रन्थ में नवीन ढंग से नायिका भेद भी उपस्थित किया है। आपने नायिकाओं के भेद पहले तो परम्परा के अनुसार ही किए हैं परन्तु उत्तम स्वभाव वाली नायिका के जो भेद किए हैं वे सर्वथा नूतन एवं आधुनिक युग के अनुकूल हैं। यहाँ कवि ने उत्तमा नायिका के आठ भेद किए हैं—(१) पतिप्रेमिका (२) परिवार प्रेमिका (३) जाति-प्रेमिका (४) देशप्रेमिका (५) जन्मभूमि प्रेमिका (६) निजता अनुरागिनी (७) लोकसेविका और (८) धर्मप्रेमिका। ऐसे भेद किसी भी रीति-ग्रन्थ में नहीं मिलते। यह वर्गीकरण करके उक्त नायिकाओं के स्वभाव, चेष्टा, व्यापार कार्य प्रणाली आदि का भी अत्यन्त सजीवता के साथ निरूपण किया है।[2] इसके साथ ही कवि ने अपने इस ग्रन्थ में नायक निर्वाचन के अन्तर्गत

---

१ थी कभी चमकी जहाँ पर चाँदनी देख पड़ती है घटा काली वहीं।
धूल सिर! तुम पर गिरी तो क्या हुआ, फूल चन्दन ही सदा चढ़ते नहीं॥
—बोलचाल, पृष्ठ १७

२ 'पति प्रेमिका' का वर्णन इस तरह किया है —
सेवा ही में सास औ ससुर की सदैव रहै,
सौतिन सों नाँहि सपने हू में लरति है।
सील सुघराई त्यों सनेह भरी सोहति है
रोस, रिस, रारि और क्यों हूँ ना करति है।
"हरिऔध" सकल गुनागरी सती समान
सूधे-सूधे भायन सवानप तरति है।
परम पुनीत पति प्रीति में पगी रहै,
प्रान धन प्यारे पै निछावरि करति है।

भी नवीनता दिखाई है, क्योंकि जिस तरह आपने नवीन-नवीन नायिकाओं की उद्भावना की है, उसी तरह कुछ नये-नये नायकों की भी गणना की है। जैसे कर्मवीर, धर्मवीर, महंत, नेता, साधू आदि। इनके स्वभाव, आचरण, क्रिया-कलाप आदि का भी अत्यन्त सफलता के साथ वर्णन किया है। कवि के इस ग्रन्थ में प्रकृति-चित्रण भी बड़ा ही सजीव एवं चित्ताकर्षक है। होली के वर्णन में कवि की सूक्ष्म निरीक्षणता सर्वथा प्रशंसनीय है। रचना-शैली अपेक्षाकृत उत्कृष्ट एवं चमत्कार पूर्ण है। अलंकारों का अत्यन्त सफलता के साथ प्रयोग किया गया है तथा ब्रज भाषा का बड़ा ही परिष्कृत एवं प्रांजल रूप अपनाया गया है। कवि का यह ग्रंथ सरसतागत, शालीनता एवं कवि-कुशलता की दृष्टि से सर्वथा प्रशंसनीय है। छन्द परम्परा ही है, परन्तु भाव, विचार एवं वर्णन की दृष्टि से इस ग्रंथ में नवीनता के दर्शन होते हैं।

तदनन्तर सन् १९२५ ई० में हरिऔध जी का एक और ग्रंथ बोलचाल की भाषा में ही "फूल पत्ते" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसे "बोलचाल के कुछ अनूठे बेलबूटे" नाम भी दिया गया है। क्रमानुसार बोलचाल की भाषा में लिखा हुआ कवि का यह चतुर्थ ग्रंथ है। इसके अन्तर्गत आई हुई समस्त कविताओं को कवि ने १३ भागों में विभक्त करके रखा है—(१) भेद भरी बातें, (२) दिल के फफोले, (३) पते की बातें, (४) आँसू पर आँसू, (५) प्रेमी पखेरू, (६) देखभाल, (७) अपने अरमान, (८) चटपटी बातें, (९) मातम, (१०) लानतान (११) दुखियों के दुखड़े, (१२) बेतुकी बातें, और (१३) होली का हौआ। इस ग्रंथ में भी कवि ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों एवं कुप्रवृत्तियों का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। साथ ही समाज सुधार की प्रेरणा भी पर्याप्त मात्रा में दी गई है।[1] रचना-शैली अन्य बोलचाल के ग्रंथ के अनुकूल ही व्यंग्य प्रधान है। इस ग्रंथ की भूमिका बड़ी मार्मिक एवं महत्वपूर्ण है। उसमें कवि ने बोलचाल की भाषा में की हुई कविता के महत्व पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार किया है।

---

[1] क्या होगया, समय क्यों, ये ढंग रंग लाया।
क्यों घर उजड़ रहा है, मेरा बसा बसाया॥
सुन्दर सजे फबीले, ये फूल, जिस जगह पर।
अब किस लिए—वहाँ-पर-काँटा गया बिछाया॥

-फूलपत्ते, पृ० १३।

इसके दो वर्ष पश्चात् १९३७ ई० मे आपका 'पद्यप्रसून" नामक कविता ग्रथ प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे हरिग्रौध जी की समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओं मे प्रकाशित खडीबोली की कविताएँ सकलित की गई हैं। इस ग्रथ की कविताओं को भी ८ खण्डो म विभक्त करके प्रकाशित किया गया है—(१) पावन प्रसून (२) जीवन-स्रोत (३) सुशिक्षा सोपान, (४) जीवनीधारा, (५) जातीयता-ज्योति (६) विविध विषय, (७) दिव्य दोह, और (८) बाल-विलास। इन कविताओं मे भी हरिग्रौध जी ने तत्कालीन समाज पर छींटे कसे हैं तथा मानवीय दुर्बलताओं एव दुराचारो की ओर सकेत करते हुए समाज को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है। सारी कवितायें यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। सामाजिक कुरीतियो एव धार्मिक ढकोसलो का अच्छी तरह पर्दाफाश किया गया है तथा जातीय-जीवन की ज्योति जाग्रत करने का स्तुत्य प्रयत्न मिलता है। अन्तिम 'बाल-विलास' खण्ड मे बालकों के नैतिक स्तर को समुन्नत बनाने वाली कविताएँ सकलित की गई हैं। इस ग्रथ की सभी कविताएँ भेद-भाव, छूआछूत ऊँच-नीच आदि की बुरी भावनाओं को दूर करके सम्पूर्ण समाज मे एकता, अनुराग, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता, ईश्वर-प्रेम, विश्वबधुत्व आदि की भावनायें जाग्रत करने के लिए लिखी गई हैं।[1] रचना-शैली सरल, किन्तु ओजपूर्ण है। सर्वत्र बोलचाल के अनुकूल क्लिष्टता-हीन खडी बोली का प्रयोग मिलता है।

इसी वर्ष १९३७ ई० मे हरिग्रौध जी का दूसरा कविता-सग्रह "कल्पलता" के नाम से लखनऊ से प्रकाशित हुआ। यह सग्रह २० खण्डो मे विभक्त है—(१) विभुता-विभूति, (२) लोकरहस्य, (३) अन्तर्नाद, (४) जातीय सगीत (५) मत्र साधना, (६) प्रकृति-प्रमोद, (७) सूक्ति-समुच्चय, (८) कमनीय कामना, (९) नीति-निचय (१०) मर्मवेध, (११) मर्मस्पर्श, (१२) सजीवन रस, (१३) जीवन-सग्राम, (१४) विविध

१—खोजे खोजी को मिला क्या हिन्दू क्या जैन।
पत्ता पत्ता क्या हमें पता बताता है न॥
रग रग में जब रहे सकें रग क्यों भूल।
देख उसी की फबन सब फूल रहे हैं फूल॥
आय भगत उसका करें, पूजें पाँव सचाव।
सबसे ऊँचा जो रहा रख कर ऊचा भाव॥

—पद्यप्रसून, पृ० ३।

रत्नावली, (१५) विजयिनी विजय, (१६) दीपमालिका दीप्ति, (१७) फागराग, (१८) बाल-विलास, (१९) काम के कवित्त, और (२०) व्रज-भाषा के पद। इन खण्डों से ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि का यह कविता-संग्रह कितनी विविधताओं से भरा हुआ है। इस संग्रह में भी हरिऔध जी की वे ही सब कवितायें हैं, जिनमें उन्होंने सामाजिक, धार्मिक एवं नैतिक जीवन में व्याप्त कुप्रवृत्तियों, कुरीतियों एवं कुचालकों का भंडाफोड़ किया है। यहाँ भी सभी कवितायें कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं तथा वे कबीर की भाँति स्पष्टवादी होकर समाज सुधारक के पद पर आसीन दिखाई देते हैं। इन कविताओं में तत्कालीन समाज की दुर्बलताओं के अति-रिक्त समसामयिक मस्ती, उत्सवप्रियता, आनन्द-उल्लास आदि की सजीव झाँकी भी मिल जाती है। अंतिम खंड को छोड़ कर सभी कविताएं सरल तथा सुबोध खड़ी बोली में हैं। अन्तिम खंड सरस एवं परम्परागत व्रजभाषा में लिखा गया है। रचना-शैली अत्यन्त प्रौढ़ एवं सशक्त है। गीत अत्यन्त मनोहर हैं तथा प्रकृति-चित्रण अतीव चित्ताकर्षक है।

इसी वर्ष दिसम्बर १९३७ ई० में हरिऔध जी का वृहत् काव्यग्रन्थ "पारिजात" समाप्त हो गया। इसे कवि ने 'महाकाव्य' बतलाया है। यह १५ सर्गों में लिखा गया है। विशालता की दृष्टि से तो यह एक महान् काव्य है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसे महाकाव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें न तो प्रबंधात्मकता है, न चरित्र-चित्रण है और न संधिविधान है। केवल कुछ सर्गों के शीर्षकों के रूप में दृश्यजगत्, अन्तर्जगत्, सांसारिकता, स्वर्ग, कर्म-विपाक, प्रलय प्रपंच, सत्य का स्वरूप, परमानन्द आदि का विवेचन किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मुक्तक काव्य की कोटि में आता है। इस काव्य का सम्पूर्ण विषय आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक है। इसमें कवि ने ईश्वर की अगम्य महिमा, स्वर्ग-नरक की कल्पना, संसार की प्रपंचता, अवतारों का रहस्य, दर्शन की गहनता, धर्म का वास्तविक स्वरूप आदि विषयों को अत्यन्त गंभीरता के साथ व्यक्त किया है। सम्पूर्ण काव्य कवि की गहन अनुभूति, प्रौढ़ विचार, परिपक्व बुद्धि एवं आध्यात्मिक प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। यहाँ कवि के दार्शनिक विचार अत्यन्त ओजस्विनी शैली में व्यक्त हुए हैं।[१] 'दिव्य दशा-

---

१—दिव्या भूति अचिन्तनीय कृति की ब्रह्माण्ड-माला-मयी,
तन्मात्रा जननी ममत्व-प्रतिमा माता महत्तत्व की।
सारी सिद्धिमयी विभूति-भरिता संसार संचालिका,
सत्ता है विभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका॥
पारिजात, पृ० ३४।

मूर्ति' नामक कविता मे कवि ने अवतारो की नवीन ढग से व्याख्या की है। यहाँ कच्छ, मच्छ, वाराह, परशुराम आदि के स्थान पर राममोहन राय, रामकृष्ण परमहस, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानद सरस्वती, गोविन्द रानाडे, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय और मोहनदास करमचन्द गान्धी का नवीन दशक पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के गूढ एव मनोरथ दृश्यो का चित्रण भी अत्यन्त सजीव एव चित्ताकर्षक है। प्रकृति को सचेतन मानकर उसकी सजीव कल्पना की गई है।[1] इस तरह कवि ने अपने इस बृहत्काय काव्य मे आधुनिक युग के अनुकूल विचारो का व्यक्त करके जनता के अधविश्वास, रूढ़िवादिता, धर्मांधता, पौराणिक अज्ञान आदि को दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। रचना-शैली प्रौढ़ एव सशक्त है। सर्वत्र ओजगुण की प्रधानता है। आध्यात्मिक एव आधिभौतिक विचारो की गहनता के कारण दार्शनिकता के दर्शन अधिक होते हैं और सरसता अपेक्षाकृत कम है। अलकारो का भावानुकूल प्रयोग हुआ है। भाषा कही सरल और कही क्लिष्ट सस्कृतमयी है। यहाँ मात्रिक और वार्णिक दोनो प्रकार के छन्द अपनाये गये हैं।

इसके उपरान्त १६३८ ई० मे हरिऔध जी की "ग्राम गीत" नामक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता सग्रह मे ग्रामीण जनो के हितार्थ लिखी हुई कवितायें सकलित हैं। हरिऔध जी ने ग्रामीणजनो के लिए कितनी ही कवितायें लिखी थी, जिनमे गाव का जीवन, सफाई, सच्ची साध, सेवा भावना, देश प्रेम आदि का निरूपण करते हुए ग्रामीणजनो मे फैले हुए अधविश्वास, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, भेद-भाव, स्वार्थ, दभ, छल-कपट आदि को दूर करने का प्रयत्न किया था। उन सभी कविताओ को इस सग्रह मे सगृहीत किया गया है। कवि ने इस ग्रथ मे ग्राम्य जीवन को सुखद एव सुन्दर बनाकर ग्रामवासियो के उज्ज्वल भविष्य की मगल कामना की है।[1] सम्पूर्ण सग्रह

१—प्रकृति वधू ने असित बसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना।।
उस का नव अनुराग नील नभतल पर छाया।
हुई रागमय दिशा, निशा ने बदन छिपाया।।
—पारिजात, पृ० ५४।

२—सारे दिन ऐसे ही आवें।
फूले फलें रहें सब पौधे पक्षी मीठा गान सुनावें।

मुक्तक गीतों एवं घनाक्षरी पदों में लिखा गया है। रचना-शैली सरल एवं सरस है। भाषा अत्यन्त सुबोध एवं तद्भव शब्द प्रधान है। उपयोगिता की दृष्टि से यह संग्रह ग्रामीण जनों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है।

इसके एक वर्ष पश्चात् १९३९ ई० में कवि का "बाल-कवितावली" नामक कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में बालकों को नैतिक शिक्षा देने के लिए कवि ने कितनी ही कवितायें लिखी हैं और यह समझाया है कि बालकों को अपने माता-पिता, गुरुजन, शिक्षक, साथी, सहपाठी आदि के साथ किस तरह वर्त्ताव करना चाहिए, प्रातः उठ कर उन्हें क्या-क्या कार्य करने चाहिए, और कैसे अपना जीवन उन्नत बनाना चाहिए। यह संग्रह बच्चों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। रचना-शैली भी अत्यन्त सरल, सरस और सुबोध है। बच्चों की दृष्टि से ही सारी कवितायें लिखी गई हैं। जिसमें कहीं शिक्षाप्रद गीत हैं, तो कहीं सुखद लोरियाँ हैं।[1] कहीं जानवरों की बोलियाँ हैं, तो कहीं बंदर, तितली, कोयल आदि के सजीव वर्णन हैं। यहाँ कवि ने बाल मनोविज्ञान के आधार पर ही सभी कवितायें रची हैं। ये सभी कवितायें बाल-साहित्य का श्रीगणेश करने वाली हैं और हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि हैं।

तदनन्तर १९४१ ई० में हरिऔध जी का तीसरा प्रसिद्ध महाकाव्य "वैदेही-वनवास" प्रकाशित हुआ। यह १८ सर्गों का महाकाव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा सीता के लोक हितैषी एवं लोक-संग्रह-शील-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस महाकाव्य के लिखने से पूर्व 'प्रिय-प्रवास' को देखकर आलोचकों ने हरीऔध जी के सामने दो बातें रखी थीं, प्रथम तो यह कि आपकी रचना संस्कृत शब्दावली से अधिक ओत-प्रोत है। दूसरे आपके काव्य में प्रकृति-चित्रण की विविधता के दर्शन नहीं होते। महाकवि हरीऔध

प्यारी हवा रहे बहती ही, मेघ समय पर जल बरसावें।
रहें खेत सिंचते लहराते, भरे उमंग किसान दिखावें।
—ग्रामगीत, पृ० ८।

१—उठो लाल आँखों को खोलो। पानी लाई हूँ मुख धोलो॥
बीती रात कमल सब फूले। उनके ऊपर भौंरे भूले॥
नभ में न्यारी लाली छाई। धरती ने प्यारी छवि पाई॥
ऐसा सुन्दर समय न खोवो। मेरे प्यारे अब मत सोवो॥
—बाल कवितावली पृ० ५७।

ने उक्त दोनों अभावों की पूर्ति करते हुए सरल एवं सरस खड़ी बोली में प्रकृति की विविध मनोरम झाँकियों से युक्त महारानी सीता एवं पुरुषोत्तम राम के पावन चरित्रों का चित्रण करने के लिए इस 'वैदेही वनवास' की रचना की। यह ग्रंथ भी पौराणिक है। सारी कथा राम के लोकानुरंजनकारी इति वृत्त को लेकर चली है[1] तथा इसमें कवि ने आध्यात्मिक विचारों का भी सुन्दर निरूपण किया है। यहाँ भी 'प्रिय प्रवास' की भाँति अधिकांश घटनायें घटित होती हुई न दिखाकर वर्णित ही हैं तथा राम को अवतारी पुरुष न दिखाकर एक साधारण मानव के रूप में चित्रित किया गया है। अन्य ग्रंथों की अपेक्षा यहाँ विशेषता यह है कि यहाँ राम तथा सीता का सारा जीवन नियति के हाथों से संचालित होता हुआ ही दिखाया गया है। प्रकृति-चित्रण अत्यंत भव्य एवं मनोमोहक है।[2] रचना शैली बड़ी अनूठी, सरस एवं सुबोध है। भाषा तद्भव शब्द प्रधान खड़ी बोली है जो सर्वत्र भावानुकूल है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी बड़ी ही सजीवता के साथ प्रयुक्त हुए हैं, आधुनिक अलंकार जैसे मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यंजना, विशेषण विपर्यय आदि भी यत्र तत्र मिल जाते हैं। सर्वत्र रोला, दोहा, चतुष्पद, त्रिलोकी, ताटंक पादाकुलक, सखी आदि मात्रिक छन्दों को अपनाया गया है। सम्पूर्ण काव्य प्रसाद, माधुर्य एवं ओज से परिपूर्ण है तथा इसमें उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है।

तदनन्तर ६ वर्ष उपरान्त हरिऔध जी के समस्त दोहों का संकलन "हरिऔध सतसई" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम संस्करण १६४७ ई० में निकला था और द्वितीय संस्करण १६५४ ई० में निकला। इस ग्रंथ में हरिऔध जी की दोहा छंद में लिखी हुई कविताओं को १७ शीर्षकों में विभक्त करके प्रकाशित किया गया है। वे शीर्षक इस प्रकार हैं—(१)

---

१ पहन कर लोकाराधन मंत्र, करूँगा मैं इसका प्रतिकार।
साधकर जनहित-साधन सूत्र, करूँगा घर-घर शान्ति-प्रसार।
वैदेही वनवास, तृतीय सर्ग, पृ० ५१

२ प्रकृति का नीलाम्बर उतरे,
श्वेत साड़ी उसने पाई।
हटा घन घूंघट शरदाभा,
विहँसती महि में थी आई॥

वैदेही वनवास, दशम सर्ग, पृ० १४४

विनीत विनय, (२) गुणगान, (३) गुरु गौरव, (४) माता-पिता-महत्व, (५) शिख नख, (६) नीति, (७) कुसुम क्यारी, (८) मत्तमिलिन्द, (९) कान्त कामना, (१०) विविध, (११) वरवधू, (१२) प्रकीर्णक, (१३) अकान्त करतूत, (१४) विश्व प्रपंच, (१५) महाभारत, (१६) भारतभूमि और (१७) कविकीर्ति। हरिऔध जी का यह ग्रंथ सतसई की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसमें नीति एवं उपदेश की प्रधानता है। किन्तु भगवद्भक्ति, वात्सल्य भाव, शृंगार, वीर भावना, प्राकृतिक शोभा आदि पर भी अनेक दोहे लिखे गये हैं। दोहा छंद में कवि ने अपने नैतिक दृष्टिकोण को बड़ी सरसता के साथ व्यक्त किया है।[1] इस ग्रंथ में समास पद्धति का प्रयोग करते हुए अर्थ गांभीर्य एवं उक्ति वैचित्र्य का पर्याप्त पुट दिया गया है। रचना-शैली में विहारी आदि सतसईकारों का ही अनुसरण किया गया है, परन्तु बिहारी जैसी गंभीरता, श्लिष्ट पदावली एवं संक्षिप्तता का यहाँ सर्वथा अभाव है। वैसे कथन-प्रणाली में पर्याप्त जोश एवं धारावाहिकता विद्यमान है। भाषा शुद्ध मुहावरेदार खड़ी बोली है, जिसमें यत्र-तत्र लाक्षणिकता एवं अलंकार प्रियता के भी दर्शन हो जाते हैं।

इसके उपरान्त १९५६ ई० में हरिऔध जी की कुछ अप्रकाशित कविताओं का अन्तिम संग्रह "मर्मस्पर्श" के नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कुछ कवितायें तो पुरानी ही हैं और कुछ कवितायें नवीन तो है, जब कि उन्हें प्राचीन शीर्षकों में ही प्रकाशित किया गया है। यह हरिऔध जी की अन्तिम काव्य-कृति है। इसमें २०७ कवितायें हैं, जो विभिन्न विषयों पर लिखी गई हैं। इनमें से गुणगान, ससार संसार, सबल माया, नाम महिमा, भक्ति भावना, विभुवर, विभु विभूति आदि आध्यात्मिक हैं, वारिद-वैचित्र्य, शारद सुषमा, शरद-शोभा, वसंत-सुषमा, रजनी-रंजन, गगनतल आदि प्रकृति-चित्रण से सम्बन्धित हैं और उपदेश, सत्पथ, दिव्य दोहे, दोहे, सत्य-संदेश, चेतावनी आदि नैतिकता एवं उपदेशात्मकता से भरी हुई हैं। इसी तरह होली और देश-दशा, दिल के फफोले, तान-तान, अछूते छींटे, कच्चा चिट्ठा, मतलबी दुनिया, वज्रपात

---

१. अत्याचारी हैं किया, करते अत्याचार।
दुर्बल पर है सबल का, होता सदा प्रहार॥
अनुचित करते हैं नहीं, डरते प्राय: नीच।
वे उछालते ही रहे, नित औरों पर कीच॥
—हरिऔध सतसई, पृ० ६६

आदि कविताओं में समाज का कच्चा चिट्ठा दिया गया है। साथ ही गौ, हिन्दी, भारत देश, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आदि समय-समय पर लिखी हुई कवितायें इस संग्रह में संकलित की गई हैं। विविधता ही इस ग्रंथ की विशेषता है। इसमें लौकिक पारलौकिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, नैतिक, सामाजिक, प्राकृतिक आदि अनेक विषयों पर लिखी हुई कवितायें संगृहीत हैं। इस संग्रह में भी व्यंग्यपूर्ण शैली का प्रयोग करते हुए कवि ने सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है।[1] रचना-शैली सजीव एवं सरस है। सर्वत्र बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग हुआ है। छन्दों की विविधता भी इस संग्रह की विशेषता है। इसमें सभी प्रकार के नवीन और प्राचीन छन्द अपनाये गये हैं। प्रकृति की झाँकियाँ अत्यन्त मनोरम हैं।[2] नवीन और प्राचीन सभी प्रकार के अलंकारों का प्रयोग किया गया है। और सभी रचनायें कवि की प्रौढ़ अनुभूति एवं गहन अभिव्यंजना शैली की परिचायिका हैं।

सारांश यह है कि महाकवि हरिऔध ने ब्रज-भाषा और खड़ी बोली में विविध रचनायें प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य के अभावों की पूर्ति की। क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा लिख कर भाषा-प्रयोग के मार्ग को प्रशस्त किया और आगामी कवियों के लिए पथ प्रदर्शन करते हुए यह बतलाया कि उन्हें जो मार्ग उचित जान पड़े उसका अवलम्बन कर सकते हैं। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपने खड़ी बोली में जिसमें सजीव एवं मुहावरेदार कविता का अभाव था और उसकी खड़खड़ाहट के कारण ब्रज-भाषा की ओर ही हिन्दी के कवियों की जो रुचि बनी हुई थी, उन सभी बातों को दूर करके पहले खड़ी बोली में सजीवता उत्पन्न करते हुए मुहावरेदार कविताओं से उसके अभाव की पूर्ति की और फिर सरस कवितायें प्रस्तुत

१. आगई हो तो होंगे क्यों न, आज आरंजित कितने ओक।
किंतु होली में आँखें खोल, तनिक तो देश दशा अवलोक॥

—मर्मस्पर्श, पृ० ७२

२ प्रकृति का असिताम्बर उतरा,
नीलिमा नभतल की विलसी।
दिव हँसे दिव्य बने तारे,
शशिमुखी शारदामा विकसी॥

—मर्मस्पर्श, पृ० ४२

करके जन-रुचि को भी खड़ी बोली की ओर आकृष्ट किया। भाषा पर आपका अपूर्व अधिकार था। संस्कृत-वृत्त लिखने में आप अद्वितीय थे और मुहावरों के प्रयोग में आप सिद्धहस्त थे। आपकी प्रखर-प्रतिभा से प्रभावित होकर ही निराला जी ने आपको "सार्वभौम कवि" कहा था और पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने आपको "खड़ी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कविसम्राट, ठेठ-हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ" बतलाया था। आपकी रचनायें स्वदेश-प्रेम, समाज-सुधार, साहित्य-सेवा एवं मानवतावाद से अत्यधिक परिपूर्ण हैं। आपका अधिकांश जीवन हिन्दी के अभावों की पूर्ति में ही व्यतीत हुआ। आप ही आधुनिक खड़ी बोली के सर्वप्रथम महाकाव्य लिखने वाले महाकवि हैं। आपने ही सर्वप्रथम बालोपयोगी साहित्य की रचना की है और आपने ही सर्वप्रथम हिन्दी की मुहावरेदार भाषा में सरल और सरस कवितायें लिखी हैं। यद्यपि आपकी रचनायें अभिधा प्रधान हैं, उनमें लाक्षणिकता, सरसता एवं उक्ति वैचित्र्य की अधिकता नहीं है, तथापि उनमें जितना ओज, व्यंग्य एवं भाव-प्रेषणीयता का गुण है, उतना अन्यत्र किसी भी हिन्दी के कवि में नहीं दिखाई देता। आपकी सभी कवितायें जिंदादिली, ईमानदारी, सच्ची लगन एवं अटूट साधना से ओतप्रोत हैं तथा उनमें हमें भक्ति काल की भावना, रीति काल की रचना शैली और आधुनिक युग की परवर्तित विचारधारा के सम्यक दर्शन होते हैं। निस्संदेह आपकी कवितायें तत्कालीन समाज का उज्ज्वल दर्पण हैं।

प्रियप्रवास की प्रेरणा के स्रोत

सामाजिक स्थिति—जिस युग में हरिऔध जी ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय भारत में सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं का बोलबाला था, क्योंकि उस समय जनता भेद-भाव, छूआ-छूत, धार्मिक संकीर्णता, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ, सामाजिक अत्याचार, मर्यादा-उल्लंघन, अशिक्षा आदि का बुरी तरह से शिकार बनी हुई थी। उस काल तक भारत का सम्बन्ध विदेशों से भी अच्छी तरह स्थापित होगया था। अतः यहाँ पर अनेक सामाजिक सुधार का कार्य करने वाली संस्थायें स्थापित हुईं। जिनमें से ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, राम-कृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज आदि प्रमुख हैं। ब्रह्म समाज ने ईसाई मत के अनुसार सामूहिक प्रार्थना, संगीत, उपदेश आदि पर जोर दिया, मूर्तिपूजा को निषिद्ध ठहराया और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने के लिए आग्रह किया। इसके अतिरिक्त इसमें

स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, रात्रि-पाठशालायें, अन्तर्जातीय विवाह अकाल पीड़ितो की सहायता आदि सेवा कार्यों को महत्व देते हुए पारस्परिक भेदभाव, ऊँच नीच, छुआछूत आदि को मिटाकर विश्वबधुत्व की भावना को भरने का प्रयत्न किया गया।

आर्य समाज ने भी भारतीय हिन्दू समाज म नवीन क्रान्ति उत्पन्न की। इसम वेदो की विशेष ढग स व्याख्या करत हुए हिन्दू समाज को पुन वेदानुकूल आचरण करने के लिए आग्रह किया गया और हिन्दू समाज मे व्याप्त रूढिगत कुरीतिया, बाल-विवाह, बहुविवाह, सतीप्रथा, अस्पृश्यता, पर्दा, बाल-हत्या, मूर्तिपूजा, आदि का विरोध करक वेदानुसार धार्मिक अनुष्ठानो के मनाने, स्त्री-स्वातन्त्र्य, अस्पृश्यता-निवारण हिन्दी-सस्कृत के माध्यम से शिक्षा-प्रचार, स्त्री-शिक्षा आदि पर अत्यधिक जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त जो हिन्दू ईसाई या मुसलमान हो गय थे, उन्ह शुद्ध करक पुन हिन्दू धर्म मे लाने का प्रयत्न किया गया।

भारतीय समाज मे नवचेतना जाग्रत करने वाली सस्थाओं मे "थियोस-फीकल सोसाइटी" का भी बडा महत्व है। थियोसफी का आन्दोलन सर्वप्रथम सन् १८७५ ई० मे न्यूयार्क के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। इसका सर्वप्रथम आरम्भ मैडम ब्लेवेटस्की तथा कर्नल एच० एस० ओलकोट ने किया था। सन् १८८६ ई० मे मैडम ब्लेवेटस्की भारत मे पधारी और श्रीमती एनीबेसेंट उनके सम्पर्क मे आईं। तदनन्तर श्रीमती एनीबेसेंट ने ही भारत मे थियोसफी का आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस सोसाइटी के अनुयायियो का मत है कि समस्त धर्मों का मूल उद्गम एक ही है। यहाँ प्रत्येक धर्म को महत्व दिया जाता है तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना जाग्रत की जाती है। इस सोसाइटी ने भी जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि का भेदभाव मिटाकर विश्वबधुत्व की भावना का प्रचार किया और विशुद्ध मानव प्रेम, ईश्वर मे अटूट विश्वास, सर्व-धर्म-समन्वय आदि पर जोर दिया था।

भारत मे सामाजिक पुनरुत्थान-कार्य म 'रामकृष्ण मिशन' का भी पर्याप्त सहयोग रहा है। यह मिशन स्वामी रामकृष्ण परमहंस की मृत्यु के १० वर्ष उपरान्त उनके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९६ ई० में स्थापित किया। आज इसकी शाखायें सम्पूर्ण विश्व में फैली हुई हैं। इन शाखाओं मे ऐसे त्यागी-तपस्वी सन्यासी तैयार किए जाते हैं, जो आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मानव-मात्र की सेवा में तत्पर रहते हैं। साधारणतया इस

मिशन ने शिक्षा, धर्म-प्रचार, समाज-सेवा तथा अन्य लोकोपकारी कार्यों की प्रेरणा समाज में उत्पन्न की है। आज भी भारत में कितने ही अस्पताल, अनाथालय, शिक्षालय आदि इसी मिशन द्वारा चल रहे हैं। अतः प्राचीनता एवं नवीनता का समन्वय करके इस मिशन ने उस समय धार्मिक विश्वास, आध्यात्मिकता, लोकसेवा, मानव-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता आदि के जाग्रत करने में बड़ा ही सराहनीय कार्य किया था।[१]

ब्रह्म-समाज की भाँति महाराष्ट्र में सामाजिक पुनरुत्थान के लिए "प्रार्थना-समाज" की स्थापना हुई। इसका प्रारम्भ सन् १८६७ ई० में महादेव गोविंद रानाडे ने किया था। इस समाज ने भी एक ईश्वर की उपासना एवं सामाजिक सुधार का आदर्श जनता के सम्मुख रखा तथा संत नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि से प्रेरणा लेते हुए अछूत-उद्धार, शिक्षा-प्रचार, विधवा-विवाह, स्त्री-पुरुष की समानता, अन्तर्जातीय विवाह, अनाथालयों की स्थापना आदि कार्य किये और जनता में पारस्परिक सौहार्द्र, सेवा-भावना, सामाजिक एकता आदि का प्रचार किया था।[२]

इन सामाजिक संस्थाओं के अतिरिक्त स्वामी रामतीर्थ ने भी २४ वर्ष की ही अवस्था में संन्यास ग्रहण करके देश-विदेश में भ्रमण करते हुए सत्य, ज्ञान, सच्चरित्र, स्वार्थ भावना का परित्याग, समानता, एक ईश्वर में विश्वास आदि का प्रचार किया था। इतना ही नहीं अंग्रेजों ने भी सामाजिक सुधार के कुछ प्रयत्न किये थे। जैसे उन्होंने कानून बनाकर जन्मजात लड़की को मारने पर प्रतिबंध लगाया था, सती प्रथा को रोका था, और बाल-विवाह पर प्रतिबंध लगाया था। अंग्रेजों ने छूआछूत, ऊँच नीच, परदा-प्रथा आदि का निवारण करके स्त्री-शिक्षा, स्त्री-पुरुष समानता, अछूतों को भी मत देने का अधिकार, सामाजिक एकता आदि के प्रयत्न किये थे। इन्ही सामाजिक प्रवृत्तियों के कारण उस समय देश में सर्वत्र सामाजिक सुधार, मानव-प्रेम, विश्व-बंधुत्व, लोकोपकार, एक ईश्वर में विश्वास, नारी-सुधार, लोक-सेवा, धार्मिक सहिष्णुता, भेद-भाव का परित्याग आदि का वातावरण फैल गया था, जिससे प्रेरित होकर तत्कालीन कवियों ने ऐसे ही काव्यों की रचना की, जिनमें उक्त भावनाओं का प्राधान्य दिखाई देता है।

---

१. इण्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज, पृ० ३६२।
२. वही, पृ० ३६४।

राजनीतिक स्थिति—सन् १८५७ के उपरान्त सारे भारत मे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए एक उत्कृष्ट अभिलाषा जाग्रत हो गई थी। सम्पूर्ण देश मे ब्रिटिश शासन के प्रति एक आन्तरिक द्वेष एव विद्रोह की भावना घर कर गई थी। यद्यपि कम्पनी का राज्य समाप्त करके महारानी विक्टोरिया ने यहाँ की जनता को बडे सुख-स्वप्न दिखलाये थे, फिर भी जनता अग्रेजो के शासन से बराबर पिसती चली जा रही थी। इसी कारण जनता की ओर से सन् १८८५ मे काग्रेस की स्थापना हुई। इसकी स्थापना पहले तो ब्रिटिश राज्य और जनता मे परस्पर स्नेह स्थापित करने के लिए तथा शासको को उनके शासन मे त्रुटि बतलाकर शासक एव शासित के मध्य फैले हुए वैमनस्य को दूर करने के लिए हुई थी। परन्तु १८८६ ई० मे सरकार ने 'इन्कम टैक्स' ऐक्ट बनाया और काग्रेस ने उसका तीव्र विरोध किया, जिससे सरकार काग्रेस को सदेह की दृष्टि से देखने लगी। उसके अधिवेशनो में बाधा डालने लगी और सरकारी नौकरो को उसमे सम्मिलित होने से रोका जाने लगा। तदुपरान्त बग-भग के समय सारे देश मे क्रान्ति की लहर दौड गई। उस समय काग्रेस के प्रयत्न से विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार एव स्वदेशी वस्तुओ का प्रचार प्रारम्भ हुआ। इस क्रान्तिपूर्ण आन्दोलन मे बाबू विपनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष, लोकमान्य तिलक आदि ने भाग लिया। १६०८ ई०मे तिलक को गिरफ्तार कर लिया गया। इससे जनता मे और भी उत्तेजना फैल गई और सारा देश ब्रिटिश शासन के विरुद्ध हो गया।[१] १६१४ ई० के युद्ध मे सरकार ने देश मे सहायता मागी और आश्वासन दिया कि हम काग्रेस की स्व-शासन की माँग को स्वीकार कर लेंगे, परन्तु विजय के उपरान्त उस माग पर कोई ध्यान नही दिया गया। उस समय गाधी जी काग्रेस मे आ गये थे। विश्व युद्ध की समाप्ति पर १६१६ ई० मे रौलट बिल पास हुआ, जिसके विरोध मे सारे देश के अन्तर्गत हडतालें हुई और जुलूस निकाले गये। दिल्ली मे जुलूस पर गोलियाँ चलाई गईं। इसी समय महात्मा गाधी को गिरफ्तार किया गया और जलियाँ वाले बाग की भयकर घटना हुई।[२]

गाधीजी ने भारतीय राजनीतिक जीवन मे नवीन विचारो का समावेश किया था उन्होने सत्य, अहिंसा, सेवा, विश्वस्त वृत्ति (ट्रस्टीशिप), ग्रामसुधार एव सर्वोदय की भावना द्वारा रामराज्य का प्रचार किया था।

---

१. काग्रेस का इतिहास, पृ० ६४–६६।

२. वही, पृ० १३३।

उनकी रामराज्य सम्बन्धी कल्पना यह थी कि सम्पूर्ण देश में ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे सभी व्यक्तियों को स्वास्थ्यवर्द्धक भोजन, स्थान, जल आदि मिलें। उनके लिए पर्याप्त वस्त्र, शिक्षा, मनोरंजन, न्याय आदि की सुविधायें हों। खेती, गाय, बैल आदि की उन्नति हो और सर्वत्र सहयोग और समानता की भावना का प्रचार हो।[1] गांधी जी ने हरिजन-सुधार पर जोर दिया। सभी धर्मों के प्रति श्रद्धा रखते हुए अपने-अपने मतानुसार ईश्वरोपासना को महत्वपूर्ण बतलाया। साथ ही उन्होंने जीवन के सभी उच्च आदर्शों का समन्वय करके उन्हें व्यापक एवं सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया था।

इस तरह हरिऔध जी के समय में राजनीतिक क्षेत्र में भी पर्याप्त जागृति थी। अंग्रेजों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रही थी और अंग्रेजों की दमन-नीति का अत्यन्त साहस, दृढ़ता, शान्ति एवं संयम द्वारा सामना कर रही थी। सम्पूर्ण देश स्वतन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत था और आन्दोलन में भाग लेकर अंग्रेजी शासन से मुक्त होने के लिए क्रान्ति मचा रहा था। स्वदेश-प्रेम एवं विदेशी वस्तु के बहिष्कार की भावना सारे समाज में फैल गई थी। इसी कारण तत्कालीन साहित्य में स्वदेश-प्रेम एवं स्वतन्त्रता के गीत पर्याप्त मात्रा में गाये गये हैं और कवियों ने देशवासियों को सचेत एवं सावधान करके तत्कालीन आन्दोलन को सफल बनाने की प्रेरणा प्रदान की है।

धार्मिक स्थिति—हरिऔध जी के युग में हिन्दू समाज के अन्तर्गत धर्मान्धता की प्रबलता थी। हिन्दू समाज अपनी धार्मिक मनोवृत्ति के कारण मूर्ति पूजा, अंधविश्वास, रूढ़िवाद एवं देवी-देवताओं में अटूट श्रद्धा-भक्ति रखता हुआ प्राचीनता का ही पुजारी बना हुआ था। नवीन दृष्टिकोण के लिए उसके हृदय में स्थान न था। उस समय वैष्णव मत की प्रधानता थी और अधिकांश व्यक्ति राम, कृष्ण, शिव, हनुमान, दुर्गा, आदि देवी-देवताओं की पूजा करते थे। विष्णु के विभिन्न अवतारों की कथायें उनके रग-रग में व्याप्त थीं और विभिन्न देवी-देवताओं को उसी परमब्रह्म का स्वरूप माना जाता था। इस कट्टरता का एक कारण तो यह था कि मुसलमानों का सम्पर्क होने से अधिकांश हिन्दुओं को मुसलमान बना लिया गया था। इसलिए हिन्दू लोग अपनी जाति की सुरक्षा के लिए धार्मिक कट्टरता को छोड़ना नहीं चाहते थे दूसरी ओर ईसाई लोग भी खुले आम अपने धर्म का प्रचार करते हुए यहाँ

---

१. गांधीवाद : समाजवाद, पृ० ४७–४६।

की जनता को ईसाई बना रहे थे। ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जाती थी, धर्म-पुस्तकें मुफ्त बाँटी जाती थी और नीच से नीच व्यक्ति को भी गले लगाकर उनके साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। हिन्दू धर्म मे वर्णाश्रम धर्म का पालन होने के कारण ऊँच-नीच, छोटा बडा आदि की भेदभरी भावनायें विद्यमान थी। इसलिए हिन्दू धर्म उस समय बडी भयकर स्थिति का सामना कर रहा था। अत उस युग म हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना हुई, जिसने पारस्परिक सौहार्द एव सद्भावना का प्रचार करते हुए नीच जाति के लोगो को भी गले लगाया, जो हिन्दू मुसलमान या ईसाई हो गय थे, उन्ह शुद्ध करके अपनी जाति म मिला लिया और हिन्दुओ मे फैली हुई नाना प्रकार की कुरीतियो को दूर किया। आर्य समाज ने वेदो के महत्व का प्रतिपादन करते हुए तत्कालीन धार्मिक आचार-विचार मे दोष दिखाये। मदिर, मठ एव मह-त-पुजारियो के यहाँ फैले हुए पापाचरण एव पाखडो से जनता को अवगत कराया और जनता मे एकता, सहानुभूति सगठन, सौहार्द, भ्रातृभाव एक ईश्वर मे विश्वास आदि का प्रचार किया। उधर स्वामी रामकृष्ण परमहस, विवेकानद तथा रामतीर्थ ने भी हिन्दू धर्म की सकीर्णता को दूर करके विश्व बनता, उदारता उच्च विचार आदि को अपनाने का आग्रह किया, हिन्दूधर्म को ससार मे सबसे महान् सिद्ध किया और विदेशो मे भी इस धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया। इन धार्मिक महात्माओ के सतत प्रयत्नो एव नवीन दृष्टिकोणो ने जनता मे नव चेतना का सचार किया, जिससे धार्मिक कट्टरता को अपनाने वाले व्यक्ति भी धर्मांधता को छोडकर ईश्वर की सर्वव्यापकता, प्राणिमात्र मे एकता विश्वबधुत्व आदि की भावनाओ को अपनाने लगे। जनता मे अवतारो के बारे मे भी नई धारणा घर करने लगी और अवतारो के पीछे जो अतिमानवतावादी विचार प्रचलित थे, उनके स्थान पर तर्क सम्मत एव बुद्धिग्राह्य विचार पनपने लगे। जैसे कृष्ण ने गोवर्द्धन को कैसे उँगली पर उठा लिया होगा, भयानक नाग को कैसे पकडकर नाथा होगा, राम ने कैसे पत्थर तैराये होंगे, वाराह अवतार लेकर भगवान ने कैसे सम्पूर्ण पृथ्वी को समुद्र मे से निकाल कर अपने दाढो पर रखा होगा आदि-आदि अति मानवतावादी कथनो की बुद्धिग्राह्य व्याख्यायें होने लगीं और जनता मे तर्क एवं विवेक जाग्रत हुआ। इस तरह हरिऔध जी के युग मे धार्मिक सकीर्णता, धर्मांधता अथवा धार्मिक अतिमानवतावाद को दूर करने का प्रयत्न होने लगा था और जनता धर्म के बारे मे सचेत होकर अपने धर्म की वास्तविकता को समझने का

प्रयत्न करने लगी थी। ऐसे युग में जितने भी साहित्य-ग्रंथ प्रणीत हुए, उनमें सर्वत्र धार्मिक नव चेतना के दर्शन होते हैं, क्योंकि इस चेतना का प्रभाव तत्कालीन लेखकों एवं कवियों पर भी पड़ा था।

साहित्यिक स्थिति—हरिऔध जी का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदी-युग में हुआ। परन्तु हरिऔध जी पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण करने से पूर्व ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे।[1] उन पर भारतेन्दु युग के कवियों का प्रभाव था और उनसे प्रेरणा लेकर ही आपने अपनी प्रारम्भिक रचनायें ब्रजभाषा में प्रस्तुत की थीं। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु युग सजीवता एवं जिंदादिली के लिए प्रसिद्ध है। इस युग में कवि-सम्मेलनों एवं कवि-गोष्ठियों की धूम थी, जिससे कविता का प्रांगण राज-दरबार न रह कर सर्वसाधारण का स्थान हो गया था। यद्यपि अधिकांश कविताओं में रीतिकालीन शृंगारिक भावनाओं एवं समस्या पूर्तियों की ही बहुलता थी, तथापि कुछ नये-नये स्वतन्त्र विषयों पर भी कवितायें लिखी जाने लगी थीं और कवि लोग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं अन्य समसामयिक समस्याओं पर भी अपने विचार प्रकट करने लगे थे। परन्तु अभी तक नवीन छन्दों का प्रचार नहीं हुआ था। प्रायः कवित्त, सवैये, पद, रोला, छप्पय, दोहा आदि प्राचीन छन्दों की ही प्रधानता थी। कुछ लोक-प्रचलित छन्द भी साहित्य क्षेत्र में अपनाये जाने लगे थे। जैसे बा० हरिश्चन्द्र, राधाचरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि ने 'लावनी' छन्द का प्रयोग किया था, प्रेमचन्द तथा खंगबहादुरमल ने 'कजली' छन्द को अपनाया था। उस समय कुछ खड़ी बोली में भी रचनायें हुई थीं, परन्तु अधिकांश कवि ब्रजभाषा की सरसता पर ही विमुग्ध थे। इतना अवश्य है कि भारतेन्दु युग में कवियों का दृष्टिकोण उदार हो गया था और जीवन का कोई भी पक्ष उनसे अछूता नहीं बचा था।[2] यह युग आन्दोलनों का युग था। इसी कारण इस युग में लेखक जिंदादिली के साथ साहित्य का सृजन करते थे। उस समय प्रेस की स्वाधीनता न थी। इसलिए तत्कालीन लेखकों को हास्य एवं व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता था।[3]

द्विवेदी युग के आते ही काव्य के क्षेत्र पर खड़ी बोली का अधिकार होने लगा। इस युग में काव्य की स्थूलता, बाह्य वर्णन, इतिवृत्तात्मकता,

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०७।

२. आधुनिक काव्य धारा, पृ० १०५।

३. भारतेन्दु युग, ११२।

शृंगार से घृणा, पौराणिक कथा-प्रेम, उपदेश-परता, नैतिकता, प्रकृति-चित्रण की बहुलता एवं नवीनता आदि की प्रधानता रही। द्विवेदी जी ने व्रजभाषा के स्थान पर शुद्ध खड़ी बोली में कवितायें रचने का आग्रह किया और "सरस्वती" पत्रिका द्वारा इसका अच्छी तरह प्रचार किया। आपने मराठी के नमूने पर संस्कृत वृत्तों में कविता, लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। आपके प्रयत्न से ही अधिकांश कवि खड़ी बोली की ओर आकृष्ट हुए। परन्तु तत्कालीन रचनाओं में से पहले जो कवितायें लिखी गईं, उनमें सरसता एवं सौंदर्य का सर्वथा अभाव रहा तथा कवियों द्वारा वर्णनात्मकता एवं आलोचनात्मक प्रवृत्ति के अपनाने के कारण उन कविताओं में कल्पना एवं सांकेतिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया। हाँ, इतना अवश्य है कि इस युग में आकर वर्ण्य-विषयों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। कवियों की मनोवृत्ति में देश, समाज और संस्कृति के प्रेम की भावना उदित हुई। वे प्रत्येक वस्तु में सुधार और सुव्यवस्था की ओर अग्रसर हुए तथा ईश्वर की अलौकिक एवं अतिमानवतावादी कथाओं को भी लौकिक एवं मानवतावादी रूप देकर उन्हें मानव जीवन से सर्वथा सम्बद्ध करके प्रस्तुत करने लगे। यहां आते-आते भारतेन्दु युग की निराश मनोवृत्ति भी लुप्त हो गई और उसके स्थान पर आत्मविश्वास, दृढ़ता, एवं अग्रसर होने की प्रवृत्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा।[1] कवियों में लोकसेवा, परदुःख कातरता, मानवता-प्रेम, विश्वबन्धुत्व आदि की उदारभावनायें भी घर करने लगी और स्वतन्त्रता, स्वदेशप्रेम, मातृभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा आदि से ओत-प्रोत होकर अधिकांश कवि 'जननी-जन्मभूमि' के सौंदर्य की झांकी प्रस्तुत करने लगे। तत्कालीन सामाजिक जीवन की छाप भी उस समय के साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि अधिकांश कवियों ने विधवा-विवाह, बाल-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, ऊँच-नीच के भेदभाव का निराकरण आदि पर अनेक कवितायें लिखी हैं। नारी-जीवन की महत्ता का उल्लेख भी इस युग में सर्वाधिक मिलता है। इस युग के कवि नारी को समाज की अपूर्व शक्ति स्वीकार करके उसकी शिक्षा, उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके सामाजिक अधिकार का वर्णन किये बिना नहीं रहे हैं। नारी-जीवन की महत्ता इस युग के कवियों में इतनी अधिक व्याप्त हो गई थी कि सभी छोटे-बड़े कवियों ने नारी की उपेक्षा एवं उसके चरित्र को अवनत देखकर नारी के समुन्नत एवं श्रेष्ठ जीवन को अंकित

---

१ आधुनिक काव्यधारा, पृ० १२५।

करने का प्रयत्न किया। हरिऔध जी की 'राधा' और 'वैदेही', मैथिलीशरण जी की कैकेई, उर्मिला और यशोधरा तथा प्रसाद जी की मल्लिका, देवसेना, अलका, श्रद्धा आदि इसका ज्वलंत प्रमाण हैं।

इस युग में बौद्धिक जागरण की प्रधानता रही और जनता में आदर्शवाद की ओर झुकाव अधिक रहा। इसी कारण जनता की रुचि में भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ, क्योंकि जो जनता पहले शृंगारमयी अश्लील एवं कामोद्दीपक कविताएँ पढ़ना अधिक पसंद करती थी, अब वह सात्विकता की ओर प्रवृत्त हुई, उसने रीतिकालीन शृंगारमयी अश्लीलता एवं विलासिता की केंचुली को उतारकर फेंक दिया तथा वह सत् की ओर अग्रसर होने लगी। इसीलिए इस युग के काव्यों में राष्ट्रीय नवचेतना, मानवता, सत्य, सात्विकता, समाज-सुधार, लोक-सेवा, विश्वबंधुत्व आदि की प्रतिष्ठा हुई, जिससे उदात्त संदेशमयी आदेशात्मक एवं उपदेशात्मक कोटि की कविता का समावेश हुआ। इसके साथ ही अभी तक साहित्य जन-जीवन से कुछ दूर ही था, उसमें जनता के प्रति सहानुभूति एवं दीन-दुर्बलों के प्रति श्रद्धा की भावना अधिक व्यक्त नहीं होती थी। परन्तु इस युग में आकर साहित्य का सबसे अधिक झुकाव जनता की ओर हुआ। मानव-सेवा एवं मानव-प्रेम कविता के अभिन्न अंग बन गये।[१] इसी कारण 'प्रियप्रवास' की राधा लोकसेवा के लिए अपना सारा जीवन अर्पण कर देती है। 'पुरुषोत्तम' में तो कृष्ण को यह घोषणा करनी पड़ी है कि यदि सुख तक किसी को पहुँचना है तो उसे किसानों को अपनाना होगा। 'साकेत' में सीता जी की कुटिया में ही राजभवन के दर्शन होते हैं तथा उर्मिला विरह-व्यथित होकर भी शत्रुघ्न से ग्रामीणजनों की दशा पूँछती रहती है। इसी तरह 'कामायनी' की इड़ा भी संघर्ष के समय जनता के पक्ष का समर्थन करती है और जन-संहार रोकने का आग्रह करती है।[२]

---

१. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० ७७-७८

२. भीषण जन-संहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खोता है।
क्यों इतना आतंक ठहर जा ओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।

—कामायनी, पृ० २०१

अत हरिऔध जी ने जिस युग मे साहित्य के क्षत्र मे पदार्पण किया उस युग मे सभी क्षत्रो मे अतगत नव चेतना की लहर दौड रही थी सारी जनता मे बौद्धिक जागति उत्पन्न हो चुकी थी तथा सम्पूर्ण समाज अधविश्वास के पक्ष मे निकलकर नवीन आदर्श नवीन ज्ञान नवीन विश्वास एव नवीन दृष्टिकोण को अपनाता चला जारहा था। परम्परागत रूढियाँ समाप्त होती चली जारही था और सवर्ण अवर्ण स्त्री-पुरुष कुलीन अकुलीन आदि के भेदभाव को भूलकर सभी लोग मानवता के पुजारी बनते चले जारहे थे। लोकसेवा एव लोकानुरजन की ओर जनता का झुकाव सर्वाधिक दिखाई देता था तथा राष्ट्रीयता विश्वबधुत्व एव वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना हृदयो म गभीरता के साथ प्रविष्ट होती चली जारही थी। यही कारण है कि इस युग म उपदेशात्मक साहित्य की प्रधानता रही और अधिकाश कवियो ने देश और समाज की दुबलताओं का चित्रण करते हुए राष्ट्रीयता एव जातीयता के भावो को प्रमुखता दी।

प्रियप्रवास की अवतारणा—उक्त विवेचन स स्पष्ट है कि युग की प्रेरक शक्तियाँ महाकवि हरिऔध को भी यह प्रेरणा दरहा थी कि वे इस आधुनिक युग के लिए एक ऐस महाकाव्य का निर्माण करे जिसम आधुनिक सामाजिक राजनीतिक धार्मिक एवं साहित्यिक विचारो का समावेश हो। इसके अतिरिक्त उस समय तक खडी बोली की फुटकल कविताए तो पर्याप्त मात्रा म लिखी जा चुकी थी और जयद्रथ वध जसे कुछ खडकाव्य भी बन चुके थे परतु अभी तक कोई महाकाव्य नही लिखा गया था। अत इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए हरिऔध जी न इस काव्य का प्रणयन किया जसा कि इन्होने स्वीकार भी किया है कि खडी बोली म छोटे छोटे कई काव्य-ग्रथ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं परन्तु उनमे से अधिकाश सो दो सो पद्यो म ही समाप्त है जो कुछ बड हैं वे अनुवादित हैं मौलिक नहीं। इस लिए खडी बोलचाल म मुझको एक इस ग्रथ की आवश्यकता देख पडी जो महाकाव्य हो। अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्ति क लिए कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परिश्रम करके इस प्रियप्रवास नामक ग्रथ की रचना की। [१]

इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि उस युग मे देश प्रेम एव मातृभाषा प्रेम की धूम मची थी। जनता मे जागृति पर्याप्त मात्रा म हो चुकी

१ प्रियप्रवास की भूमिका—काव्यभाषा पृ० २

थी। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार स्वदेश, स्व-समाज, स्व-राष्ट्र, स्व-मातृभूमि एवं स्व-मातृभाषा की सेवा करने के लिए लालायित हो रहा था। महाकवि हरिऔध ने इस सेवा के लिए कविता को ही अपना माध्यम बनाया था और अपनी कविता द्वारा ही मातृभाषा हिन्दी की सेवा करने के लिए इस काव्य का प्रणयन किया था। जैसा कि आपने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "मैं बहुत दिनों से हिन्दी भाषा में एक काव्य-ग्रंथ लिखने के लिए लालायित था। ......मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है; बने या न बने, सेवा-प्रणाली सुखद और हृदयग्राहिणी हो या न हो, परन्तु एक लालायित-चित्त अपनी प्रबल लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे ?......निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैंने 'प्रियप्रवास' नामक इस काव्य की रचना की।"[१]

तीसरा कारण यह है कि उस युग तक हिन्दी में प्रायः तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास वाली कविताओं की ही धूम मची हुई थी। वीरगाथा-काल से लेकर हरिऔध जी के युग तक ऐसी ही हिन्दी कविताएँ समाज में समादृत होती थीं, जो अन्तिम तुक या अंत्यानुप्रास युक्त हों। हिन्दी ही क्या, बँगला, पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में भी अन्त्यानुप्रास को महत्व दिया जाता था। उर्दू-फारसी की कविताएँ भी तुकान्त होने के कारण अधिक आदर प्राप्त करती थीं। अरबी की कविताएँ भी तुकान्त ही होती थीं। विश्व की सभी भाषाओं में तुकान्त कविताओं की बहुलता थी। परन्तु भिन्न-तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास हीन कविताएँ भारत की संस्कृत-भाषा में ही पर्याप्त मात्रा में लिखी गई थीं, जो अतीव सुन्दर, सरस एवं मनोमोहक थीं। उस समय तक बँगला में माइकेल मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद वध' भी निकल चुका था, जो भिन्न-तुकान्त काव्य था। किन्तु हिन्दी भाषा में उस समय तक थोड़ी बहुत फुटकर कविताएँ तो अवश्य तुकान्तहीन संस्कृत वृत्तों में लिखी गई थीं, फिर भी कोई महाकाव्य अभी तक अन्त्यानुप्रास-हीन एवं तुकान्त-हीन कविता के अंतर्गत नहीं लिखा गया था। अतः इसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से हिन्दी भाषा को विविध प्रकार की प्रणालियों से विभूषित करने के लिए अतुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास-हीन कविता में 'प्रियप्रवास' की रचना की। जिसका संकेत कवि के इन वाक्यों में विद्यमान है—"हाँ, भाषा-सौन्दर्य साधन के लिए और उसको विविध प्रकार की कविता से विभूषित करने के

१. प्रियप्रवास की भूमिका—विचार सूत्र, पृ० १

उद्देश्य से अतुकान्त कविता के भी प्रचलित होने की आवश्यकता है, और मैंने इसी विचार से इस 'प्रियप्रवास' ग्रंथ की रचना इस प्रकार की कविता में की है।"[1]

चौथा कारण यह है कि हरिऔध जी जहाँ स्वदेश एवं समाज के उत्थान के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे, वहाँ उनकी यह लालसा भी थी कि हमारी मातृभाषा विभिन्न महाकाव्यों से विभूषित हो जिसमें हमारे आधुनिक जीवन का सर्वांगीण चित्र अंकित हो तथा अत्यधिक समुन्नत कविता का रूप प्रस्तुत करते हुए देश-विदेश में भी समुचित आदर को प्राप्त करे। अतः अन्य सुकविजनों को और-और महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए, उन्हें महाकाव्य की दिशा में मार्ग दर्शन करने के लिए तथा खड़ी बोली में महाकाव्यों की परम्परा का श्रीगणेश करने के लिए आपने इस ग्रंथ की रचना की, जैसा कि आपने लिखा भी है—"महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रंथ सत्रह सर्गों में केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियों और सुलेखकों का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ मर्मस्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध होकर खड़ी बोली में सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगों को हस्तगत नहीं होता, तब तक यह अपने सहज रूप में आप लोगों के ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओं के सम्मुख है, और एक कवि के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर यह प्रार्थना करता है—'जबलौं फुलै न केतकी, तबलौं बिलम करील'।[2]

इस ग्रंथ के प्रणयन का पाँचवाँ कारण यह है कि हरिऔध जी मातृभाषा हिन्दी को भारत के विभिन्न प्रान्तों में समझने-समझाने के योग्य अथवा लोकप्रिय बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि हिन्दी ही भारत की एक ऐसी भाषा है, जो सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है, क्योंकि इसमें जितनी सरलता, सुबोधता एवं मनोवैज्ञानिकता है, उतनी अन्य प्रान्तीय भाषाओं में नहीं है। वैसे अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी इसकी अपेक्षा कहीं अधिक सरस, मधुर एवं सम्पन्न हैं। बँगला की मधुरता किसी से छिपी नहीं है। मराठी की गंभीरता एवं शालीनता भी अद्वितीय है। तामिल, तैलगू, आदि दक्षिणी भाषाएँ भी पर्याप्त सरस एवं सम्पन्न हैं, परन्तु सरलता एवं

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—कविता प्रणाली, पृ० ५
२ वही, पृ० २, ३

सुबोधता का गुण हिन्दी को ही प्राप्त है। फिर भी जब तक इस खड़ी बोली हिन्दी में संस्कृतमयता नहीं आती, तब तक सभी प्रान्तों में इसका आदर होना संभव नहीं। इसी कारण हरिऔध जी ने संस्कृतमयी खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के अनुकूल बताया था, जब कि प्रेमचंद जी इसके पूर्णतया विरुद्ध थे। वे बोलचाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा के अनुकूल समझते थे और कहा करते थे कि "जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे, वह है हिन्दुस्तानी और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी भी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।"[1] परन्तु हरिऔध जी ने संस्कृत-निष्ठ हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के सर्वथा अनुकूल समझा था और इसी कारण 'प्रियप्रवास' में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भरमार करते हुए इस काव्य का निर्माण किया। इसके बारे में आपने स्पष्ट लिखा है—"भारतवर्ष भर में संस्कृत भाषा आदृत है। बंगला, मरहठी, गुजराती, वरन् तामिल और पंजाबी तक में संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। इन संस्कृत शब्दों को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रान्तों के सज्जनों के सम्मुख उपस्थित होगी, तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योंकि उसके पठन-पाठन में उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने में दुरूहता होगी, क्योंकि सम्मिलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है।"[2] अतः अपनी विचारधारा के अनुकूल हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन करने के लिए तथा सभी प्रान्तों में उसे उचित आदर प्राप्त कराने के लिए आपने संस्कृत-गर्भित हिन्दी को अपनाते हुए इस काव्य का प्रणयन किया।

इस महाकाव्य के निर्माण का छठा कारण यह है कि हरिऔध जी हिन्दू-समाज में प्रचलित पौराणिक गाथाओं को आधुनिक वैज्ञानिक युग के अनुकूल एवं बुद्धिग्राह्य बनाना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि हिन्दू समाज में प्रचलित गाथाओं को अनर्गल एवं असम्भव घटना-सम्पन्न अति-मानवीय कथाएँ मानकर आधुनिक व्यक्ति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखें, उनके प्रति उपेक्षा का बर्ताव करें और उन्हें पौराणिक काल की असम्बद्ध बातें कह कर छोड़दें। इसलिए उन्होंने पौराणिक गाथाओं को आधुनिक युग के अनुकूल

---

१. प्रेमचंद घर में—पृ० ६५

२. प्रियप्रवास की भूमिका—भाषा शैली, पृ० ६

बनाकर उनमे वर्णित घटनाओ की तर्कसम्मत व्याख्या करने के लिए इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रथ का प्रणयन किया। वे अवतारवाद को मानते थे और उन्होंने श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण करते हुए 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण', 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' और 'प्रेमाम्बु-वारिधि' नामक ग्रथो का निर्माण किया था। परन्तु वे अवतारवाद के मूल मे यह मानते थे कि जो महापुरुष ससार मे दिखाई देते हैं वे सभी अवतारी पुरुष हैं, क्योकि उनमे असाधारणता है और वे परमब्रह्म के तेज का ही अश रूप हैं।[१] अत अपने अवतार सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए अथवा श्रीकृष्ण को भी एक साधारण महापुरुष के रूप मे अकित करने के लिए उन्होंने 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया, जिससे आधुनिक वैज्ञानिक युग के व्यक्ति भी उनकी महत्ता को समझकर उनके तुल्य ही लोकोपकारी कार्यों मे रत हो सकें। साथ ही उनकी अति-मानवता से परिपूर्ण घटनाओ को भी इस तरह तर्कसम्मत एव बुद्धिग्राह्य रूप मे प्रस्तुत किया, जिसमे कोई भी व्यक्ति यह न कह सके कि पौराणिक गाथायें सर्वथा अनर्गल एव असम्भव होती हैं, उनमे जन-जीवन के लिए कोई प्रेरणा नहीं होती और उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण से नही होता।

इसके अतिरिक्त सातवाँ कारण यह है कि कवि ने सस्कृत-वृत्तो का प्रयोग हिन्दी भाषा मे भी प्रचलित करने की इच्छा से तथा अपने इस कवि-कौशल को प्रदर्शित करने की लालसा से 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया। उस समय तक हिन्दी मे प्राय कवित्त, सवैये, दोहा, छप्पय आदि ही अधिक प्रचलित थे। यदि कोई कवि इन वृत्तो को अपनाकर कोई अतुकान्त कविता लिखता था, तो वह अत्यन्त नीरस, कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण-सी जान पड़ती थी और सस्कृत के वृत्तो मे कविता लिखना अत्यन्त श्रम-साध्य भी था। अत उस समय हिन्दी के कवि संस्कृत के छन्दो या वृत्तो का प्रयोग नहीं करते थे। इसका आनन्द सस्कृत-साहित्य मे ही था वहाँ मन्दाक्रान्ता, भुजग-प्रयात, मालिनी, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि छन्दो मे अत्यन्त रमणीय एव मनोहर रचनाएँ मिलती हैं। परन्तु इन छन्दो को अपनाते हुए हिन्दी के कवि डरते थे। अत इस अभाव की पूर्ति के लिए 'प्रियप्रवास' का प्रणयन हुआ। महाकवि हरिऔध ने इसके बारे मे सकेत करते हुए स्पष्ट लिखा है—"भिन्न तुकान्त कविता लिखने के लिए सस्कृत-वृत्त बहुत ही उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त भाषा-छन्दो मे मैंने जो एक आध अतुकान्त कविता देखी, उसको

१ प्रियप्रवास की भूमिका—ग्रथ का विषय, पृ० ३०

बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमें वह लावण्य नहीं मिला, जो संस्कृत-वृत्तों में पाया जाता है। अतएव मैंने इस ग्रंथ को संस्कृत-वृत्तों में ही लिखा है।"[१] अतः भाषा के गौरव की वृद्धि के लिए उसमें नूतन छन्दों एवं ललित-वृत्तों का समावेश करने के लिए 'प्रियप्रवास' लिखा गया।

निष्कर्ष यह है कि खड़ी बोली में उस समय तक जो-जो अभाव कवि को दिखाई दिये, उन सभी अभावों पर दृष्टिपात करते हुए उनकी पूर्ति के हेतु इस महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना हुई। यह दूसरी बात है कि उन अभावों की पूर्ति किस सीमा तक हुई अथवा उससे हिन्दी-साहित्य के भंडार की कितनी श्रीवृद्धि हुई। परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि 'प्रियप्रवास' की रचना ने तत्कालीन महाकाव्य के अभाव को पूरा किया, खड़ी बोली में अतुकान्त संस्कृत-वृत्तों में महाकाव्य लिखने का श्रीगणेश किया, पूर्व प्रचलित पौराणिक गाथाओं की अनर्गलता एवं असम्बद्धता को हटाकर उन्हें वैज्ञानिक तथा तर्क-प्रधान युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया तथा मानव समाज के लिए नवीन आदर्शों की स्थापना करते हुए लोकोपकार एवं लोकानुरंजन की भावना का प्रचार किया। अतः 'प्रियप्रवास' का सृजन हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना है।

'प्रियप्रवास' का नामकरण—इस महाकाव्य का आद्योपान्त अनुशीलन करने के उपरान्त पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इसमें यशोदा, गोप, गोपी आदि के विलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी सर्गों में, श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण ब्रज के सभी प्राणी विलाप करते हुए दिखाई देते हैं। अतः इसी सत्य को हृदय में धारण करते हुए महाकवि हरिऔध ने पहले इस काव्य का नाम "ब्रजांगना विलाप" रखा था।[२] वैसे भी इस ग्रंथ में ब्रजांगनाओं अर्थात् यशोदा, गोपी आदि के विलाप की ही भरमार है और वे श्रीकृष्ण के वियोग में व्यथित होकर रात दिन शोकमग्ना ही अंकित की गई हैं। परन्तु आगे चलकर ब्रज के उस करुण-क्रंदन में अथवा वियोग-जन्य विलाप के अवसर पर श्रीमती राधा को विरह व्यथित होकर भी अत्यंत संयत दिखलाया गया है तथा शोकातुर होकर भी उन्हें सदैव ब्रज के

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० ५

२. वही, पृ० २

पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करते हुए प्रदर्शित किया गया है। इस युगान्तरकारी परिवर्तन के कारण यह काव्य कोरा 'ब्रजागनाओं का विलाप' नहीं हो सकता, अपितु इसका नामकरण 'प्रियप्रवास' ही सर्वथा उचित जान पड़ता है। क्योंकि श्रीकृष्ण के प्रवास के कारण ही गोप-गोपियों के हृदय में विरह-जन्य शोक-सागर उमड़ा था और इसी कारण श्रीमती राधा के लोकानुरंजनकारी चरित्र की सृष्टि हुई। साथ ही यदि इसका नाम 'ब्रजागना-विलाप' रहता, तो फिर इसमें तो गोपों के भी विरह जन्य विलाप का वर्णन आया है और नन्द बाबा के भी विलाप का वर्णन है। अत यहाँ ब्रज की नारियों का ही केवल विलाप वर्णन नहीं है, अपितु पुरुषों के भी विलाप का उल्लेख मिलता है। ऐसी दशा में 'ब्रजागना-विलाप' नाम किसी प्रकार भी सार्थक नहीं दिखाई देता। अब रही बात 'प्रियप्रवास' नाम की सार्थकता के बारे में तो इस विषय में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य की सम्पूर्ण कथा का केन्द्र ब्रज के प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण का मथुरा प्रवास ही है। माता यशोदा, नन्दबाबा, गोपी एव गोपजनों के परम प्रिय श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं और फिर ब्रज में कभी लौटकर नहीं आते। जो ब्रज-प्रदेश उनके मुखारविंद का दर्शन करके ही नित्य अपना अहोभाग्य समझता था, उसमें उनके जाते ही शोक का अथाह सागर हिलोरें लेने लगता है। सभी गोप-गोपियाँ उनके लोकोपकारी कार्यों का स्मरण करते हुए रातदिन शोकमग्न रहे आते हैं। नन्द और यशोदा भी अपने लाडले पुत्र का स्मरण करके कभी मूर्छित होते हैं, कभी रुदन करते हैं और कभी उसकी लोक-कल्याणकारी लीलाओं का स्मरण करते हुए बेचैन हो उठते हैं। ऐसे शोक विह्वल ब्रज को समझाने के लिए उद्धव जी भी आते हैं, परन्तु उनके आगमन से भी कोई लाभ नहीं होता। वे भी अपने ज्ञान को गँवाकर उसी प्रिय कृष्ण के प्रेम में लीन हो जाते हैं। परन्तु ऐसे भयकर विषाद के अवसर पर भी अपने प्रियतम की भावनाओं का पूर्णतया अनुसरण करने वाली राधा सारे ब्रज को सँभालने का भार अपने कधों पर वहन करती है। वह अपने शोक, प्रेम एव वेदना को छिपाकर सम्पूर्ण ब्रज की परिचर्या, सेवा एव सुश्रूषा में लगी रहती है। समस्त गोप-गोपियों को ढाढ़स बँधाती है और उनके शोक सताप को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के गुणानुवाद गाती हुई प्रेमविभोर हो जाती है। उसकी लोक-सेवा, उसके परोपकार एव उसके अन्त करण की उदारता को जन्म देने वाला भी उसके प्रिय का प्रवास ही है। अत सम्पूर्ण काव्य इसी एक प्रमुख घटना के चारों ओर मकड़ी के जाल की तरह फैला हुआ है। यही घटना काव्य का श्रीगणेश

करने वाली है, इसी घटना से कथावस्तु का विकास हुआ है और इसी घटना के कारण कवि ने कथित घटनायें दिखाते हुए एक नवीनतम काव्य लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। अतः सभी दृष्टियों से इस महाकाव्य का नाम 'प्रिय-प्रवास' ही सर्वथा सार्थक है।

प्रकरण २

प्रियप्रवास की वस्तु

कथा-सार—'प्रियप्रवास' की कथा वैसे तो अत्यंत लघु है, क्योंकि यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के गमनोपरान्त ब्रज की करुण-दशा का ही वर्णन किया है, परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति एवं नूतन प्रणाली द्वारा हरिऔध जी ने उस कथा को १७ सर्गों में अभिव्यक्त किया है। कथा का श्रीगणेश सध्या की पुनीत एवं प्रेममयी अलौकिक छटा का वर्णन करते हुए किया गया है। सध्या की उस पुनीत वेला में व्रजजीवन श्रीकृष्ण अपने ग्वाल-बालों के साथ गायें चराकर वन से लौटते हुए बड़ी धूमधाम से गोकुल ग्राम में आते हैं। श्रीकृष्ण की उस दिव्य छटा को देखते ही सम्पूर्ण गोकुल आनन्द विभोर हो उठता है। सहसा रात्रि हो जाती है और फिर व्रज के अन्दर ऐसे रमणीक दृश्य के देखने का सुअवसर किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि उसी दिन दो घड़ी रात व्यतीत होते ही एक घोषणा सुनाई पड़ती है, जिसमें यह कहा जा रहा था कि कल प्रात ही श्रीकृष्ण मथुरा जाने वाले हैं, वहाँ राजा कस ने उन्हें धनुष यज्ञ देखने के लिए बुलाया है। अत. सभी गोपजनों को प्रात ही प्रस्थान करने के लिए तैयार होजाना चाहिये। यह घोषणा नद बाबा की ओर से की गई थी। इसे सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम में खलबली मच गई, उनके रग में भग हो गया और वे श्रीकृष्ण के जाने के बारे में नाना प्रकार की शकायें करने लगे। इतना ही नहीं उन्हें इस निमत्रण में भी कस की कोई कुचाल दिखाई देने लगी, क्योंकि श्रीकृष्ण के जन्म से ही पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, दुर्जयवत्स आदि ने अनेक बाधायें कस के आग्रह पर ही उपस्थित की थीं। अत इस घोषणा के सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम विषाद की मूर्ति बन गया।

इधर नद बाबा बड़े विषम सकट में पड़ गये। वे भी जानते थे कि कस का निमत्रण किसी न किसी षड्यत्र से अवश्य भरा हुआ है परन्तु निषेध

भी नहीं कर सकते थे। अतः उनकी सारी रात संकल्प-विकल्पों में ही व्यतीत होने लगी। घर में दासियाँ प्रस्थान की तैयारी कर रही थीं। यदि उनमें से किसी दासी का रुदन नंद बाबा के कान में पड़ जाता था तो वे और भी व्यथित हो उठते थे। उधर यशोदा जी श्रीकृष्ण की शैया के समीप बैठी-बैठी शोक, विषाद एवं संशय में डूबी जारहीं थीं। वे बार-बार भगवान् से प्रार्थना करतीं कि कंस के यहाँ मेरे लाल को किसी प्रकार का अनिष्ट न हो और वह सकुशल घर लौट आवे। श्रीकृष्ण के गमन की यह सूचना उसी रात में बरसाने के अन्दर गोपराज वृषभानु के महलों में भी पहुँच गई। वहाँ अत्यंत सुकुमारी एवं सौंदर्यमयी राधा ने जैसे ही यह समाचार सुना, वह विधि के विधान की भर्त्सना करने लगी और कहने लगी कि यदि कल श्रीकृष्ण मथुरा चले जावेंगे, तो फिर मेरा जीना सर्वथा असम्भव है। राधा के हृदय में भी कंस की क्रूरता के कारण अनेक प्रकार की आशंकायें उठने लगीं। रह-रहकर उसे अपने प्रेम का स्मरण होने लगा और वह सोचने लगी कि वैसे तो मैं अपना हृदय श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर चुकी हूँ, केवल अब विधिपूर्वक वरण करने की मेरी कामना और शेष रही है, परन्तु अब मुझे वह सफल होती हुई दिखाई नहीं देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य में लिखा है वह भला कब टलता है! इस तरह सोचते-विचारते राधा भी अत्यंत शोक में निमग्न हो गई।

जैसे-तैसे वह काल-रात्रि व्यतीत हुई। प्रभात हुआ और सभी व्रज-जन नंद बाबा के द्वार पर आकर एकत्रित हो गये। इतने में ही श्रीकृष्ण भी तैयार होकर द्वार पर आगये। तब सभी गोपजन व्याकुल होकर अक्रूर जी से विनय करने लगे कि जैसे भी हो आप हमारे जीवन-धन को मथुरा न ले जावें। कृष्ण के गमन का समाचार पाकर सारी गायें भी न तो वन को गईं, न उन्होंने तृण खाये और न अपने बछड़ों को दूध ही पिलाया, अपितु वे भी आकर नंद-द्वार पर इकट्ठी हो गईं। घर के शुक-सारिका आदि भी शोक में लीन हो गये। ऐसा करुण दृश्य देखकर श्रीकृष्ण माता से आज्ञा लेने के लिए अन्दर गये। फिर माता के चरण छूकर तथा भाई बलराम को साथ लेकर रथ पर आ बैठे। उस क्षण यशोदा का हृदय भर आया। वे नंद बाबा से आग्रह करते हुए कहने लगीं कि मेरे दोनों लाल बड़े सुकुमार हैं। इसलिए मार्ग में किसी प्रकार का कष्ट मत होने देना। उस समय व्रज-जन इतने प्रेम-विह्वल हो गये कि कुछ तो रथ के पहिये पकड़ कर बैठ गये, कुछ आगे लेट गये और कुछ व्यक्तियों ने घोड़ों की रासें पकड़लीं। जैसे-तैसे श्रीकृष्ण के

समझाने पर तथा दो दिन मे ही लौट आने का आश्वासन देने पर वे लोग रथ को छोड सके। तब सभी प्रियजनो को बिलखता छोडकर श्रीकृष्ण मथुरा को चले गये।

श्रीकृष्ण को मथुरा गये हुए कई दिन व्यतीत हो गये। परन्तु जब न तो कोई और ही लौटा और न वे ही आये तब सारे व्रज मे स्थान-स्थान पर उनके बारे मे आशकायें प्रकट करते हुए प्रतीक्षा होने लगी। कुछ प्रमीजन तो नित्य पेडो पर चढकर उनकी राह देखने लगे। कुछ गोपियाँ छतो पर चढकर झरोखो या मोखो मे से अथवा गवाक्षो से अपने प्रियतम कृष्ण के आने का पथ निहारने लगी। इस तरह सारे व्रज मे बडी उत्कठा के साथ श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा होने लगी और सभी व्यक्ति उनकी प्रतीक्षा मे पागल होकर घूमने लगे। राधा की भी दशा ऐसी ही हागई। वह भ्रान्ता होकर कभी प्रात पवन को अपनी दूती बनाकर श्रीकृष्ण के पास अपने विरह का सदेश देने के लिए भेजती तो कभी किसी सखी को अपने पास बैठाकर विरह जन्य वेदना को व्यक्त करती थी।

एक दिन अकेले नद बाबा लुकते छिपते गोकुल लौट आये। उन्हे एकाकी देखकर यशोदा माता तो मूर्च्छित हो गईं। होश आने पर फिर कृष्ण की कुशल के बारे मे प्रश्न पर प्रश्न करने लगी। परन्तु जब उन्ह नद जी ने यह बताया कि श्रीकृष्ण ने कुवलय हाथी मल्लकूटादि को मारकर कस का भी वध कर दिया है तबतो यशोदा जी अपने पुण्यो को सराहने लगा और ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद देने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण लौटकर क्यो नही आये यह बात फिर उन्हे व्यथित करने लगी। जब नद जी ने यह समझाया कि अब दो दिन पश्चात् वे भी यहाँ आजायेंगे तब कही यशोदा जी को थोडी सी शान्ति मिली। परन्तु जब दो दिन भी निकल गये और बलराम जी को छोडकर अन्य सभी गोपजन भी मथुरा से लौट आए तब सम्पूर्ण व्रज-जनों को धीरे धीरे विश्वास सा होने लगा कि अब श्रीकृष्ण गोकुल मे लौटकर कभी नहीं आवेंगे। अब उनके हृदय मे शोक और वेदना गहनता के साथ व्याप्त हो गयी और वे स्थान स्थान पर बैठ कर श्रीकृष्ण के बाल जीवन की मधुर लीलाओं का वर्णन करते हुए अपने अपने प्रेम भाव को व्यक्त करने लगे।

जब मथुरा मे श्रीकृष्ण को रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये तब उन्हे व्रज जनो के वियोग-जन्य दुख का ध्यान आया और उन्होने अपने प्रिय सखा उद्धव को व्रज-जनो को समझाने के लिये भेजा। उद्धव जी बड ही ज्ञानी एव प्रकाड पडित थे। वे निर्गुण मार्ग के मानने वाले तथा ब्रह्म के

उपासक थे। वे रथ में बैठकर ब्रज की अनुपम छटा निहारते हुए संध्या के समय गोकुल ग्राम में प्रविष्ट हुए। रथ को आया हुआ देखकर सारी जनता उद्धव जी के रथ के पास आकर एकत्रित हो गई, पशु चरना छोड़कर वहाँ आ गये और सभी वहाँ रथ को घेर कर खड़े हो गये। परन्तु रथ में उद्धव जी को बैठा हुआ देखकर सभी निराश हो गये तथा यह आशंका करने लगे कि ऐसा ही एक व्यक्ति पहले आकर हमारे अनूठे रत्न को ले गया था। अब न जाने यह कौनसा रत्न यहाँ से लेने आया है? तदुपरान्त उद्धव जी नंद के भवनों में पधारे। वहाँ मार्ग की थकावट दूर करके भोजन किया, फिर उन्होंने श्रीकृष्ण के वियोग में दुखी नंद एवं यशोदा को बड़े आदर एवं प्रेम के साथ समझाया। यशोदा जी ने सारी बातें सुनकर अपने हृदय की वेदना का वर्णन करना आरम्भ कर दिया, श्रीकृष्ण और बलराम की कुशल भी पूँछी और अपने पुत्र-प्रेम को प्रकट करते हुए पर्याप्त रुदन किया। यशोदा जी की व्यथा-कथा सुनते-सुनते सारी रात व्यतीत होगई, सवेरा हो गया, फिर भी वह कथा समाप्त न हुई। तब उद्धव जी नंद-गृह से उठकर बाहर चले आये। वहाँ से चलकर वे यमुना के किनारे बैठे हुए गोपजनों के मध्य आए। गोपों ने भी अपने कृष्ण-प्रेम का वर्णन करते हुए उद्धव जी को काली नाग के विनाश, दावानल में से गोप एवं गायों की रक्षा, प्रलयकारी वर्षा से ब्रज-जनों के उद्धार आदि से सम्बन्धित श्रीकृष्ण की लोकोपकारी लीलाओं को कहकर सुनाया तथा अपने रोम-रोम में व्याप्त श्रीकृष्ण के विरह का निवेदन किया। उनकी कथायें सुनकर उद्धव जी भी प्रेम-विभोर होने लगे।

एक दिन उद्धव जी वृन्दावन की अनुपम छटा देखते हुए गोप-मंडली में आ बैठे। वहाँ गोपों ने श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए उनके अलौकिक चरित्र का वर्णन किया, उनके वन-विहार का रहस्य समझाया तथा विशालकाय अघोपनामी क्रूर-सर्प से किस तरह श्रीकृष्ण ने गोपों एवं गायों की रक्षा की थी— यह सम्पूर्ण कथा प्रेम-विभोर होकर वर्णन की। इतना ही नहीं उन्होंने भयंकर अश्व, व्योम नाम के प्रवंचक पशुपाल, आदि की लोमहर्षणकारी कथायें भी सुनाई और श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। तदनन्तर एक दिन उद्धव जी यमुना के किनारे बैठकर वियोग-विधुरा गोपियों की वेदनापूर्ण बातें सुनते रहे। फिर उन्होंने दुखी गोपियों को समझाने का भी प्रयत्न किया, लोकोपकार एवं लोक सेवा करते हुए विश्व-प्रेम में लीन होने का उपदेश दिया तथा योग द्वारा अपने हृदय को

सुखी बनाने की सलाह दी। परन्तु गोपियों का प्रेम-विह्वल हृदय उनकी किसी बात से भी सन्तुष्ट न हुआ तथा वे बार-बार श्रीकृष्ण के दर्शन की ही लालसा प्रकट करने लगी। तदनन्तर एक दिन उद्धव जी ने कुंजों में भ्रमण करते हुए एक विरह-विधुरा गोपी की हृदय विदीर्णकारी एवं मर्मभरी व्यथा-कथा सुनी, जिसे वह कभी फूल, कभी भौंरे, कभी कली, कभी मुरलिका आदि को सम्बोधन करके कह रही थी। उसकी विरह-कथा सुनकर उद्धव जी का हृदय भी अत्यन्त व्यथित हो उठा और वे उस गोपी से कुछ कह न सके।

तदनन्तर एक दिन उद्धव जी श्रीमती राधा से मिलने के लिए बरसाने गये। वहाँ राधा अपनी सुललित वाटिका में विराजमान थी। उद्धव जी राधा को प्रबोध देने के लिए इसी वाटिका में पधारे। राधा ने उद्धव जी का स्वागत किया और उद्धव जी ने राधा से श्रीकृष्ण का प्रेम, माधुर्य्य, लोकोपकार, सेवा, शान्ति एवं त्याग से भरा हुआ सदेशा कहा। उत्तर में राधा ने भी यही निवेदन किया कि मैं भी प्राणियों की सेवा, परोपकार उदारता, त्याग एवं दीनों के प्रति प्रेम, विश्वबंधुत्व आदि की भावनाओं से ओत-प्रोत होकर प्रियतम श्रीकृष्ण के विचारों का अनुसरण कर रही हूँ, परन्तु मेरा हृदय भी एक नारी का हृदय है, उसमें श्रीकृष्ण की श्यामली मूर्ति समाई हुई है। अतः मैं उन्हें किसी प्रकार भुला नहीं सकती और रात-दिन विरह में वह हृदय भी व्यथित होता रहता है। फिर भी मैं अब प्रकृति के नाना रूपों में अपने प्रियतम के दर्शन करके उन्हें समझाती रहती हूँ और अब मेरे हृदय में विश्व प्रेम जाग्रत हो गया है। अतः मैं यही चाहती हूँ कि भले ही अब प्रियतम घर आवें या न आवें, परन्तु चिरंजीवी रहें और सदैव जग हित करते रहें परन्तु एकबार आकर अपना मुख दुःखी नंद यशोदा को अवश्य दिखा जावें। राधा की ऐसी अलौकिक प्रेम एवं निःस्वार्थ भक्ति से भरी हुई बातें सुनकर उद्धव जी गद्गद हो गये और राधा के चरणों की धूल लेकर तथा परमशान्ति के साथ वहाँ से विदा होकर मथुरा नगरी में लौट आए। उद्धव जी के आने के उपरान्त फिर कोई भी व्यक्ति मथुरा से गोकुल नहीं आया और न श्रीकृष्ण ही लौटे, वरन् कुछ काल उपरान्त यह समाचार सुनाई पड़ा कि अपनी विशाल सेना लेकर जरासन्ध ने मथुरा पर सत्रह बार चढ़ाई की और बार-बार श्रीकृष्ण ने उसे हराकर लौटा दिया। परन्तु अठारवीं बार के आक्रमण से व्यग्र होकर श्रीकृष्ण मथुरा को छोड़कर द्वारिकापुरी में चले गये। इस समाचार से सम्पूर्ण

व्रजभूमि में ओर भी निराशा व्याप्त हो गई और सभी व्रज-जन अथाह शोक-सागर में डुबकियाँ लगाने लगे। अंत में राधा ने आजन्म कौमार्य-व्रत धारण करते हुए अपनी कुमारी सखियों का एक संगठन बनाया, और वे निरंतर सभी रोगी, वृद्ध, दुःखी एवं विरह-व्यथित गोप-गोपियों की तन्मयता के साथ सेवा करने लगीं। इस तरह सेवा-भावना, लोकोपकार एवं त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करने के कारण राधा व्रज-भूमि की आराध्या देवी बन गईं। यद्यपि अपने अथक प्रयत्नों से राधा व्रज-भूमि को सुखी बनाने का प्रयत्न करती थी, तथापि यहाँ जो सुख एवं आनन्द श्रीकृष्ण के समय में सर्वत्र छाया रहता था, वह फिर कभी भी दिखाई न दिया तथा कृष्ण जी के विरह-जन्य दुःख की छाया व्रज-जनों की वंश-परम्परा में व्याप्त हो गई।

'प्रियप्रवास' में वर्णित प्रमुख कथायें एवं प्रसंग—हरिऔध जी ने मुख्य रूप से इस काव्य में श्रीकृष्ण के मथुरा गमन का ही उल्लेख किया है, परन्तु उनके जाते ही गोकुल एवं बरसाने में विरह-व्यथित गोप-गोपीजन श्रीकृष्ण का गुण गान गाते हुए उनके जीवन से संबंधित कितनी ही घटनाओं का वर्णन कथा के रूप में करते हैं। वे कथायें इस प्रकार हैं :—

(१) पूतना की कथा।
(२) तृणावर्त की कथा।
(३) शकटासुर की कथा।
(४) बकासुर की कथा।
(५) दुर्जयवत्स की कथा।
(६) अघासुर सर्प की कथा।
(७) केशी अश्व की कथा।
(८) यमलार्जुन की कथा।
(९) पशुपालक व्योम की कथा।
(१०) काली नाग की कथा।
(११) गोवर्द्धन धारण करने की कथा।
(१२) कुवलयापीड़, चाणूर, मुष्टिक, कंस आदि के वध की कथा।
(१३) दावानल दाह की कथा।
(१४) जरासंध की कथा और द्वारिका गमन।

उक्त कथाओं में से पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, यमलार्जुन कुवलयापीड़, मल्ल, कंस, जरासंध आदि की कथाओं का तो संकेत रूप में ही वर्णन मिलता है[1] जब कि निम्नलिखित कथाओं का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है :—

(१) कालीनाग की कथा।
(२) दावानल-दाह की कथा।

---

१. प्रियप्रवास, पृ० १५-१८ तथा ७७-७८

(३) वर्षा के प्रकोप के कारण गोवर्द्धन धारण करने की कथा।
(४) अघोपनामी सर्प की कथा।
(५) विशाल अश्व की कथा।
(६) व्योम पशुपाल की कथा।

इन कथाओं के अतिरिक्त हरिऔध जी ने निम्नलिखित प्रसगों का वर्णन भी प्रियप्रवास' में किया है—

(१) गोचारण के उपरान्त संध्या के समय श्रीकृष्ण का गजघज के साथ गोकुल में प्रवेश।
(२) अक्रूर के साथ मथुरा गमन और व्रज-वासियों का विलाप।
(३) श्रीकृष्ण की बाल-क्रीडाओं का वर्णन।
(४) उद्धव का योग संदेश।
(५) महा रास का वर्णन।
(६) गोपियों का विरह निवेदन।
(७) भ्रमर गीत।
(८) मुरली माहात्म्य।
(९) राधा की महत्ता।

कृष्ण-कथा के मूल स्रोत—श्रीकृष्ण संबंधी कथाओं का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत में मिलता है। महाभारत में श्रीकृष्ण के द्वारिका चले जाने के उपरान्त की कथाओं का ही विशद वर्णन किया गया है, जब कि महाभारत के अंशरूप 'हरिवंश पुराण' में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अन्य सभी कथाओं का उल्लेख विस्तार के साथ मिलता है। अतः 'हरिवंश पुराण' ही ऐसा प्रथम ग्रंथ है जिसमें श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित सभी कथायें आई हैं। परन्तु विद्वानों की राय है कि यह 'हरिवंश पुराण' महाभारत के बहुत पीछे लिखा गया है और महाभारत में श्रीकृष्ण का वर्णन अधूरा रहने के कारण उसे पूरा करने के लिए पीछे से 'हरिवंश पुराण' को उसमें जोड़ा गया है। इसी कारण इस पुराण की गणना १८ पुराणों में नहीं है, अपितु इसे उपपुराण माना गया है।[१] इस 'हरिवंशपुराण' के 'विष्णु-पर्व' में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन की कथायें विस्तार के साथ दी हुई हैं।[२]

---

१ हिन्दुत्व, पृ॰ ४०६
२ देखिए हरिवंश पुराण, विष्णुपर्व सर्ग ४ से ५६ तक

परन्तु यहाँ राधा, यशोदा, गोपियों, नंद तथा गोपजनों के विरह का वर्णन नहीं मिलता।

ब्रह्मपुराण के १८८ वें अध्याय से लेकर २१२ वें अध्याय तक भगवान् कृष्ण की सम्पूर्ण कथा विस्तार के साथ मिलती है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर द्वारिका में श्रीकृष्ण-गमन तथा प्रभास क्षेत्र में जाकर यादवों के विध्वंस तक का वर्णन बड़ी विशदता के साथ किया गया है। यहाँ पर भी कृष्ण जी की उन सभी लीलाओं का उल्लेख मिलता है, जो उन्होंने गोकुल, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानों पर व्रज-प्रदेश में की थीं। तदनन्तर पद्मपुराण में "स्वर्ग-खंड" के अन्तर्गत ६६ वें अध्याय में श्रीकृष्ण चरित्र आरम्भ होता है और ७७ वें अध्याय तक चलता है। यहाँ श्रीकृष्ण की मथुरा-वृन्दावन में की हुई लीलाओं का विशद वर्णन नहीं है, परन्तु वृन्दावन की छटा एवं उसकी महिमा तथा मथुरा आदि व्रज के क्षेत्रों की महिमा का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है।[1] यहाँ श्रीकृष्ण के परब्रह्म स्वरूप की बड़ी विशद व्याख्या की गई है[2] तथा गोपिका, राधा, गोप आदि के माहात्म्य का भी अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है।[3] इसके उपरान्त विष्णुपुराण के पाँचवें अंश में प्रथम अध्याय से लेकर ३८ वें अध्याय तक श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण कथा अत्यंत विस्तार के साथ दी हुई है। यहाँ अन्य सम्पूर्ण कथाओं के अतिरिक्त महारास का वर्णन भी बड़ी सजीवता के साथ विस्तारपूर्वक दिया गया है।[4] अन्य सभी लीलाओं का वर्णन और पुराणों जैसा ही है।

तदनन्तर श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कंध में श्रीकृष्ण जी का चरित्र अत्यंत विस्तार के साथ ९० अध्यायों में दिया गया है। सर्वप्रथम इसी पुराण में श्रीकृष्ण की लीलाओं का विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है। यहाँ श्रीकृष्ण संबंधी प्रत्येक घटना का सांगोपांग उल्लेख किया गया है। यहाँ रासलीला का वर्णन भी अत्यन्त मार्मिक है[5] और महारास का विशद विवेचन किया गया है।[6] श्रीकृष्ण के विरह में व्यथित गोपियों की दीनावस्था

---

१. पद्मपुराण, स्वर्गखंड, अध्याय ६९ तथा ७१
२. वही, अध्याय ७०
३. वही, अध्याय ७०, ७१ और ७२
४. विष्णुपुराण, पंचम अंश, अध्याय १३
५. श्रीमद्भागवत पुराण, स्कंध १०, अध्या
६. वही, अध्याय ३३

उद्धव का उन गोपियो को समझाने के लिए व्रज यात्रा करना, उद्धव-गोपी सवाद, भ्रमर-गीत आदि का वर्णन जितनी मार्मिकता, सजीवता एव गम्भीरता के साथ इस पुराण मे मिलता है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता।[१] उद्धव जी की यात्रा के समय व्रज के प्राकृतिक सौंदर्य का विस्तार-पूर्वक वर्णन भी इसी पुराण मे सर्वप्रथम मिलता है।[२] यही पुराण समस्त कृष्ण भक्त कवियो एव कृष्ण चरित्र वर्णन करने वालो का मूलाधार है।

अग्निपुराण के १२ वें अध्याय म भी सक्षिप्त श्रीकृष्ण-कथा दी गई है। यह पुराण तो सकलन-काव्य है। इसमे रामायण, महाभारत आदि की सभी कथायें सक्षेप म दी गई हैं। यहाँ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सभी कथायें एव उनकी सम्पूर्ण लीलायें वर्णित हैं। किन्तु यहाँ महारास, गोपी-विरह, उद्धव-गोपी सम्वाद, राधा-माहात्म्य आदि का वर्णन नही दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण में प्रथम ब्रह्मखड के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के गोलोकस्थित परब्रह्म स्वरूप का बडा ही विशद वर्णन मिलता है।[३] यहाँ राधा का भी अत्यन्त महत्व प्रदर्शित किया गया है तथा राधा जी के गण्डप्रदेश मे कोटिसंख्यक गोपियों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं इस पुराण मे गो, गोप एव गोपियो तथा श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की भी बडी ही सुन्दर दार्शनिक व्याख्या की गई है।[४] आगे चलकर श्रीकृष्ण जन्म-खड' में भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर युवावस्था तक व्रज प्रदेश मे की हुई विभिन्न लीलाओं का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ रास-क्रीडा का वर्णन अत्यन्त मार्मिक है।[५] यहाँ पर राधा उद्धव सवाद भी बडे विस्तार के साथ दिया गया है, तथा राधा के कुशल-प्रश्न करने पर उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के कुशल-समाचार पाते ही राधा की मूर्च्छावस्था, उद्धव का उन्हे समझाना, राधा की अत्यन्त विरह-कातर अवस्था आदि का वर्णन यहाँ बडा ही मार्मिक है।[६] यहाँ उद्धव द्वारा राधा जी की भक्ति का वर्णन भी बडा ही अद्वितीय

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, स्कध १०, अध्याय ४६, ४७

२ वही, अध्याय ४६

३ ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखड, अध्याय २, ३

४ वही, अध्याय ५

५ वही, श्रीकृष्ण जन्मखड, अध्याय २८

६ वही, अध्याय ९३

है।[1] इस पुराण में एक विशेषता यह है कि भगवान् कृष्ण अपने विरह में व्यथित नन्दादि व्रजजनों को आश्वासन देने के लिए गोकुल पधारते हैं और भांडीर वन में एकत्रित समस्त गोप, गोपी, नन्द, यशोदा आदि को ब्रह्मा जी के शाप से यादवों के विनाश, द्वारिका नगरी का समुद्र में विलय, पांडवों के मोक्ष आदि की कथायें सुनाते हुए समस्त व्रजजनों का समाधान करते हैं तथा अन्त में अपने धाम को लौट जाते हैं।[2] यहाँ श्रीमद्भागवत पुराण से अन्तर इतना ही है कि वहाँ पर तो समस्त व्रजजनों से भगवान् कृष्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में मिलते हैं,[3] जबकि यहाँ उनका मिलन व्रज में ही कराया गया है।

वराहपुराण में श्रीकृष्ण की कथा का तो उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु यहाँ मथुरा माहात्म्य के साथ-साथ काम्यक वन, वृन्दावन, भद्रवन, भांडीर वन महावन, लोहजंघ वन, बकुल वन आदि व्रज के विभिन्न वनों की रमणीय शोभा एवं उनके प्रभाव का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ मिलता है।[4] देवी-भागवत पुराण में श्रीकृष्ण-कथा अत्यन्त संक्षेप में मिलती है। यहाँ केवल पाँच अध्यायों में ही भगवान् कृष्ण के जन्म एवं अन्य लीलाओं का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे यहाँ सभी घटनाओं एवं लीलाओं का संकेत संक्षेप में मिल जाता है। क्योंकि कृष्णजन्म, वसुदेव का गोकुल गमन, कंस द्वारा देवकी के हाथों से कन्या का छीनना और उसका आकाश में चला जाना; पूतना, बकासुर, वत्सासुर, धेनुकासुर, प्रलम्बासुर, अघासुर केशी आदि का वध; कुवलयापीड़, चाणूर, मुष्टिक, कंस आदि का विनाश, जरासंध का आक्रमण, कृष्ण जी का द्वारिका गमन आदि सभी प्रसंगों की ओर यहाँ संकेत किया गया है।[5]

इसके अतिरिक्त जैनियों के जिनसेन कृत अरिष्टनेमि पुराण में भी श्रीकृष्ण की कथा मिलती है। यहाँ श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन तक की कथा ४४ अध्यायों में बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इस कथा में कृष्ण द्वारा केशी, गज, चाणूर, मुष्टिक, कंस आदि के वध का वर्णन है,

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म-खंड, अध्याय ९६
२. वही, अध्याय १२९
३. श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय ८२
४. वराहपुराण, अध्याय १५३
५. देवीभागवत पुराण, चतुर्थ स्कंध, अध्याय २०–२५

जरासंध के मथुरा पर आक्रमण का भी उल्लेख है और उसी के भय से श्रीकृष्ण का द्वारिका में पलायन करने का भी वर्णन मिलता है।[1] परन्तु यहाँ गोप गोपियों की विरहावस्था उद्धव गोपी संवाद आदि का वर्णन नहीं मिलता।

इस तरह श्रीकृष्ण सम्बन्धी कथायें महाभारत से लेकर विभिन्न पुराणों में फैली हुई हैं। भारत में विष्णु के अवतारों में से राम और कृष्ण के ही नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं और इनसे सम्बन्ध रखने वाली गाथायें ही अधिक से अधिक भारतीय ग्रंथों में संगृहीत मिलती हैं। इन ग्रंथों में से कृष्ण-कथा के लिए सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत पुराण को दिया जाता है। यही पुराण कृष्ण भक्तों की परमनिधि है और इसी के आधार पर महात्मा सूरदास नंददास कृष्णदास आदि अष्टछाप के कवियों ने अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। भक्तिकाल के अधिकांश कृष्ण भक्त कवि इसी पुराण से प्रभावित हैं। रीतिकाल की कृष्ण-कथाओं पर भी बहुत कुछ इसी पुराण का प्रभाव है। वैसे रीतिकालीन कवि गाथा सप्तशती अमरुक शतक आर्या सप्तशती आदि से भी प्रभावित हुए हैं। आधुनिक युग में भी कृष्ण सम्बन्धी वे ही कथायें अधिक प्रभावित हुई हैं जिनका उल्लेख भक्तिकाल के कवियों ने भागवत पुराण के दशम स्कंध से प्रभावित होकर किया है। आधुनिक युग का 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य भी प्रमुख रूप से महाभारत एवं श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर ही लिखा गया है। इस तरह भारतीय कृष्ण कथाओं पर श्रीमद् भागवत पुराण का प्रभाव सर्वोपरि है।

'भागवत' और 'प्रियप्रवास' की कथाओं में रूपान्तर—

(१) तृणावर्त की कथा—श्रीमद्भागवत में लिखा है कि तृणावर्त नाम का एक दैत्य था। वह कंस का निजी सेवक था। कंस की प्रेरणा से ही बवंडर के रूप में वह गोकुल में आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्ण को उठाकर आकाश में ले गया। उसने गोकुल में आते ही भयंकर बवंडर का रूप धारण कर लिया परन्तु जब वह श्रीकृष्ण को आकाश में ले गया तब श्रीकृष्ण ने भी अपना भार बढ़ा लिया। अतः कृष्ण जी के भार को न सह सकने के कारण उस दैत्य का वेग रुक गया और कृष्णजी ने उसका गला ऐसा पकड़ा कि वह अपने को न छुड़ा सका। अन्त में उसकी बोलती बन्द हो गई और वह मर गया।[2] इस कथा में अतिमानवीय बातें अधिक हैं।

---

१ अरिष्टनेमि पुराण, अध्याय ३५-४०

२ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय ७

हरिऔध जी ने इस अतिमानवीय रूप को निकाल कर उसको बुद्धिसंगत बनाने का प्रयत्न किया है और इस कथा को सरल और सीधे ढंग से रखा है। आपने तृणावर्त्त को दैत्य नहीं माना है, अपितु उसे अचानक ही उठने वाली भयंकर आँधी कहा है, जिसकी भयंकर गर्जना ने समस्त दिशाओं को कँपा दिया था। जिसके प्रबल वेग के कारण सर्वत्र घनघोर बादल छागये, अनेक वृक्ष उखड़ गये, छतें उड़ गईं, भवन हिल गये तथा समस्त व्रजजनों की बुरी दशा हो गई। परन्तु तृणों के इस आवर्त्त या भ्रमर की यह विडम्बना कुछ क्षणों में ही इस तरह समाप्त हो गई, जिस तरह प्रायः आँधियाँ कुछ देर चलने के बाद स्वयं ही रुक जाती हैं। उस समय कृष्ण भी अनायास घर में कहीं छिपकर बैठ गये थे, परन्तु आँधी के समाप्त होते ही हँसते और किलकते हुए घर में से निकल आये। अतः यह कोई दैत्य की लीला या अतिमानव का कार्य नहीं था, अपितु प्रकृति का प्रकोप था, जो प्रायः होता ही रहता है।[1]

(२) कालिय नाग की कथा—श्रीमद्भागवत में कालिय नाग को रमणक द्वीप में रहने वाला एक महान् सर्प माना गया है। वह बड़ा विषैला था और गरुड़ तक की परवा नहीं करता था। एक बार गरुण और कालिय नाग में युद्ध हो गया। कालिय नाग अपने एक सौ एक फन फैलाकर गरुण को डसने के लिए उन पर टूट पड़ा। परन्तु गरुड़ ने अपने पंख से ऐसा प्रहार किया कि उसकी चोट खाकर कालिय नाग रमणक द्वीप से भागकर यमुना के कुंड में आकर रहने लगा था। इस कुण्ड में गरुड़ जी शापवश आ नहीं सकते थे।[2] अतः यहाँ वह स्वच्छंदतापूर्वक अपने विषैले प्रभाव से यमुना के उस कुण्ड के जल को विषाक्त बनाकर रहा आता था। उस जल को जो कोई प्राणी पीता, वही तुरन्त मर जाता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने खेल ही खेल में उस कालिय दह में कूदकर उस नाग को पकड़ लिया और अपने पैरों की चोट से उसके एक सौ एक फनों को कुचल डाला। इससे उस नाग की जीवनी-शक्ति क्षीण हो चली, वह मुँह और नथुनों से खून उगलने लगा तथा अंत में चक्कर काटकर मूच्छित हो गया। अन्त में उसकी पत्नियों ने प्रार्थना करके उस नाग के प्राण बचाये। परन्तु श्रीकृष्ण ने कहा कि अब इसे इस यमुना कुण्ड को छोड़कर अपने रमणक द्वीप में ही चला जाना चाहिए। अन्त में कालिय नाग और उसकी पत्नियों ने श्रीकृष्ण की पूजा की और वे सब अपने

---

१. प्रियप्रवास २।३६-४५

१. श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १७

परिवार सहित रमणक द्वीप को चले गये।[1] हरिग्रौध जी ने इस कथा में यह परिवर्तन किया है कि उस नाग को सदैव उसी कुण्ड में रहने वाला लिखा है और अपनी जाति एवं लोक-हित की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण को उस नाग के भगाने का कार्य करते हुए बनाया है। व्रज-जनों की आकुलता, यशोदा-नन्द की अधीरता, सभी के रोदन आदि का वर्णन तो दोनों स्थानों पर समान ही है। परन्तु उस नाग को वश में करने की पद्धति में हरिग्रौध जी ने परिवर्तन प्रस्तुत किया है। प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण पहले वेणु-नाद के द्वारा बडी सावधानी से उस भयकर नाग को वश में करते हैं और फिर युक्तियों के साथ उसे निकटवर्ती पर्वत के समीप एक गहन वन में निकाल देते हैं। साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि बहुत से व्यक्ति यह भी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने उस नाग को सपरिवार मार डाला था। कुछ मनीषी यह भी विचार करते हैं कि वह नाग अभी तक किसी गड्ढे में छिपा पड़ा है और बहुत से जनों से यह भी सुना गया है कि वह नाग विष-दंतहीन होकर इस व्रज-भूमि को छोडकर कहीं अन्यत्र चला गया है।[2] इस तरह इस कथा में से भी कवि ने कृष्ण जी के प्रति मानवीय रूप को हटाकर एक साधारण व्यक्ति के रूप की प्रस्थापना की है।

(३) **दावानल की कथा**—श्रीमद्भागवत पुराण में दावानल का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक दिन जिस समय सभी गायें वन में चर रही थी, उसी समय अचानक दावाग्नि लग गई। साथ ही बडी जोर से आँधी भी चलने लगी। उस समय समस्त गोप, गायें तथा अन्य वन के प्राणी श्रीकृष्ण सहित उस भयकर दावाग्नि में फँस गये। तब अपने सखा ग्वाल-बालों की असहाय अवस्था देखकर भगवान् कृष्ण बोले—"डरो मत, तुम अपनी आँखें बद करलो।" इतना सुनते ही समस्त गोपों ने अपनी-अपनी आँखें बंद करली। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस भयकर आग को अपने मुँह से पी लिया और सभी प्राणियों को उस घोर सकट से बचा लिया। इतना ही नहीं तदनन्तर आँखें खोलते ही समस्त गोपों ने अपने को भांडीर वट के पास पाया। इस तरह सभी प्राणियों को दावानल से बचा देख सभी ग्वाल-बाल बड़े विस्मित हुए और श्रीकृष्ण की योगसिद्धि एवं योगमाया के प्रभाव से अपनी

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १६

२. प्रियप्रवास ११।११-५४

रक्षा देखकर सब यही समझने लगे कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं।[1] हरिऔध जी ने भी इस भयंकर दावानल का ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु ग्वाल-बालों, गायों आदि की अत्यंत कारुणिक दशा देखकर श्रीकृष्ण ने उनके उद्धार का जो उपाय यहाँ किया है, वह भागवत से सर्वथा भिन्न है। भागवत में तो वे आग को पी जाते हैं। परन्तु यहाँ अपने बन्धु-वर्ग एवं अपनी गायों की रक्षा के लिए वे आग में कूद पड़ते हैं तथा अपनी अलौकिक स्फूर्ति दिखाते हुए समस्त ग्वालों एवं गायों को उस भयंकर दावानल में से एक दुरूह पंथ द्वारा निकाल लाते हैं।[2] यहाँ भी उस अतिमानवीय कार्य को साधारण जनोचित बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(४) गोवर्द्धन-धारण की कथा—श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है कि पहले ब्रजजन इन्द्र के लिए यज्ञ किया करते थे। परन्तु कृष्ण जी के कहने से एक बार इन्द्र के लिए किया जाने वाला यज्ञ ब्रज में बन्द कर दिया गया। अपनी पूजा के बन्द हो जाने से इन्द्र क्रुद्ध हो गये और उन्होंने प्रलयकारी मेघों को बुला कर ब्रज पर मूसलाधार वर्षा करने की आज्ञा दी। सहसा ब्रज में घनघोर घटायें छा गईं और भयंकर वर्षा हुई, जिसमें सारा ब्रज डूबने लगा। तब भगवान् कृष्ण ने अपने ब्रज-प्रदेश की रक्षा करने के लिए खेल ही खेल में एक ही हाथ से गिरिराज गोवर्द्धन को उखाड़ लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्ते के पुष्प को उखाड़कर हाथ पर रख लेते हैं, वैसे ही उन्होंने उस महान पर्वत को धारण कर लिया। तदनन्तर भगवान ने समस्त गोपों, गायों एवं अन्य प्राणियों को सम्पूर्ण सामग्री के साथ उस पर्वत के गड्ढे में आराम से स्थापित कर दिया। इस तरह वे सात दिन तक बराबर उस पर्वत को धारण करते रहे। अंत में जब इन्द्र का कोप शान्त हो गया, वर्षा सम्बन्धी सारी बाधा दूर हो गई, तब उस पर्वत को भगवान् ने सब प्राणियों के देखते-देखते पूर्ववत् उसके स्थान पर ही रख दिया।[3] हरिऔध जी ने इस कथा को भी बुद्धिसंगत बनाने के लिए यह परिवर्तन किया है कि ब्रज में होने वाली उस भयंकर वर्षा से अपने बन्धु-बांधवों, गायों, ग्वाल-बालों आदि को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने सबसे यह कहा कि यह आपत्ति तो शीघ्र दूर हो नहीं सकती, अतः आप सभी लोग घर छोड़कर गोवर्द्धन पर्वत

१. श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय १६
२. प्रियप्रवास, ११।५६-६६
३. श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय २५

की कंदराओं, दरियों अथवा गुफाओं में आकर रहने लगो। इसमे बहुत सी कदरायें अत्यत दिव्य हैं, बहुत विस्तृत हैं और व पुर-ग्राम के निकट भी हैं। कृष्ण जी की यह प्रिय बात सुनकर सभी ब्रजजन तुरन्त ही उस पर्वत में रहने के लिए चल दिये। वहाँ कृष्ण जी ने उनके लिए सभी प्रकार की सुविधायें प्रस्तुत कर दी थी और रोगी, वृद्ध एव दुखी जनों को लेजाने के लिए उन्होंने बहुत से सहायक लगा दिये थे। इस तरह सम्पूर्ण ब्रज श्रीकृष्ण के कहने पर गिरिराज गोवर्द्धन की कंदराओं में जाकर रहने लगा था और उस पर्वत पर श्रीकृष्ण दिनरात घूम घूम कर समस्त ब्रज-जनों की सुख-सुविधा में लगे रहते थे। अतः उनका इतना अधिक प्रसार देखकर सभी यह कहने लगे कि श्याम ने पर्वत को उगली पर उठा लिया है।[1]

(५) अघासुर की कथा—भागवत में लिखा है कि अघासुर पूतना और बकासुर का छोटा भाई था तथा कस के द्वारा ब्रज में कृष्ण एव गोपों को नष्ट करने के लिए भेजा गया था। एक दिन वह भयकर अजगर का रूप धारण कर के उस मार्ग में लेट गया, जहाँ से गोप-मंडली गायें चराने के लिए वन में जाया करती थी। उसका शरीर एक योजन लम्बा तथा पर्वत के समान विशाल एव मोटा था। उसका विचार था कि जैसे ही ग्वाल बाल यहाँ से निकलेंगे, मैं तुरन्त ही उन्हें निगल जाऊँगा। इसीलिए वह अपने चौड़े मुख को फाड़े हुए मार्ग में लेट गया। जब ग्वाल-बालों ने उसे देखा, तो वे उसके बारे में नाना प्रकार की कल्पनायें करने लगे। तब श्रीकृष्ण स्वय उसके मुख में घुस गये और मुख में जाकर अपने शरीर को इतना बड़ा बना लिया कि उसका गला ही रुँध गया। आँखें उलट गईं और वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा। अत में उसे मार कर भगवान कृष्ण उसके मुख से बाहर निकल आये और सभी ग्वाल-बालों को उस दैत्य से बचा लिया।[2] हरिऔध जी ने इस कथा को साधारण रूप देते हुए उस भीषण सर्प को वहीं पर्वत की कंदराओं में रहता हुआ बताया है और लिखा है कि वह कभी-कभी अपनी भूख शान्त करने के लिए बाहर निकल आता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने एक पेड़ पर चढ़कर उस भीषण सर्प को देख लिया और तुरन्त उसके समीप पहुँच कर अपने वेणु को इतनी सुन्दर रीति से धीरे-धीरे बजाने लगे कि वह सर्प वेणुनाद पर मोहित हो गया। तब बड़े कौशल के साथ श्रीकृष्ण ने घेर अस्त्र-

---

१ प्रियप्रवास १२।१८-६८
२ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध, अध्याय १२

-शस्त्र द्वारा उसका वध कर दिया। उस सर्प की वह विशाल काया बहुत दिनों तक वन में पड़ी रही।[1] अतः उसे दैत्य आदि न मानकर कवि ने केवल एक भयानक सर्प ही माना है और कुशल रीति से उसके वध का वर्णन किया है।

(६) केशी की कथा—भागवत में लिखा है कि केशी नाम का एक दैत्य था, जिसे कंस ने श्रीकृष्ण को मारने के लिए भेजा था। वह दैत्य एक बड़े भारी घोड़े का रूप धारण करके वेग से दौड़ता हुआ व्रज में आया। उसकी हिनहिनाहट से सारा गोकुल ग्राम भयभीत हो उठा। तब वह श्रीकृष्ण के पास पहुँच गया और सिंह के समान गरजता हुआ अपनी दुलत्ती से उन्हें मारने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु श्रीकृष्ण तो बड़े चालाक थे। वे उसकी दुलत्ती से बच गये और उन्होंने अवसर पाकर अपने दोनों हाथों से उसके दोनों पिछले पैर पकड़ लिए। फिर जैसे गरुड़ सांप को पकड़ कर झटक देते हैं, उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने भी तीव्रता से उसे घुमाकर बड़े अपमान के साथ चार सौ हाथ की दूरी पर फेंककर स्वयं अकड़कर खड़े हो गये। वह केशी पुनः सावधान होकर भगवान् पर आ झपटा। अब की बार श्रीकृष्ण ने अपना एक हाथ उसके मुँह में अन्दर कर दिया, जिससे उसके सम्पूर्ण दाँत टूट गये। वह हाथ मुँह में जाते ही बढ़ने लगा, जिससे उस केशी दैत्य की साँस के आने-जाने का मार्ग रुक गया। अब तो वह छटपटाने लगा और थोड़ी ही देर में निष्प्राण होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस तरह अनायास ही प्रचंड बाहु द्वारा भगवान् कृष्ण ने उस विशाल अश्व रूपधारी केशी दैत्य का विनाश कर दिया।[2] हरिऔध जी ने अन्य सभी बातें तो वैसी ही लिखी हैं, जैसी कि भागवत में वर्णित है, परन्तु एक तो उसे दैत्य नहीं माना है, दूसरे उसके वध के बारे में अतिमानवीय तत्व को निकाल कर अर्थात् विशाल भुजा को मुख में न डाल कर श्रीकृष्ण ने एक विशाल डंडा लेकर उसे घेर लिया और लगातार आघात करके उसे मार डाला, ऐसा लिखा है।[3] अतः कवि की दृष्टि यहाँ भी कथा को बुद्धिसंगत बनाने की ओर रही है।

(७) व्योमासुर की कथा—भागवत में लिखा है कि व्योमासुर मायावियों के आचार्य मयासुर का पुत्र था और बड़ा ही मायावी था। एक दिन वन में ग्वाल-बाल श्रीकृष्ण सहित लुका-छिपी का खेल-खेल रहे थे। उसी

१. प्रियप्रवास १३।३७-५७

२. श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय ३७

३. प्रियप्रवास, १३, ५८-६७

समय यह व्योमासुर ग्वाल का वेष धारण करके वहाँ आ मिला और जो ग्वाल चोर बने हुए थे उनके साथ चोर बन कर ही खेलने लगा। अब वह चोर बन कर बहुत से ग्वालों को चुरा-चुराकर एक पहाड़ की गुफा में ले जाकर डाल देता और उस गुफा के दरवाजे को एक बड़ी चट्टान से ढक देता था। इस तरह जब केवल चार-पाँच ग्वाल ही शेष रह गये, तब भगवान् कृष्ण को उसकी करतूत पता चल गई और जिस समय वह ग्वाल-बालों को लिए जा रहा था उसी समय उन्होंने जैसे सिंह भेड़िये को दबोच ले उसी तरह उसे धर दबाया। व्योमासुर भी बड़ा बली था। परन्तु श्रीकृष्ण ने उस अपने शिकंजे में फाँसकर तथा दोनों हाथों से भूमि पर गिराकर उसका गला घोट दिया। कुछ ही देर बाद राक्षस मर गया। तब भगवान् कृष्ण ने गुफा के द्वार पर लगी चट्टान को तोड़ कर ग्वाल-बालों को सकट से छुड़ाया।[1] हरिऔध जी ने इस कथा को पूर्णत बदल दिया है। आपने व्योम को एक पशुपाल माना है, जो प्राणियों को पीड़ा देकर अपना मनोविनोद किया करता था। वह कभी बैल बछड़े या गायें चुरा लेजाता था, कभी उन्हें जल में डुबा देता था और कभी उन्हें भारी डंडे से आघात करके अगहीन कर देता था। कभी-कभी वह वृथा ही वन में आग लगाकर निरीह गायें और बछड़ों को जला देता था। उसके इन दुष्कर्मों एवं दुराचारों से सारी व्रजभूमि पीड़ित थी। तब श्रीकृष्ण ने एक भारी एवं लम्बी सी यष्टि (छड़ी) लेकर उस नीच को मार डाला और अपने व्रजजनों को उस खल की क्रूरता से बचा लिया।[2] कवि का ध्यान यहाँ पर भी कथा को न्यायसगत एवं तर्कसम्मत बनाने की ओर रहा है।

इन कथाओं के अतिरिक्त जितनी भी अन्य कथाओं के सकेत 'प्रियप्रवास' में मिलते हैं उनका न तो कवि ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और न कुछ उनमें परिवर्तन ही प्रस्तुत किया है। हाँ इतना अवश्य है कि कथाओं का जो क्रम होना चाहिए था, वह क्रम कवि ने अपने इस काव्य में नहीं रखा है। यहाँ जन्म से लेकर जरासध के आक्रमण तक की घटनाओं को कवि ने आभीरों या ग्वाल बालों या गोपियों के स्मरण के रूप में ही प्रस्तुत किया है। केवल क्रम से चार घटनाओं का ही वर्णन मिलता है—(१) अक्रूर के साथ श्रीकृष्ण एवं बलराम का मथुरा गमन, (२) उद्धव का गोप-

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कध, अध्याय ३७

२ प्रियप्रवास ११।६८-८४

गोपियों के समझाने के लिए गोकुल में आगमन, (२) उद्धव का गोप-गोपियों को योग मार्ग का उपदेश देना तथा स्वयं राधा के भक्त होकर मथुरा लौटना और (४) जरासंध के आक्रमण एवं श्रीकृष्ण का द्वारिकागमन। इन चार घटनाओं का वर्णन तो कवि ने ठीक-ठीक क्रम से किया है, परन्तु श्रीकृष्ण संबंधी शेष घटनाओं को आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र विरह-व्यथित गोप-गोपियों के मुख से कहलवाकर कथा-वस्तु की नवीन ढंग से योजना की है।

वस्तु में नवीन उद्भावनायें—अभी तक 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु से सम्बन्धित उन घटनाओं पर विचार किया गया है, जिनका उल्लेख कथाओं के रूप में प्राचीन ग्रन्थों में भी मिल जाता है। परन्तु अब देखना यह है कि उन प्राचीन कथाओं के अतिरिक्त हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में वस्तु सम्बन्धी और कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता और जो कवि की अपनी देन मानी जाती हैं। उनमें से निम्नलिखित तीन प्रसंग प्रमुख हैं :—

(१) पवन-दूती प्रसंग, (२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप और (३) राधा का लोक-सेविका रूप।

(१) पवन-दूती प्रसंग—'प्रियप्रवास' में विरह-विधुरा राधा श्रीकृष्ण के वियोग में अत्यन्त दुःखी होकर अपनी वेदना को श्रीकृष्ण तक पहुँचाने के लिए प्रातः पवन को दूती बनाकर भेजती है। प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की प्रथा भारतीय काव्यों में अत्यन्त प्राचीन है। इसका श्रीगणेश हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद में ही मिल जाता है, क्योंकि ऋग्वेद में प्रकृति के पदार्थों को अपना संदेश देवताओं तक लेजाने वाला माना गया है। उदाहरण के लिए 'अग्नि सूक्त' में ही यह कहा गया है कि "अग्नि प्राचीन एवं नवीन ऋषियों द्वारा प्रार्थना एवं स्तुति करने योग्य है। वह अग्नि समस्त देवताओं को यहाँ बुलाकर लावे, जिससे वे हमारे यज्ञ को पूर्ण करें।"[१] यहाँ स्पष्ट ही अग्नि को देवताओं के पास यज्ञ का संदेश लेजाने वाला माना गया है। इसी आधार पर आगे चलकर काव्यों में पशु, पक्षी, बानर, मेघ आदि को संदेश लेकर जाता हुआ चित्रित किया गया है। उपनिषद् की कथाओं में नचिकेता को इसीलिए बैल, अग्नि, पक्षी आदि से ब्रह्म का संदेश प्राप्त होता है। रामायण में भगवान् राम का संदेश एक बानर हनुमान लेकर जाता है और

---

१. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋग्वेद १।१।२

सीताजी को उनकी सारी व्यथा कथा सुनाता है। महाभारत मे नलोपाख्यान के अतर्गत हस पक्षी निषध देश के राजा नल का सदेश लेकर दमयन्ती के पास जाता है।[1] महाकवि कालीदास रचित 'मेघदूत' काव्य मे तो स्पष्ट ही मेघ विरही यक्ष का सदेश अलकापुरी मे स्थित यक्ष की पत्नी के पास ले जाता हुआ चित्रित किया गया है क्योंकि वहाँ यक्ष मेघ से कहता है कि 'हे मेघ! आप सतप्त जीवो को शरण देने वाले हैं अर्थात् जो धूप से दुखी हैं अथवा जो प्रवास विरह से दुखी हैं उन्हे क्रमश जल से और अपने स्थान पर जाने की प्रेरणा करके आप उनकी रक्षा करते हैं। मैं भी भगवान कुबेर के क्रोध से अपनी प्रिया से वियुक्त हो गया हू। अत मेरे सदेश को मेरी विरहिणी प्रिया के समीप ले जाइये। मेरी वह प्रिया यक्षश्वर की नगरी उस अलकापुरी मे निवास करती है जिसके बाहरी उद्यान मे विराजमान शिवजी के शिर की चन्द्रिका से वहाँ के धनिको के गृह सदैव देदीप्यमान रहते हैं।[2] कालिदास के मेघदूत के ही अनुकरण पर आगे चलकर धोई का पवनदूत लिखा गया। इसी आधार पर नेमिदूत हसदूत उद्धवदूत आदि काव्य लिखे गये।

हिन्दी-साहित्य मे भी यह दूत प्रणाली प्रारम्भ से प्रचलित है। हिन्दी भाषा के सर्वप्रथम महाकाव्य पृथ्वीराज रासो मे महाराज पृथ्वीराज का सदेश लेकर एक तोता पद्मावती के पास समुद्र शिखर नामक दुर्ग मे जाता है और वह तोता महाराज पृथ्वीराज का सदेश देता हुआ उनके यश वैभव आदि के बारे मे अनेक कथायें सुनाता है।[3] महाकवि विद्यापति ने भी अपने पदो मे विरहिणी नायिका के समीप काग को उसके प्रिय का सदेश लेकर आने वाला माना है क्योंकि एक दिन विरहिणी अपने आँगन मे चन्दन के वृक्ष पर बैठकर बोलते हुए काग से कहती है कि 'यदि तुम्हारे बोलने से आज मेरे

---

१ महाभारत वन पर्व अध्याय ५२।२१-३२

२ सतप्ताना त्वमसि शरण तत्पयोद प्रियाया
सदेश मे हर धनपतिक्रोध विश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षश्वराणा
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या॥
—मेघदूत, पूर्वमेघ ७

३ सुक्कसमीप मन कुँवरि को लग्यो वचन के हेतु।
अति विचित्र पडित सुआ कथत जु कथा अमेत॥
—पद्मावती, विवाह समय—१३

प्रियतम घर आजायें, तो मैं तेरी चोंच सोने से मढ़वा दूंगी।[1] सूफी कवियों में तो यह प्रणाली अत्यधिक प्रचलित दिखाई देती है। उनके काव्यों में प्राय: सभी विरहिणी नारियाँ अपना-अपना संदेश तोता, परेवा, भौंरा, काग आदि के द्वारा ही भेजती हैं। सूफ़ी कवि जायसी के 'पदमावत' में पद्मावती का संदेश लेकर तोता आता है, जो राजा रतनसेन को पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करके अपने साथ ही लिवा ले जाता है। आगे चलकर राजा रतनसेन के वियोग में व्यथित उनकी पहली रानी नागमती अपना विरह-संदेश भौंरा एवं काग द्वारा भेजती है और कहती है कि प्रियतम से कह देना कि तुम्हारी प्रिया तुम्हारे वियोग की अग्नि में जलकर मर गई, उसी का धुँआ हमें लगा, जिससे हम काले हो गये और घबड़ाकर तुम्हारे पास आए हैं।[2] सूफ़ी कवि उसमान ने अपने 'चित्रावली' काव्य में चित्रावलि के विरह का संदेश लेकर परेवा को राजकुमार के पास भेजा है। वह परेवा राजकुमार को संदेश सुनाता है तथा उसे चित्रावलि से मिलाने की पूरी-पूरी व्यवस्था करता है।[3] सूफ़ी कवि क़ासिमशाह ने अपने 'हंस जवाहिर' काव्य में जवाहिर हंस पक्षी को अपने प्रियतम का नाम स्मरण करते हुए सुनती है, जिसे सुनकर वह चकित हो जाती है और उसके द्वारा अपने विरह का संदेश भेजने की इच्छा प्रकट करती है।[4] अंत में उसी के द्वारा अपना संदेश भेजती है। सूफी कवियों के काव्यों में अनेक पक्षी संदेहवाहक का कार्य करते हुए दिखाई देते हैं।

---

१. भौरा रे अँगनवाँ चनन केरि गछिआ ताहि चढ़ि कुरूरय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देव तोयँ वायस जओं पिआ आओत आज रे।।

—विद्यापति पदावली—भावोल्लास—२२२

२. पियसौं कहेउ संदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुँआ हम लाग।।

—नागमती विरहखंड

३. चला परेवा कहि यह बाता। आवा जहँ जोगी रंगराता।।
कहेसि कुँवर बुध रैनि बिहानी। उठि चलु अब सुख घरी तुलानी।।

—सूफी काव्य संग्रह, पृ० १३८

४. कहो नाँव तुम आपनो, कहो बसो ज्यहि देश।
सुमरिन करौं सो हिये मंह, पठवौं तहाँ संदेश।।

—सूफी काव्य संग्रह, पृ० १४६

महाकवि तुलसीदास ने भी अपने काव्यों में प्राकृतिक जीव-जन्तुओं को संदेशवाहक के रूप में कार्य करते हुए अंकित किया है। सर्वप्रथम वे गृद्धराज जटायु नामक पक्षी के द्वारा अपने पिता के पास संदेश भेजते हैं और कहते हैं कि तुम सीताहरण की बात पिताजी से मत कहना, क्योंकि यह सुनकर पिताजी को अत्यंत दुख होगा। यह सब समाचार तो दशानन स्वयं अपने परिवार के सहित स्वर्ग में आकर पिताजी को सुनायेगा।[1] तदनन्तर 'बाल्मीकि रामायण' की भाँति तुलसी के 'रामचरित मानस' में हनुमान तथा अंगद जैसे वानर राम का संदेश लेकर क्रमशः सीताजी के पास और रावण के दरबार में जाते हैं। रीतिकाल के स्वच्छन्द कवि घनानद ने विरहिणी का विरह-निवेदन करते हुए पवन को उसके विरह का संदेश लेजाने के लिए आग्रह किया है और बताया है कि "हे पवन! तू सब जगह आती-जाती रहती है, तनिक मुझ पर भी कृपा कर और मेरे प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के पैरों की धूल तनिक मेरे लिए लाकर देदे, जिसे मैं अपनी विरह-व्यथा को दूर करने के लिए अपनी आँखों में धारण कर लूँगी।"[2]

इस प्रकार हरिऔध जी के सामने प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। उसी परम्परा के अनुकूल प्रसंग देखकर आपने अपने 'प्रियप्रवास' में पवन को दूती बनाकर भेजने की

---

१ मेरी सुनियो, तात! संदेसो।
सिया-हरन जनि कह्यो पितासों, ह्वैहै अधिक अँदेसो।
रावरे पुन्य प्रताप, अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहै।
कुल-समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहै॥
—गीतावली, अरण्यकांड

२ ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन,
बीर तोसों और कौन मनै ढरकोहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान,
घन-आनन्द-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
विरह-विथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्हें पाँयन की हा! हा! नेकु आनि दै।
—घनानंद कवित्त

कल्पना की। अब यदि इस 'पवन-दूती' प्रसंग के बारे में विचार करें तो पता चलेगा कि इस वर्णन पर कालिदास के 'मेघदूत' का अत्यधिक प्रभाव है। अंतर केवल इतना ही है कि कालिदास ने जिन भावों एवं उद्गारों को यक्ष के द्वारा मेघ के सामने व्यक्त कराया है, उन्हीं भावों एवं उद्गारों को यहां राधा पवन के सम्मुख प्रकट करती है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' में यक्ष कहता है कि "हे मेघ ! मेरे प्रिय कार्य को शीघ्र पूरा करने की उत्कट लालसा तुम्हारे हृदय में विद्यमान है, फिर भी मैं यह देख रहा हूँ कि विकसित कुटज के पुष्पों से परिपूर्ण सुगंध वाला प्रत्येक पर्वत तुम्हें आकर्षित करके मार्ग में तुम्हारे विलम्ब का कारण होगा। अतः आँसुओं से परिपूर्ण नयन वाले मयूरों की वाणियों का स्वागत करके तुम किसी रीति से शीघ्र ही जाने की चेष्टा करना।"[1]

हरिऔध जी ने उक्त भाव को अपने 'पवन-दूती' प्रसंग में तनिक सा परिवर्तन करते हुए इस तरह व्यक्त किया है:—

"ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुंज-पुंजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ तू न विश्राम लेना॥"

इसके अतिरिक्त 'मेघदूत' में यक्ष मेघ से कहता है—"हे मेघ ! कृषि कार्य का फल तुम्हारे ही अधीन है। इसलिए भ्रुकुटि-विलासों से अनभिज्ञ कितनी ही कृषक रमणियाँ बड़े प्रेम के साथ तुम्हें आँखों से पीती हुई देखेंगी। उस समय हल के जोतने से उत्पन्न सुरभि वाले उन्नत क्षेत्र में जलवृष्टि करके तुम शीघ्र ही उत्तर दिशा की ओर चल देना।"[2] 'मेघदूत' के इस भाव को

---

१. उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥
—मेघदूत, पूर्व मेघ, २२

२. त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य मालं
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥
—वही, पृ० १६

हरिग्रौध जी के 'प्रियप्रवास' मे राधा पवन के सम्मुख इस तरह व्यक्त करती है —

> कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत मे जो दिखावे।
> धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियो को मिटाना।
> जाता कोई जलद यदि हो व्योम मे तो उसे ला।
> छाया द्वारा सुखित करना तप्त भूतागना को॥

इसके साथ ही मेघदूत मे यक्ष कहता है— हे मेघ! तुम विदिशा-नगरी की गुफाओं मे आराम करके वन की नदियो के तटवर्ती बगीचो मे उत्पन्न मागधी कुसुमो को नूतन जल के बिन्दुओ से सींचकर कपोलो पर के पसीने के बिन्दुओ को पोछ देने के कारण जिन महिलाओ के कमल पत्रो के बने कर्ण भूषण मलिन पड गये हैं उन फूलो को तोडने वाली रमणियो को छायादान देकर कुछ देर तक उनसे परिचय प्राप्त करना।'[१] 'प्रियप्रवास' मे राधा इसी भाव को पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है —

> तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
> उद्यानो मे वर नगर के सुन्दरी मालिनो को।
> वे कार्यों मे स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होगी।
> जो श्रान्ता हो सरस गति से तो उन्हे मोह लेना।
> जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प संभार से ले।
> आते जाते स रुचि उनके प्रीतमो को रिझाना।

मेघदूत' मे यक्ष मेघ से कहता है कि हे मेघ! यदि तुम महाकाल के मन्दिर मे सायकाल के समय न पहुँचकर किसी अन्य समय पहुँचे तो कम से कम सायकाल तक वहाँ अवश्य रुकना, क्योकि प्रदोष काल मे प्रशसनीय पवित्र पूजा के समय नगाडे की ध्वनि का काम अपनी गर्जना ध्वनि द्वारा पूर्ण करने के कारण तुम्हें अपनी गभीर गर्जना का अखड फल प्राप्त होगा।[२]

---

१ विश्रान्त सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिंच-
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्।
—मेघदूत पूर्व मेघ, २६

२. अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानु।

'प्रियप्रवास' में इसी भाव को राधा पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है—

देख पूजा समय मथुरा मन्दिरों-मध्य जाना।
नाना वाद्यों मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किम्वा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलों को।
धीरे-धीरे मधुर रव से मुग्ध हो हो बजाना।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हरिऔध जी के 'पवन-दूती' प्रसंग पर 'मेघदूत' का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में पड़ा है। इसके अतिरिक्त घनानंद का भी प्रभाव इस वर्णन पर दिखाई देता है। क्योंकि घनानंद ने जहाँ विरहिणी नायिका के द्वारा पवन से यह कहलवाया है :—

"एरे बीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन,
बीर तोसौ और कौन मनै ढरकौहीं बानिदै।

× × ×

बिरह-बिथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि
धूरि तिन्ह पायन की हा ! हा ! नैकु आनिदै।"

वहाँ हरिऔध जी की राधा भी पवन से यही याचना करती है :—

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोड़ी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमें तू।
हा ! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूँगी।
जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि उसको अंग में मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय-तल में वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूँगी।

इस तरह हरिऔध जी के इस पवनदूती-प्रसंग पर अपने पूर्ववर्ती कवियों का पर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि

कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया-
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्।

इसमे कुछ नवीनता एव मलिकता ही नही है। कवि ने राधा के मुख से पवन को विरह-व्यथा का सदेश देने के लिए जो-जो मार्मिक युक्तियाँ एव क्रियायें कहलवाई हैं उनमे पर्याप्त नवीनता एव मौलिकता के दर्शन होते हैं। कालिदास ने तो केवल मेघोचित कार्यकलापो का दिग्दर्शन कराके अत मे यक्ष-पत्नी के अनुपम सौंदर्य की छटा अकित की है जब कि हरिऔध जी ने पवनोचित क्रियाओ का उल्लेख करके नाना प्रकार से दूत कार्य करने की युक्तियाँ दी हैं तथा अत मे श्रीकृष्ण के समीप से उनकी चरण धूल मृदुल स्वर नवल-दल की सुगधि अगराग के पतित कण अथवा पुष्पमाला का कोई विकच पुष्प मे से कोई एक पदार्थ लाने का आग्रह किया है। यदि इनमे से कोई भी पदार्थ वह न ला सके तो उससे यह कहा है कि—

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानके औ चली जा॥
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय तल मे मैं तुझी को लगा के॥

कवि की इन उक्तियों मे सजीवता एव मार्मिकता के साथ पर्याप्त नवीनता के भी दर्शन होते हैं। परन्तु इस पवनदूती प्रसग में राधा एव विरहिणी नायिका न रह कर अत्यन्त नीति निपुणा युक्ति-कुशला स्वभाव से ही अतीव चतुरा नायिका के रूप मे दिखाई देती है। वह ऐसी ज्ञात नही होती कि उसके हृदय मे विरह की विह्वलता हो व्यथा की कसक हो वेदना की तीव्रता हो और चेतन अचेतन मे अन्तर जानने की क्षमता न हो। साथ ही वह ऐसी भी नही दिखाई देती कि 'क्लान्ता होके परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से नित्य ही वेदनायें प्रकट करने वाली विक्षिप्त नारी हो'[1] क्योकि क्लान्ता नारी पवन को कभी इतनी युक्तियाँ नही बता सकती। अत पवनदूती प्रसग तो मार्मिक है परन्तु यहाँ राधा के विरह निरूपण मे अस्वाभाविकता आगई है और वियोग की सुदर व्यजना नही हुई है। राधा का वह विरह कुछ-कुछ कृत्रिम एव आरोपित सा हो गया है क्योकि नवीन-नवीन उक्तियों के घटाटोप मे विरह की गभीरता एव मार्मिकता नष्ट होगई है तथा उसमे मेघदूत के यक्ष जैसी स्वाभाविकता नही आसकी है।

(२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप—श्रीकृष्ण को ईश्वर का रूप मानकर उनके प्रति श्रद्धा भक्ति का विकास तो बहुत पीछे हुआ है। पहले श्रीकृष्ण का

---

१ प्रियप्रवास १६।८३

नाम ऋग्वेद के अष्टम मंडल में एक वैदिक ऋषि के रूप में मिलता है। वेदों की अनुक्रमणिका में उन ऋषि कृष्ण को आंगिरस गोत्र का बतलाया गया है। तदनन्तर छांदोग्य उपनिषद् में कृष्ण देवकी-पुत्र के रूप में अंकित किये गए हैं और वे घोर आंगिरस के शिष्य बताए गये हैं।[१] यदि वैदिक-ऋषि कृष्ण तथा उपनिषद् के कृष्ण आंगिरस गोत्र के या आंगिरस के शिष्य हैं, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण उपनिषद् काल तक एक मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में प्रसिद्ध थे।

ऋग्वेद में इन्द्र के अनेक नामों का उल्लेख करते हुए उसे हरि, केशव, वृष्णीपति, वृषण, वासुदेव आदि कहा गया है।[२] यह वासुदेव नाम तृतीय आरण्यक में भी मिलता है। ब्राह्मणकाल के अनंतर जब 'सात्वत धर्म' का प्रचार हुआ, तब उस धर्म के आराध्य देव वासुदेव कृष्ण ही थे। जातक कथाओं में वासुदेव को मथुरा के समीपवर्ती एक राजा कहा है तथा महाभारत में तो कृष्ण को स्पष्ट ही वासुदेव, यादव, वार्ष्णेय आदि कह कर वसुदेव-देवकी का पुत्र, वृष्णिवंशी, यदुवंशी आदि स्वीकार किया गया है।[३] इसके अतिरिक्त छांदोग्य उपनिषद् में भी जब "तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकी पुत्राय" आदि वाक्यों में देवकी-पुत्र कृष्ण की चर्चा मिल जाती है, तब वसुदेव-देवकी के पुत्र वासुदेव और कृष्ण के साम्य की कल्पना निराधार नहीं जान पड़ती। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल तक ऐसी जन-श्रुतियाँ अवश्य प्रचलित रही होंगी, जिनमें वासुदेव तथा कृष्ण को एक माना जाता रहा होगा। फिर 'सात्वत धर्म' का प्रचार होने पर जब वासुदेव को देवत्व पद प्राप्त हुआ, तब श्रीकृष्ण को भी अनायास ही देवत्व पद प्राप्त हो गया। डा० रामकुमार वर्मा ने एक और मत की ओर संकेत किया है। आपने लिखा है कि "जातकों की गाथा के भाष्यकार का मत है कि कृष्ण एक गोत्र नाम है और यह क्षत्रियों द्वारा भी यज्ञ-समय में धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्णरूप है कार्ष्णायन। वासुदेव उसी कार्ष्णायन गोत्र के थे। अतः उनका नाम कृष्ण हो गया।"[४]

इसके अतिरिक्त महाभारत में नारायण के चार अवतार माने गये

---

१ छांदोग्य उपनिषद् ३।१७

२. वैष्णव धर्म, पृष्ठ १४

३. महाभारत—भीष्मपर्व, अध्याय ३५

२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ४६३

हैं—वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमे से वासुदेव को आदि—ब्रह्म, सकर्षण को प्रकृति, प्रद्युम्न को मानस और अनिरुद्ध को अहकार माना गया है तथा वासुदेव मे ही सम्पूर्ण सृष्टि का विकास मानते हुए उन्हे सम्पूर्ण वेदो का मुख प्रणव, सत्य, ज्ञान, यज्ञ, तितिक्षा, इन्द्रिय सयम, सरलता और परमतत्व का रूप कहा है। इतना ही नही उन्ही वासुदेव को सनातन पुरुष, विष्णु तथा ससार की सृष्टि एव प्रलय करने वाले अव्यक्त एव सनातन ब्रह्म भी माना है।[1]

परन्तु सर भण्डारकर का कहना है कि वासुदेव और कृष्ण मे अन्तर है। उनका मत है कि 'सात्वत' एक क्षत्रिय वश का नाम था, जिसे 'वृष्णि' भी कहते थे। वासुदेव इसी 'सात्वत' वश के एक महापुरुष थे और उनका समय ईसा से ६०० वर्ष पूर्व का है। उन्होंने ईश्वर के एकत्व भाव का प्रचार किया था। उनकी मृत्यु के बाद उसी वश के लोगो ने वासुदेव को ही साकार रूप से ब्रह्म मान लिया। 'भगवत गीता' उन्ही के वश का ग्रथ है।[2] जो कुछ भी हो यह तो सभी विद्वान् मानते हैं कि ईसा से ४०० वर्ष पूर्व के लगभग श्रीकृष्ण को देवत्व रूप प्राप्त हो चुका था, क्योंकि पाणिनि की अष्टाध्यायी में वासुदेव और अर्जुन देव-युग्म माने गये हैं। प्रसिद्ध यात्री मैंगस्थनीज़ ने भी अपने विवरण मे लिखा है कि श्रीकृष्ण की पूजा मथुरा और कृष्णापुर मे प्रचलित थी। मैंगस्थनीज़ का समय भी ईसा से ३०० वर्ष पूर्व का है। यदि वासुदेव की पूजा मौर्यकाल मे प्रचलित थी, तो निश्चित ही इसका श्रीगणेश पहले ही हो गया था।

भारत में दूसरी शताब्दी के आसपास आभीरो का आगमन हुआ। यह जाति गोपालकृष्ण की उपासक थी। इसके देवता श्रीकृष्ण थे। जिस समय इस जाति ने यहाँ अपने राज्य की स्थापना की, उस समय यह निश्चित है कि श्रीकृष्ण और वासुदेव के भारत मे प्रचलित रूपो का इनके देवता के साथ भी सम्मिश्रण हुआ। इसी कारण सम्भवतः ऋषि कृष्ण, परब्रह्म वासुदेव

---

१. वासुदेव परमिद विश्वस्य ब्रह्मणो मुखम्।
सत्यं ज्ञानमथो यज्ञस्तितिक्षा दम आर्जवम्॥
पुरुषं सनातनं विष्णुं यं त वेदविदो विदु।
स्वर्ग प्रलयकर्त्तारमव्यक्तं ब्रह्म शाश्वतम्॥
—महाभारत, शान्तिपर्व-मोक्षपर्व, अध्याय २१०

२. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ४६२।

तथा विष्णुरूप कृष्ण तीनों मिलकर गोपालकृष्ण के रूप में आराध्य देव हो गये। तदनन्तर तीसरी शताब्दी में लिखे हुए 'हरिवंश पुराण' में उस काल तक कृष्ण के बारे में प्रचलित समस्त जनश्रुतियों को संकलित कर दिया गया और श्रीकृष्ण को गोप, गोपी एवं गायों का प्रिय सखा, परब्रह्म तथा गोपाल रूप देकर उनके सभी पूर्व-प्रचलित रूपों का समन्वय कर दिया गया। इसके साथ ही ब्रह्मपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण आदि में भी श्रीकृष्ण के इसी रूप की कथा विस्तार के साथ लिखी गई। परन्तु दसवीं शताब्दी में आकर जब 'श्रीमद्भागवतपुराण' की रचना हुई तथा उसके आधार पर 'नारद-भक्तिसूत्र' एवं 'शांडिल्य-भक्तिसूत्र' लिखे गये, तब श्रीकृष्ण की भक्ति सम्बन्धी भावना अत्यधिक विकसित हुई और सर्वत्र श्रीकृष्ण की कथायें बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ सुनी जाने लगीं। फिर क्या था, एक ओर रामानुजाचार्य से प्रभावित होकर उनके अनुयायी रामानन्द ने विष्णु और नारायण का रूपान्तर करके राम-भक्ति का प्रचार किया, तो दूसरी ओर निम्वार्काचार्य, मध्वाचार्य और विष्णुस्वामी के आदर्शों को मानते हुए चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार 'भागवत पुराण' के आधार पर किया, जिसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम को अधिक महत्व दिया गया तथा आत्मचिंतन की अपेक्षा आत्मसमर्पण पर जोर दिया गया। धीरे-धीरे १५ वीं शताब्दी तक कृष्ण-भक्ति पूर्णतया विकसित होगई और इसका सबसे अधिक श्रेय वल्लभाचार्य को है, जिन्होंने ब्रज-भूमि में आकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया और उन्हीं के पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने कृष्ण-साहित्य के प्रचार हेतु अष्टछाप की स्थापना की, जिसमें सूरदास, नंददास, कुम्भनदास आदि उच्चकोटि के आठ कवि थे, जिन्होंने ब्रजभाषा में अत्यन्त सरस एवं सुन्दर रचनायें प्रस्तुत करते हुए श्रीकृष्ण के गोपाल एवं विष्णु-अवतार-रूप का प्रचार जनसाधारण में किया। उधर संस्कृत में महाकवि जयदेव ने 'गीतगोविंद' लिखा, जिसकी सरसता, पदावली की सुकुमारता एवं भावों की मधुरता ने जनसाधारण को मुग्ध कर लिया था। इसी तरह मिथिला के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने भी श्रीकृष्ण के माधुर्य रूप का चित्रण करते हुए अपने पद लिखे, जो हिन्दी साहित्य की अनूठी निधि हैं और जिनकी सुकुमार भावना, कोमल कल्पना तथा मनोरंजक अभिव्यंजना ने चैतन्य महाप्रभु जैसे कृष्ण-भक्त को भी आकृष्ट कर लिया था।

इस प्रकार हिन्दी के भक्तिकाल तक श्रीकृष्ण के दो रूप जनता में प्रचलित थे—पहला गोपालकृष्ण का मधुर प्रेमाभक्ति से परिपूर्ण स्वरूप तथा दूसरा परब्रह्म रूप जिसमें उन्हें अवतार मानकर भी जगत का स्रष्टा,

संस्थापक एव संहारक माना गया था। जयदेव ने 'भागवत' के आधार पर विलासपूर्ण लीलायें करने वाले कृष्ण को जनता के सम्मुख तनिक अधिक प्रकाश रूप मे लाने की चेष्टा की थी जिससे भक्तिकाल में कृष्ण के तीनो मिश्रित रूपो का वर्णन किया गया अर्थात् उन्हे परात्पर ब्रह्म भी माना गया, प्रेमाभक्ति का आलम्बन भी स्वीकार किया गया और गोपियो के साथ विलास क्रीडायें करने वाला भी अंकित किया गया। परन्तु हिन्दी के रीतिकाल मे आकर कृष्ण के अन्य रूपो की अपेक्षा विलास क्रीडा वाले रूप की ही अधिक चर्चा हुई और उन्हें सभी प्रकार की शृगारिक चेष्टाओ का नायक मानकर राधा के साथ निरन्तर विलास क्रीडायें करने वाला ही चित्रित किया गया। हो सकता है कि रीतिकाल पर आभीर युग के लिखे हुए गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक शतक आदि का प्रभाव हो, परन्तु कृष्ण के इस विलासमय रूप के लिए गीतगोविदकार जयदेव तथा मैथिली कवि विद्यापति अधिक उत्तरदायी हैं क्योकि इन दोनों की रचनाओ मे भक्ति की अपेक्षा विलास का ही प्राधान्य है और दोनो की रचनाओ से कृष्ण के देवत्व की उतनी अभिव्यजना नहीं होती, जितनी कि विलासी, लम्पट, कामुक एव रसिक नायक की अभिव्यजना होती है। वैसे दोनो ही उच्चकोटि के कृष्ण भक्त जान पडते हैं, परन्तु दोनो को हम कृष्ण के माधुर्य रूप मे ही तल्लीन देखते हैं और उसी तल्लीनता के कारण दोनो ने कृष्ण के विलासप्रिय जीवन की मधुर झाकी अंकित की है।

आधुनिक युग के प्रारंभिक कवियो मे कृष्ण का मिला-जुला रूप प्रचलित रहा। कुछ कवि भक्ति-काल से प्रभावित होकर कृष्ण की सरस एव मधुर क्रीडाओ को देवत्व का आवरण चढाकर वर्णन करते रहे और कुछ कवि रीतिकाल से प्रभावित होकर केवल उनकी शृगारमयी लीलाओ मे मग्न होकर उनका चित्रण करते रहे। स्वय हमारे हरिऔध जी ने भी पहले 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण' 'प्रेमाम्बु प्रवाह', 'प्रेमाम्बु वारिधि' आदि ग्रथो मे श्रीकृष्ण के प्रेम एव माधुर्य मे परिपूर्ण ब्रह्मरूप का ही निरूपण किया था। परन्तु 'प्रियप्रवास' तक आते आते कवि का विचार पूर्णतया बदल गया। अब उन्हें यह बात उचित नही प्रतीत हुई कि किसी देवता या अवतारी पुरुष का चित्रण इस तरह किया जावे कि उसके चरित्र से कामुकता विलासिता एव अश्लीलता की गध आने लगे। इसके अतिरिक्त वह करणीय, अकरणीय अथवा अन्यथा करणीय सभी प्रकार के कार्य कर सकता है, उसमे असम्भव कार्यों के करने की ही क्षमता होती है अर्थात् उसके किए हुए सम्भव कार्यो को भी व्यर्थ ही असम्भव

बनाकर चित्रित किया जाय यह उन्हें समीचीन नहीं ज्ञात हुआ।[1] इसलिए कवि ने 'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण के समस्त प्राचीन रूपों का निराकरण करते हुए उन्हें महाभारत के महापुरुष की भाँति चित्रित करने का बीड़ा उठाया। यद्यपि महाभारत में श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यों की ही चर्चा अधिक है, तथापि कहीं-कहीं भीष्म, अर्जुन, आदि के मुख से कृष्ण के ब्रह्मरूप की चर्चा भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है। परन्तु 'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को समाज सुधारक, परोपकारी, लोक-सेवक, जाति-उद्धारक, सफल-संगठन कर्त्ता, विश्व प्रेमी, सच्चे नेता आदि रूपों में अंकित किया है। वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि की ओर अपना ध्यान लगा देते हैं, अत्याचारियों का विनाश करके समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, अपने सुख, आनन्द एवं प्रियजनों के अटूट प्रेमक स की परवा नहीं करते तथा विश्व-प्रेम में लीन होकर और सम्पूर्ण जगत के त्रस्त प्राणियों की पुकार सुनकर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह हरिऔध जी ने कृष्ण के परम्परागत रूप का आमूल-चूल परिवर्तन करके युगानुकूल सच्चे मानव के आदर्श रूप में अंकित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यहाँ आकर कृष्ण न तो विलासी एवं परकीया-प्रेम में लीन होकर गोपियों के साथ विहार करने वाले ही रहे और न ब्रह्मरूप को प्राप्त होकर केवल आराधना की ही वस्तु रहे, अपितु कवि ने उन्हें एक ऐसे महापुरुष के रूप में चित्रित किया है, जो समाज का अपना व्यक्ति है, जिसे हमारे दुख-दर्द का ध्यान है, जो हमारी दुर्बलताओं को जानता है, जो हमारी सहायता के लिए कठिन से कठिन कष्ट सहकर भी आ सकता है और जिसके आचरण, व्यवहार, रीति-नीति, प्रेम, दया, सेवा, मनुजोचित कार्य आदि से हम अपना जीवन भी उन्नत बना सकते हैं।

(३) राधा का लोक-सेविका रूप—राधा के बारे में अभी तक यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि राधा का विकास कब और कैसे हुआ? श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण से अनन्य भाव के साथ प्रेम करने वाली गोपियों का वर्णन तो मिलता है, जो महारास के अवसर पर कृष्ण की मुरली के बजते ही अपने-अपने समस्त कार्यों को छोड़कर कृष्ण जी के पास सभी वन में भागी चली आती हैं,[2] तनिक कृष्ण जी के आँखों से ओझल हो जाने पर विरह

---

१. प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ३०

२. श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कंध, अध्याय २६

के कारण करुण क्रन्दन करने लगती हैं[1] तथा जो उद्धव जी से बातें करते समय भ्रमर को सम्बोधन करते हुए उन्हें पर्याप्त व्यंग्य पूर्ण उलाहने देती हैं।[2] परन्तु यहाँ राधा का नाम नहीं मिलता। कुछ विद्वान राधा को मध्य एशिया से चलकर आये हुए भ्रमणशील आभीरों की प्रेम देवी मानते हैं। कुछ उन्हें द्रवड जाति की उपास्य देवी कहते हैं और उनका अस्तित्व वेदों से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वान् मनीषियों की राय में राधा किसी अज्ञातनामा कवि की मधुर कल्पना है जो कवि के विलुप्त हो जाने पर भी आज तक विद्यमान है तथा सदैव विद्यमान रहेगी। कुछ भी हो राधा का नाम सर्वप्रथम नवीं शताब्दी के अंतर्गत आनंदवर्द्धनाचार्य द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' नामक साहित्य-ग्रंथ मे मिलता है। वहाँ एक उद्धरण देते हुए 'राधा' नाम आया है।[3] इसके अतिरिक्त गाथासप्तशती, पंचतंत्र, ब्रह्मवैवर्त-पुराण आदि में भी राधा का नाम मिल जाता है। परन्तु कविवर जयदेव के 'गीतगोविंद' मे राधा सबसे पहले अपने दिव्य सौंदर्य के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमिका एवं वियोग-विधुरा के रूप में अंकित की गई है। यहाँ राधा वासन्ती-कुसुम के समान सुकुमार अवयवों से सुरक्षित होकर एक विक्षिप्त की भाँति अपने प्रियतम कृष्ण को ढूंढती फिरती है। यहीं पर राधा में विलास-प्रियता, वियोग-कातरता तथा सच्ची प्रेमिका के दर्शन होते हैं।[4]

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कंध, अध्याय ३०

२ वही, अध्याय ४७

३ तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणां ।
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनया तीरे लतावेश्मनाम् ॥
—हिन्दीध्वन्यालोक, उद्योत २, पृ० १२६

४. स्तन विनिहितमपि हारमुदारम् ।
सा मनुते कृशतनुरिति भारम् ।
राधिका तव विरहे केशव !
सरसमसृणमपि मलयज पंकम् ।
पश्यति विषमिव वपुषि सशंकम् ।
श्वसित पवनमनुपम परिणाहम् ।
मदन दहनमिव वहति सदाहम् ।

तदनन्तर चंडीदास की राधा का स्वरूप हमारे सामने आता है। चंडीदास ने राधा को परकीया नायिका के रूप में चित्रित किया है। यही राधा श्रीकृष्ण के साथ विहार करने वाली, संकेत स्थल पर उत्सुक होकर मिलने वाली, अभिसार के लिए लुक-छिपकर जाने वाली, मान करने वाली, प्रेम की कसक से विह्वल होने वाली आदि-आदि कितने ही रूपों में चित्रित की गई है। चंडीदास के अनन्तर विद्यापति की राधा हमारे सम्मुख आती है, जिसमें विरह-वेदना की अपेक्षा काम-पीड़ा अधिक है, जो कुतूहल एवं विलास की पुतली बनी हुई है तथा जो चपलता एवं अनुराग की उद्भ्रान्त लीला से परिव्याप्त रहती है। वह श्रीकृष्ण के साथ रास-लीला में मग्न होकर निरन्तर विहार करने वाली परकीया नायिका है। उसमें क्रिया-चातुरी, वाग्वैदग्ध्य, मिलन-कौशल अपेक्षाकृत अधिक हैं तथा वह काम-क्रीड़ा में प्रवीण एवं विरह में भी इच्छापूर्ति न होने के दुःख से दुःखी ही अधिक चित्रित की गई है। कृष्ण की प्रतीक्षा में मार्ग देखते-देखते उसके नेत्र अंधे हो जाते हैं, नाखूनों से दिन लिखते-लिखते उसके नाखून घिस जाते हैं और उसे यही पश्चात्ताप रहता है कि जिस समय वह श्रीकृष्ण के साथ भ्रमण किया करती थी, उस समय तो वह निरी बालिका ही थी, अब उसके यौवन का भी पूर्ण विकास हो गया है, परन्तु ऐसे अवसर पर कृष्ण अब आते ही नहीं। उस समय जिन फलों को वे कच्चा ही देख गये थे, अब वे पूर्णतः परिपक्व हो गये हैं और आंचल में भी नहीं समाते।[1] राधा के इन मनोभावों के कारण विरह में भी कामुकता का ही प्राधान्य दिखाई देता है।

विद्यापति के उपरान्त सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियों की राधा के दर्शन होते हैं। यहां राधा का स्वरूप अत्यन्त मर्यादा के साथ चित्रित किया गया है। वह संयोग के समय कृष्ण के साथ आनन्द-क्रीड़ायें करने वाली

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्।
विरह विहित मरणेव निकामम्।
श्रीजयदेव भणित मिति गीतम्।
सुखयतु केशवपद मुपनीतम्।"
—गीत गोविन्दम्, चतुर्थसर्ग ६।१–६

१. आसकलता लगाओल सजनी नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी आंचर तर न समाय।।
—विद्यापति की पदावली, १६५

तथा वियोग के अवसर पर अत्यन्त शोक एव वेदना मे विह्वल होकर निरतर कृष्ण-प्रेम म निमग्न चित्रित की गई है। यहाँ आकर राधा एक उपास्य देवी की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। यहाँ 'जयदेव की राधा के समान उसमे प्रगल्भ व्याकुलता नही है, विद्यापति की राधा के समान उसमे मुग्ध कौतूहल और अनभिज्ञ प्रेम-लालसा नही है, चडीदास की राधा के समान उनम अधीर कर देने वाली गलद् वाष्पा भावुकता भी नही है, पर कोई सहृदय इन सभी बातो का उसमे एक विचित्र मिश्रण क रूप मे अनुभव कर सकता है।"[1]

कृष्ण-भक्त कवियो के उपरान्त रीतिकालीन कवियो न भी राधा के स्वरूप का चित्रण किया है। यहाँ आकर राधा पुन अत्यत रूप-सुन्दरी, काम-क्रीडा-निपुण, कामिनी एव अल्हड यौवना हो गई है। उसके चित्रण मे पवित्रता एव शुद्ध प्रेम के स्थान पर विलासिता एव कामुकता का रग अधिक गहरा हो गया है। यहाँ आकर राधा 'कुछ रसिका, कुछ मुखरा कुछ विलासिनी, कुछ चचल कुछ निडरा और कुछ कुछ बाल-तरुणी है। वह कृष्ण के साथ गलबहियाँ डाले गली से निकल जाती है, कृष्ण के बतरस के लिए तरह-तरह का उत्पात मचाती है, पनघट पर हाथापाई करती है, कभी हँसती है, कभी मचलती है, कभी छिपती है, कभी बाहर निकल आती है—अर्थात् कैशोर प्रेम की साक्षात् रूपा है, उसमे न लोक के उत्तरदायित्व की चिन्ता है, न परलोक बनाने की परवा—वह अल्हड किशोरी है। यही उसका सच्चा रूप है। उसे हम वियोगिनी के रूप मे पाते हैं, मगर यह वियाग शायद इसलिये उस पर लाद दिया गया है कि प्रेमिका को वियोगिनी बनना जरूरी है। इस जबर्दस्ती से उसका कोमल प्रफुल्लचित्त भाराक्रान्त जरूर हो जाता है, पर स्पष्ट ही जान पडता है कि यह वियोग की गर्मी आगन्तुक है।"[2]

रीतिकाल के उपरान्त भी कुछ समय तक ब्रजभाषा की कविताओ मे राधा का रीतिकालीन रूप ही चित्रित होता रहा, परन्तु द्विवेदी-काल की नैतिकता, लोक-हित आदि की भावनाओ ने मानव-जीवन मे एक आमूल चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया, तथा कवियो की स्त्री सम्बन्धिनी भावना मे भी क्रान्ति उत्पन्न की। नारी-जीवन का सुधार ही इस युग की प्रमुख दन है। युग की इसी भावना स प्रभावित होकर हरिऔध जी न अपने 'प्रियप्रवास' मे लोक-सेवक कृष्ण की भाँति राधा के चरित्र म भी परोपकार, लोक-सेवा, विश्व-प्रेम आदि

---

१ हरिऔध अभिनन्दन ग्रथ—पृ० ४६१

२. वही, पृ० ४३४

का समावेश किया। इसी कारण यहाँ राधा सूर की राधा की तरह कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर इधर-उधर मारी-मारी नहीं फिरती, अपितु वह अन्य विरह-कातर गोपियों, गोपों तथा दीन-हीन, रोगी, असहाय प्राणियों की सेवा-सुश्रूषा में ही अपना जीवन व्यतीत करती है।[१] वह नन्द एवं यशोदा की भी देखभाल करती है तथा उन्हें शोकमग्न देखकर भली प्रकार सांत्वना दिया करती है।[२] उसके जीवन में वियोग की कातरता ने विश्व-प्रेम एवं सेवा-भावना को जाग्रत कर दिया है। उसे अब श्रीकृष्ण के ब्रज में लौट आने की भी चिन्ता नहीं है। वह तो यही चाहती है कि उसके प्रियतम कृष्ण भले ही घर आवें या न आवें, परन्तु जहाँ भी रहें कुशल से रहें, और विश्व के कल्याण में लगे रहें।[३] वह उद्धव जी के मुख से कृष्ण का संदेश सुनकर और यह जानकर कि श्रीकृष्ण 'सर्वभूत हिताय' लोकमंगलकारी कार्यों में लगे हुए हैं, तो वह भी अपनी विरह-जन्य छटपटाहट को दृढ़ता के साथ दबाती हुई यही कहती है कि "अब संसार में जितनी भी वस्तुएँ मुझे दिखाई देतीं हैं, उनमें सर्वत्र मुझे अपने प्रिय कृष्ण का ही रंग और रूप दिखाई देता है, फिर मैं उन सबको हृदय से प्यार क्यों नहीं करूँगी ? अब तो निस्संदेह मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जाग्रत हो गया है।"[४] इसी विश्व-प्रेम के वशीभूत होकर राधा निरन्तर लोक-हित एवं लोक-सेवा में लीन हो जाती है और अपने इन्हीं भावों एवं कार्यों के कारण वह ब्रज में मानवी से एक आराध्या देवी के प्रतिष्ठित पद पर आसीन दिखाई देती है। हरिऔध जी ने राधा के ऐसे ही लोक-कल्याणकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा 'प्रियप्रवास' में की है, जिसमें राधा के पूर्ववर्ती रूपों से पूर्णतया भिन्नता है, नवीनता है, भव्यता है और जिसमें एक आदर्श नारी के जीवन की दिव्य झाँकी विद्यमान है।

---

१. प्रियप्रवास १७।४६–५१

२. वही, १७।३६–४१

३. "प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहें न आवें।" १६।९८

४. पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
   जो प्यारे को अमित रँग औ रूप में देखती हूँ।
   तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
   यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।
   —प्रियप्रवास १६।१०५

वस्तु में रूपान्तर तथा नवीन उद्भावना के कारण—सबसे प्रमुख कारण यह है कि हरिऔध जी जिस युग मे अवतीर्ण हुए थे, वह क्रान्ति का युग था। सर्वत्र सुधार एव परिवर्तन का स्वर गूँज रहा था और सभी प्रकार की सकीर्णता, एकदेशीयता एव एकांगिता के विरुद्ध आवाज उठाकर प्रत्येक क्षेत्र मे उदारता, विश्व बधुत्व, मानवता, कर्मण्यता आदि को महत्व दिया जा रहा था। समाज का प्रत्यक प्राणी आमूल परिवर्तन के लिए लालायित हो रहा था और उस परिवर्तन के लिए अनेक सुधारवादी सस्थायें भारत मे आन्दोलन कर रही थी जिनमे से प्रमुख प्रमुख सस्थाओ का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। राजनीतिक जीवन म भी काँग्रेस ने नवचेतना का सचार कर दिया था और सर्वत्र स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, स्वदेश प्रेम, स्वजाति-उद्धार आदि की गूँज सुनाई पडती थी। अत इन्ही सभी क्रान्तिकारी भावनाओ से प्रेरित होकर युग की पुकार को अकित करने के लिए हरिऔध जी ने प्राचीन कथाओ मे रूपान्तर करके नवीन उद्भावना करते हुए उन्हें इस क्रान्तिकारी युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है।

दूसरे, इस युग म वैज्ञानिक-दृष्टिकोण एव बौद्धिकता की प्रबलता के कारण कोई भी व्यक्ति प्राचीन अतिमानुषिक कार्यों एव असभाव्य घटनाओ मे विश्वास नही कर सकता था। साथ ही ये सब कार्य ऐसे जान पडते हैं, मानो व्यथ ही ईश्वर को महत्व देने के लिए अथवा उसे "कर्त्तुम् अकर्त्तुम् अन्यथा कर्त्तुम् समर्थ. प्रभु' के रग मे रगने के लिए इन सब असभाव्य घटनाओ की योजना प्राचीन युग मे हुई हो, क्योकि अतिमानुषिक कार्यों का उल्लेख होने से ही धर्मान्ध व्यक्ति ईश्वर की महत्ता को स्वीकार कर सकता है। परन्तु अब पांसा पलट चुका है। आज ईश्वर के बारे मे आँख मीचकर कोई विश्वास नही कर सकता। इसी कारण आधुनिक युग मे उन सभी अतिमानुषिक कार्यों को मानुषिक अथवा मानव द्वारा किये जाने योग्य बनाने का प्रयत्न हुआ है। साथ ही उनके रहस्य को समझाकर उन्हे तर्कसम्मत एव बुद्धिग्राह्य बनाने की भी चेष्टा की गई है। इसी चेष्टा एव प्रयत्न से प्रेरित होकर हरिऔध जी ने भी प्राचीन अतिमानुषिक एव असभाव्य कथाओ को मानुषिक एव सभाव्य बनाते हुए अपने 'प्रियप्रवास' में उन्हें रूपान्तरित करके प्रस्तुत किया है।

तीसरे, भगवान् के अवतार के बारे में प्राय यही धारणा प्रचलित है कि जब-जब धर्म की हानि एव अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब सज्जनो की रक्षा के लिए, दुष्टो का विनाश करने के लिए और धर्म की सस्थापना करने

के लिए प्रत्येक युग में भगवान् अवतार लेते हैं।[1] अतः उनके सभी कार्य ऐसे होते हैं जिनसे दुष्टों का विनाश एवं सज्जनों की रक्षा हो। इसी एक उद्देश्य को आधार बनाकर हमारे यहाँ भगवान् से सम्बन्धित प्रायः ऐसी अनेक कथायें गढ़ी गईं, जिनमें उक्त दोनों बातों का ही समावेश हुआ और जिनमें भगवान् के अवतार को सदैव अद्भुत एवं अलौकिक कार्य करते हुए संसार में जीवन यापन करते हुए दिखाया गया। श्रीकृष्ण के बारे में भी इसीलिए अनेकानेक साधारण घटनायें भी असाधारण बनाई गई और उन्हें अतिरंजित रूप देकर भक्तों को भाव-विभोर करने के लिए अथवा अवतारी व्यक्ति के प्रति श्रद्धा जाग्रत करने के लिए ऐसे प्रयत्न किए गये। इससे ईश्वर जन-साधारण की वस्तु न रहकर एक अलौकिक एवं अद्भुत वस्तु हो गया और जनता उसके कार्यों एवं गुणों का अनुसरण करके दिव्य एवं अद्भुत कहकर बस दूर से ही नमस्कार करने लगी। हरिऔध जी ने इस बात को तनिक गम्भीरता के साथ सोचा। वे चाहते थे कि जन-साधारण उन कार्यों एवं गुणों को आदर्श मानकर उनका अनुसरण करना भी सीखें। इसी कारण अवतार के बारे में उनका स्पष्ट विचार था कि "मानवता का चरम विकास ही ईश्वर की प्राप्ति है—अवतारवाद है।"[2] अतः अवतारी पुरुष के कार्यों को मानवता के लिए उचित एवं उपादेय बनाते हुए उन्हें आपने इस तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, जिससे सर्व साधारण भी उन कार्यों को अपना कर मानवता के पुजारी बन सकें। उनकी दृष्टि में यही सबसे बड़ी भगवान् की पूजा है कि हम उनके गुणों एवं कार्यों को अपनाते हुए प्राणीमात्र की सेवा, परोपकार, पर-पीड़ा का निवारण, भूखे-प्यासों को अन्न-जल का दान, शरणागतों की रक्षा आदि में सदैव लीन रहें।[3] अतः अवतार सम्बन्धी अपने इन्हीं नवीन विचारों को प्रस्तुत करने के लिए आपने कथाओं में रूपान्तर किया है और नवीन उद्भावनायें की हैं।

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ४।७–८

२. महाकवि हरिऔध—पृ० १७३

३. प्रियप्रवास—१६। ११४—१२७

चौथे, उस समय तक हिन्दी-साहित्य में श्रीकृष्ण दो रूपो मे विशेष रूप से चित्रित हुए थे—(१) परब्रह्म, (२) परकीया के उपपति। भक्तिकाल के समस्त कृष्ण-भक्त कवियों ने उन्हें अजर, अमर, अनादि, अगोचर आदि कह कर परब्रह्म के रूप मे चित्रित किया था और रीतिकाल मे आकर श्रीकृष्ण को प्राय परकीया राधा से प्रेम करने वाले तथा गोपियो के साथ अठखेलियाँ करने वाले एक उपपति के रूप मे चित्रित किया गया था। उक्त दोनो रूपो का गहन अनुशीलन करने के उपरान्त हरिऔध जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसे हम अवतारी पुरुष मान कर परब्रह्म कहते हैं, उसी को परकीयाओ का शृगारी एव विलासी उपपति बनाना कहाँ तक उचित है। वे कला मे उपयोगितावाद एव नैतिकता के समर्थक थे तथा श्रीकृष्ण को ब्रह्म का रूप भी मानते थे, क्योकि आपने 'प्रेमाम्बु-प्रश्रवण', 'प्रमाम्बु-प्रवाह', एव 'प्रेमाम्बु-वारिधि' मे उन्हे परब्रह्म के रूप मे ही अकित किया है। परन्तु उनका विचार था कि वह परब्रह्म अवतार लेकर ईसाई या मुसलमानो की तरह ईश्वर तथा मनुष्य के बीच की कडी नही बनता और न ईश्वर का सदेश ही देने के लिए यहाँ आता है, अपितु वह मानव के आदर्श उपस्थित करके उन्हे ईश्वर के पथ पर अग्रसर होने की शिक्षा देने आता है अथवा मानव को ईश्वर बनाता हुआ इस भूतल को स्वर्ग बनाने के लिए अवतीर्ण होता है।[1] अपने युग की इसी विचारधारा को साकार रूप देने के लिए अथवा राधा और श्रीकृष्ण को आदर्श मानवी एव मानव के रूप मे अकित करने के लिए आपने कथाओ मे रूपान्तर किया है और नवीन उद्‌भावनायें की हैं।

पाँचवें, इस युग मे जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट प्रेम की जो लहर सर्वसाधारण के मानस मे हिलोरे ले रही थी, उसे किसी महाकाव्य मे अभी तक साकार रूप नही दिया गया था। हरिऔध जी ने इस भावना को व्यक्त करने के लिए राधा और श्रीकृष्ण का चरित्र सर्वथा उचित समझा,

---

१. 'साकेत' में राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने भी इसीलिए राम के मुख से यह कहलवाया है —

> "भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया,
> नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
> संदेश यहाँ मे नहीं स्वर्ग का लाया,
> इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"
>
> —साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३४-२३५

क्योंकि श्रीकृष्ण ने अनेक ऐसे कार्य किए थे, जिनका संबंध अपनी दुखिया जन्मभूमि के उद्धार से था। इसी कारण आपने सभी कथाओं में जननी-जन्मभूमि के उद्धार का वर्णन करते हुए भारतीय जनता के हृदय में भी अपनी जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति जाग्रत करने के लिए ये रूपान्तर प्रस्तुत किये हैं और नवीन उद्भावनायें की हैं।

छठे, अभी तक किसी भी महाकाव्य में नारी को समाज-सेवा, लोकोपकार, दीनों के प्रति सहानुभूति, विश्व प्रेम में लीन आदि दिखाने की चेष्टा नहीं हुई थी। इस युग में पुरुष के साथ नारी को भी सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा था। वह राजनीतिक जीवन में भी पुरुष के कंधे से कंधा भिड़ाकर कार्य कर रही थी। परन्तु नारी के ऐसे रूप को कवियों ने अभी तक उपेक्षित ही समझा था। अतः नारी के इस क्रान्तिकारी एवं जन-हितकारी रूप की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए कवि ने कथाओं में रूपान्तर करते हुए नवीन उद्भावनायें कीं और कृष्ण के साथ-साथ राधा को भी विश्व-प्रेम में लीन दिखाने की चेष्टा की।[१]

कथा वस्तु का शास्त्रीय-विधान

वस्तु-विश्लेषण—साहित्य-शास्त्र में वस्तु दो प्रकार की मानी गई है—(१) अधिकारिक और (२) प्रासंगिक। काव्य की प्रमुख वस्तु अधिकारिक होती है, क्योंकि 'अधिकार' से अभिप्राय फल के स्वामित्व से है और अधिकारी वह कहलाता है, जो फल का स्वामी होता है। इस प्रकार अधिकारी या प्रधान नायक से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक वस्तु कहलाता है। दूसरी प्रासंगिक वस्तु वह होती है, जो अधिकारिक वस्तु की सहायक अथवा उपयोगी हुआ करती है।[२] यह प्रासंगिक वस्तु भी पुनः दो प्रकार की होती है—(१) पताका और (२) प्रकरी। पताका वह प्रासंगिक वस्तु है जो व्यापक होती है तथा प्रधान फल की सहायक होकर अंत तक चलती है और प्रकरी उस प्रासंगिक वस्तु को कहते हैं, जो अल्पदेश व्यापक होती है तथा मध्य में ही समाप्त हो जाती है।[३] इस दृष्टि से जब 'प्रियप्रवास' की कथा-वस्तु पर विचार

---

१. मेरे जी में हृदय-विजयी विश्व का प्रेम जागा।

—षोडस सर्ग, पृ० २५४

२. साहित्य दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३८२-३८३

३. वही, पृ० ४००-४०१

करते हैं तो पता चलता है कि यहाँ राधा-कृष्ण की कथा प्रमुख रूप से वर्णित है, क्योंकि उनके पारस्परिक प्रेम की चरम परिणति विश्व प्रेम में दिखाई गई है। अत राधाकृष्ण की कथा अधिकारिक वस्तु है। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित कितनी ही प्रासगिक कथायें आई हैं जिनमे से प्रमुख प्रासगिक कथा गोप-गोपी एव नन्द-यशोदा के विरह की कथा है, जो काव्य के पचमसर्ग से लेकर अन्त तक चलती है। अत यह 'पताका' वस्तु के अतर्गत आती है। इसके अतिरिक्त अक्रूर-आगमन तथा कृष्ण का मथुरा गमन, उद्धव का मथुरा आगमन एव गोप-गोपियो से वार्त्तालाप, गोप गोपी का श्रीकृष्ण की नाना कथाओ का वणन आदि 'प्रकरी वस्तु के अन्तर्गत आते हैं, क्योंकि इन विभिन्न कथाओ मे से प्रत्येक कथा काव्य के अल्प देश मे ही व्याप्त है।

साहित्य-शास्त्रो मे कथा वस्तु का ऐतिहासिक एव कल्पित दृष्टि से भी विचार किया गया है। ऐतिहासिक वस्तु 'प्रख्यात' कहलाती है और कवि कल्पित वस्तु को 'उत्पाद्य' कहते हैं। यदि वस्तु का कुछ भाग ऐतिहासिक एव कुछ कल्पित हो, तो उसे 'मिश्र' वस्तु कहते हैं।[1] इस दृष्टि मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'प्रियप्रवास' की वस्तु पूर्णतया ऐतिहासिक होने से 'प्रख्यात' है। इतिहास से अभिप्राय किसी देश या राष्ट्र की उन सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक मनोवृत्तियो एव धारणाओ से भी है, जो युग के अनुसार बनती बिगडती रहती हैं तथा जिनकी परम्परा राष्ट्र मे व्याप्त होकर नवजीवन का सचार किया करती है। आज 'इतिहास' का अर्थ केवल भूतकालीन कुछ घटनायें ही मान लिया गया है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है। यहाँ तो वैदिक काल से लेकर आजतक हमारे धर्म-ग्रथो मे भी जो कुछ वर्णन मिलता है, वह भी इस देश का सच्चा इतिहास है। पुराणो के बारे मे भी पहले बडी तुच्छ भावना थी। परन्तु अब भारतीय ही क्या, पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लगे हैं कि सभी पुराण भारतीय इतिहास की अक्षय निधि हैं। 'प्रियप्रवास' काव्य ऐसे ही इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है, जिसमे पौराणिक आख्यान के साथ-साथ युग की परिवर्तित धारणा एव मनोवृत्ति को भी काव्य रूप प्रदान किया गया है। अत: यह काव्य देश के सच्चे इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है। इसी कारण उसकी कथावस्तु 'प्रख्यात' है।

---

१. दशरूपक १।१५

साहित्यशास्त्रियों ने कथावस्तु का विभाजन एक और आधार पर किया है। उनका विचार है कि जिस कथा में देवताओं का वर्णन हो वह दिव्य कथावस्तु होती है और जिसमें मर्त्यलोक के पुरुषों का वर्णन हो वह 'मर्त्य' कहलाती है।[1] इस आधार पर 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पौराणिक दृष्टि से तो श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष हैं और वे देवों से भी बढ़कर हैं। अतः उनकी कथा 'दिव्य' होनी चाहिए। परन्तु कवि ने उन्हें एक मर्त्यलोक के महात्मा या महापुरुष के रूप में ही चित्रित किया है। इस आधार पर उनकी यह कथा 'मर्त्य' की कोटि में आती है। यह विभाजन उस समय का है, जिस समय प्रायः दो ही प्रकार की कथायें काव्यों में चित्रित होती थीं अर्थात् या तो लेखक किसी देवता या अवतारी पुरुष का वर्णन करते थे या किसी राजा, महाराजा, सूर-सामन्त आदि का वर्णन किया जाता था। अब युग बदल गया है। अब देवता, ईश्वर एवं राजाओं के स्थान पर श्रमिकों, देशप्रेमियों एवं महापुरुषों का भी वर्णन किया जाता है। इनकी कथाओं को भले ही 'मर्त्य' कहा जाय, परन्तु वे सभी समाज के असाधारण व्यक्ति होते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण मर्त्यलोक के प्राणी होकर भी समाज की सेवा, लोकोपकार, विश्व-प्रेम आदि से ओतप्रोत दिखाये गये हैं। अतः भले ही उनको देवता या ईश्वर की कोटि में न रखा गया हो, फिर भी वे देवोमय गुणों से युक्त हैं, उनमें असाधारण व्यक्तित्व है और वे समाज के अलौकिक महापुरुष हैं। अतः उनकी यह कथा भी 'दिव्य' वस्तु की ही कोटि में आती है।

पताकास्थानक—पताकास्थानकों की योजना कथावस्तु में सौंदर्य-वर्द्धन के हेतु की जाती है। इसके साथ ही इनके द्वारा आगामी कथा की सूचना भी बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से व्यंजनात्मक शैली में दी जाती है। इन पताकास्थानकों द्वारा प्रमुख रूप से दो प्रकार से आगामी कथा सूचित की जाती है—(१) तुल्य संविधान द्वारा अथवा अन्योक्ति द्वारा और (२) तुल्य विशेषणों द्वारा अथवा समासोक्ति द्वारा।[2] इसी आधार पर दो प्रकार के पताकास्थानक माने गये हैं—अन्योक्तिमूलक तथा समासोक्तिमूलक। परन्तु साहित्यदर्पणकार ने चार प्रकार के पताकास्थानकों का उल्लेख किया है।[3]

---

१. दशरूपक १।१६
२. वही १।१४
३. साहित्य-दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह पृ० ३८६–३८८

फिर भी दो पताकास्थानक प्रमुख माने गये हैं। इनमे से प्रथम अन्योक्तिमूलक पताका स्थानक का रूप 'प्रियप्रवास' की इन पक्तियो मे विद्यमान है —

> 'अरुणिमा–जगती–तल रजिनी ।
> वहन थी करती अब कालिमा ।
> मलिन थी नव राग-मयी-दिशा ।
> अवनि थी तमसावृत हो रही ।'[1]

यहाँ सध्याकालीन मनोहर लालिमा के स्थान पर कालिमा के घिर आने का वर्णन करते हुए कवि ने नवराग-पूरित दिशाओ एव पृथ्वी को अन्धकार से परिपूर्ण बताया है। इस कथन द्वारा सकेत किया गया है कि व्रजभूमि मे अब तक श्रीकृष्ण के रहने से जो सर्वत्र अनुराग सहित आनन्द छाया हुआ था, अब कुछ ही क्षणो के उपरान्त घोर विषाद छा जायेगा। अत प्राकृतिक पदार्थों के वर्णन द्वारा अन्योक्ति का सहारा लेते हुए कवि ने यहाँ आगामी घटना का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है।

दूसरे समासोक्तिमूलक पताकास्थानक को हम 'प्रियप्रवास' की निम्न-लिखित पक्तियो मे देख सकते हैं —

> 'सारा नीला सलिल सरि का शोक छाया पगा था।
> कजो मे से मधुप कढ के घूमते थे भ्रमे से।
> मानो खोटी विरह-घटिका सामने देख के ही।
> कोई भी थी अवनत मुखी कान्तिहीना मलीना।'[2]

इन पक्तियो म कवि ने कृष्ण-विरह की खोटी घडी आने का अनुमान करके यमुना के नीले जल को शोक पूर्ण कहा है, कमलो मे से निकलकर भ्रमरों को भ्रमित-सा होकर घूमता हुआ बतलाया है और कुमुदिनी को शोभाहीन एव मलीन होकर मुख नीचा किए हुए अकित किया है। यहाँ कवि ने श्लिष्ट पदावली का प्रयोग करते हुए यह सकेत किया है कि अब कृष्ण-विरह की खोटी घडी आने वाली है, जिसके कारण मधुकर जैसे प्रेमी गोप-गोपीजन अपने अपने कमल जैसे गृहो से निकल कर कृष्ण के विरह में नित्य भ्रमित से होकर घूमते फिरेंगे और कुमुदिनी जैसी सुकुमार राधा कृष्ण के गमन का समाचार पाते ही कान्तिहीन एव मलिन होकर अवनत-मुखी बन जायेगी,

---

१ प्रियप्रवास १।३५
२ वही ५।१०

जैसा कि आगामी छठे सर्ग में राधा की वेदना का वर्णन करते हुए कवि ने 'पवनदूती प्रसंग' में उसकी दशा का वर्णन किया भी है। इतना ही नहीं कृष्ण के जाते ही यमुना के जल की ही भाँति सारी व्रजभूमि भी शोक-छाया में डूब जायेगी। अतः यहाँ "शोकछायापगा", 'भ्रमे से घूमते थे', 'अवनत-मुखी' आदि पद श्लिष्ट हैं और इनके द्वारा समासोक्ति की व्यंजना हो रही है, जिससे समस्त पद समासोक्तिमूलक पताकास्थानक का उदाहरण उपस्थित करते हैं।

अर्थ-प्रकृतियाँ—कथानक के अन्तर्गत प्रयोजन की सिद्धि के हेतु पाँच अर्थ-प्रकृतियों की योजना की जाती है—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। बीज अर्थप्रकृति वह है जो मुख्य हेतु होती है। धान्य के बीज की भाँति प्रबन्धकाव्य का यह 'बीज' आरम्भ में अत्यन्त सूक्ष्म रूप में उपस्थित रहता है तथा उत्तरोत्तर विकसित एवं वृद्धि-शील होता चला जाता है।[१] इस दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में यह 'बीज' अर्थ-प्रकृति इन पंक्तियों में मिलती है:—

> यह अलौकिक-बालक-बालिका।
> जब हुए कल-क्रीड़न-योग्य थे।
> परम तन्मय हो बहु प्रेम से।
> तब परस्पर थे मिल खेलते।[२]

क्योंकि राधा और श्रीकृष्ण का यही बाल्य-प्रेम पहले प्रणय का रूप धारण करता है और तदनन्तर विश्व-प्रेम में परिणत हो जाता है, जो कि कवि का प्रतिपाद्य विषय है और जिसका उत्तरोत्तर विकास इस काव्य में दिखाया गया है।

दूसरी 'बिन्दु' अर्थप्रकृति वह होती है, जो प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की सम्भावना में अविच्छेद का कारण बनती है अर्थात् जो कथा के समाप्त होने की सम्भावना के अवसर पर उस कथा को पुनः अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ाया करती है।[३] 'प्रियप्रवास' में षष्ठ सर्ग के अन्तर्गत राधा के विलाप पर कथा समाप्त सी होती दिखाई देती है, परन्तु 'पवन दूती प्रसंग' ने उस कथा को पुनः आगे बढ़ा दिया है। जैसे :-

---

१. साहित्य-दर्पण डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३९८
२. प्रियप्रवास, ४।१३
३. साहित्य-दर्पण, पृ० ३९९

"बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह में थीं अकेली।
आके आँसू दृग-युगल में थे धरा को भिगोते।
आई धीरे इस सदन में पुष्प-सद्गंध को ले।
प्रातः वाली सुपवन इसी काल वातायनों से।"[1]

और उसके आते ही राधा पहले उस पर कुपित होती है, परन्तु फिर उसी के द्वारा अपना सदेशा भेजने के लिए तैयार हो जाती है। अत विच्छिन्न कथा को अविच्छिन्न करने का कार्य इस पवन ने आकर किया है। इसी से यहाँ 'बिन्दु' अर्थप्रकृति है।

तीसरी पताका तथा चौथी प्रकरी अर्थप्रकृतियों का उल्लेख कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए पहले ही किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पाँचवीं अर्थप्रकृति 'कार्य' कहलाती है। 'कार्य' उस अर्थप्रकृति को कहते हैं, जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यों का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि में नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है।[2] 'प्रियप्रवास' में इस अर्थप्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियों में दिखाई देता है :—

"वे छाया थीं सुजन शिर की शासिका थीं खलों की।
कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।
दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।
आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।[3]

इस तरह अन्तिम सर्ग में जाकर नायिका के अभीष्ट फल की प्राप्ति दिखाई गई है। यह काव्य वैसे नायिका प्रधान है, क्योंकि श्रीकृष्ण के विश्व-प्रेम सम्बन्धी कार्यों का राधा भी अनुसरण करती है—यही कवि ने यहाँ चित्रित किया है। इस तरह समस्त काव्य में अर्थप्रकृतियों की योजना अत्यन्त विशद रूप में मिल जाती है।

संधियाँ तथा कार्यावस्थायें—किसी भी प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु को सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने के लिए आचार्यों ने संधियों एवं कार्यावस्थाओं की योजना बताई है। संधियाँ पाँच होती हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श और (५) उपसंहृति या निर्वहण। कार्यावस्थायें भी

---

१ प्रियप्रवास, ६।२७
२ साहित्यदर्पण, पृ० ४०२
३. प्रियप्रवास, १७।४९

पाँच होती हैं—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। इनमें से प्रत्येक संधि में क्रमशः एक कार्यावस्था भी रहती है अर्थात् मुख संधि में आरम्भ, प्रतिमुख में यत्न, गर्भ में प्राप्त्याशा, विमर्श में नियताप्ति तथा उपसंहृति में फलागम कार्यावस्था रहती है। पाश्चात्य विद्वानों ने वस्तु में ६ कार्यावस्थायें मानी हैं—(१) आरम्भ या व्याख्या (Exposition), (२) प्रारम्भिक संघर्षमयी घटना (Incident), (३) कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति (Rising Action), (४) चरम सीमा (Crisis), (५) निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denoument) और (६) अन्तिम फल (Catastrophe)। परन्तु भारतीय आलोचकों की राय में पाँच ही प्रमुख कार्यावस्थायें हैं, क्योंकि तीसरी प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा स्वीकृत कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति तथा चरमसीमा नाम की दोनों कार्यावस्थायें आ जाती हैं।[1] अतः अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' में इनकी योजना किस प्रकार मिलती है।

साहित्य-शास्त्र में मुख संधि कथावस्तु के उस भाग को कहते हैं, जिसमें नायक की प्रारम्भावस्था का वर्णन रहता है, इसके अन्तर्गत 'बीज' नामक अर्थप्रकृति और प्रारम्भ नामक कार्यावस्था रहती है और यह संधि भिन्न-भिन्न रस-भावों की अभिव्यंजना से परिपूर्ण रहती है।[2] यह 'आरंभ' अवस्था कहलाती है, जिसमें फल की सिद्धि के लिए औत्सुक्य का वर्णन किया है।[3] 'प्रियप्रवास' में यह 'मुख संधि' प्रथम सर्ग से लेकर पंचम सर्ग तक चलती है, क्योंकि इन पाँच सर्गों के अन्तर्गत कवि ने कथानायक श्रीकृष्ण के गमन-संबंधी कथा के प्रारम्भिक अवतरण का वर्णन किया है। इन सर्गों में पहले एक संध्या के समय श्रीकृष्ण गोचारण से लौटते हैं, संध्या के व्यतीत होते ही कंस का निमंत्रण लेकर अक्रूर जी के आने का समाचार सुनाई पड़ता है और प्रभात होते ही वे बलराम, नंद बाबा तथा अन्य साथियों के साथ मथुरा चल देते हैं। उनकी 'विश्व-प्रेम' संबंधी यात्रा का प्रारम्भ इन्हीं सर्गों में वर्णित है। ये सभी वर्णन विभिन्न रस-भावों से युक्त हैं। प्रथमसर्ग में संयोग शृंगार का

---

१. काव्य के रूप-पृ० १७-१८
२. साहित्य दर्पण (हिन्दी व्याख्या), पृ० ४०६
३. वही, पृ० ४०५

अत्यत मनोरजक वर्णन है द्वितीय सर्ग मे भीषण घोषणा के सुनते ही विषाद की काली छाया सारे गोकुल म छा जाती है । अत यहाँ भय, शोक, चिन्ता दैन्य, मोह ग्लानि, स्मृति, आवेग आदि भावो का अत्यत सजीवता के साथ वर्णन किया गया हैं । तृतीय सर्ग वात्सल्य भाव का अतीव समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है । चतुर्थ सर्ग म राधा के प्रेमभाव मे सयोग एव वियोग शृगार की सजीव झाँकी मिल जाती है तथा पचम सर्ग गोप-गोपियो क करुण-विलाप, विरह-जन्य वेदना आदि से परिपूर्ण है । इस तरह मुख-सधि मे नाना रसो एव भावो की सु दर अभिव्यक्ति हुई है तथा नायक श्रीकृष्ण तथा नायिका राधा विश्व विश्व-प्रेम' सबधी फल को आगे चलकर प्राप्त करते हैं, उसके औत्सुक्य का वर्णन भी इन सर्गों मे मिल जाता है । इसी कारण इन पाँच सर्गों में 'बीज' अर्थप्रकृति एव 'प्रारम्भ कार्यावस्था के साथ मुख सधि विद्यमान है ।

प्रतिमुख सधि वह कहलाती जिसमे मुख सधि के अन्तर्गत निवेशित बीज का ऐसा उद्भेद दिखाया जाता है, जो कभी दिखाई देता है और कभी दिखाई नही देता[1] तथा 'प्रयत्नावस्था वह कहलाती है, जिसे फल प्राप्ति के लिए त्वरित उद्योग के रूप मे देखा जाता है ।[2] 'प्रियप्रवास' मे षष्ठ सर्ग मे लेकर अष्टम सग के अत तक प्रतिमुख सधि है, क्योंकि इन तीन सर्गों मे कवि ने उस 'विश्व प्रेम' सबधी बीज का उद्भेद कृष्ण के मथुरा जाकर चाणूर, कुवलय, कस आदि का वध करके वही मथुरा मे रहकर त्वरित उद्योगो के द्वारा दिखाया है और राधा के हृदय मे उस प्रेम का वर्णन 'पवनदूती प्रसग' द्वारा किया है । इतना ही नही यहाँ उस बीज का उद्भेद गोपो एव नद के कथनो म भी कही-कही दिखाई देता है, और कहीं उनके रुदन मे लुप्त भी हो जाता है । इसी कारण इन तीन सर्गों मे 'बिन्दु' अर्थप्रकृति एव 'प्रयत्न' कार्यावस्था के साथ प्रतिमुख सधि है ।

गर्भ सधि वहाँ होती है, जहाँ 'मुख' और 'प्रतिमुख' सधि मे क्रमश किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रमुख कार्य रूपी बीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है, जिसमे बीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ साथ चला करती है ।[3] इसम प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था रहती है और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था वह है

---

१ साहित्यदर्पण, पृ० ४१०
२ वही, पृ० ४०१
३ वही, पृ० ४११

जिसमें फल-सिद्धि के साधक और प्रतिबंधक के पारस्परिक द्वन्द्व में फल-सिद्धि की आशा अथवा संभावना का वर्णन किया जाता है।[1] 'प्रियप्रवास' में यह गर्भ संधि नवम सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक चलती है, क्योंकि इन सर्गों में उद्धव जी मथुरा से गोकुल आते हैं तथा गोकुल में आकर वे नंद, यशोदा, गोप, गोपियों आदि समस्त ब्रज-जनों को कृष्ण-प्रेम में डूबा हुआ देखते हैं। इतना ही नहीं नवम सर्ग में कृष्ण को भी गोप-गोपियों के प्रेम में लीन देखने के कारण पहले 'विश्व-प्रेम' संबंधी बीज के ह्रास का सा आभास मिलता है कि कहीं कृष्ण ही गोकुल न लौट जायें और विश्व-कल्याण के कार्य न करें। परन्तु उद्धव के भेजने से यह आशंका समाप्त हो जाती है, फिर भी व्रज-जनों की प्रेम-विभोर वार्तायें सुन-सुनकर उद्धव को बराबर यह चिन्ता बनी रहती है कि कहीं इनका प्रेम कृष्ण को यहाँ पुनः न खींच लावे। इसी कारण त्रयोदश सर्ग तक फल-सिद्धि के साधक एवं प्रतिबंधकों में पारस्परिक द्वन्द्व चलता रहता है और 'विश्व-प्रेम' संबंधी फल-सिद्धि की संभावना ही बनी रहती है। अतः इन पाँच सर्गों में गोप-गोपी तथा नंद-यशोदा के विरह की कथा सम्बन्धी 'पताका' अर्थप्रकृति और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था के साथ-साथ गर्भ संधि मिलती है।

विमर्श संधि वहाँ होती है जहाँ गर्भ संधि में उद्भिन्न प्रमुख कार्यरूपी बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ जिसमें बाह्य परिस्थिति (जैसे-शाप, अमंगलकारी घटना आदि) के कारण आने वाली विघ्न-बाधाओं का भी समावेश होता है।[2] इसमें 'नियताप्ति' कार्यावस्था रहती है। 'नियताप्ति' कार्य की वह अवस्था है जिसमें विघ्न-बाधा की निवृत्ति में फल-प्राप्ति की संभावना का निश्चित वर्णन किया जाता है।[3] 'प्रियप्रवास' में यह विमर्श संधि चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के प्रारम्भिक आठ छंदों तक मिलती है, जहाँ मथुरा से भी आगे द्वारिका में श्रीकृष्ण के चले जाने का वर्णन किया गया है।[4] यहाँ तक कवि ने 'विश्व-प्रेम' सम्बन्धी कार्य के बीज को

---

१. साहित्य दर्पण, पृ० ४०६
२. वही, पृ० ४१२
३. वही, पृ० ४०७
४. ज्यों होता है शरद ऋतु के बीतने में हताश।
   स्वाती-सेवी अतिशय तृषावान प्रेमी पपीहा।
   वैसे ही श्री कुंवर-वर के द्वारिका में पधारे।
   छाई सारी व्रज-अवनि में सर्वदेशी निराशा॥—प्रियप्रवास, १७।८

और भी अधिक उद्भिन्न होता हुआ दिखाया है, क्योंकि श्रीकृष्ण इस कार्य के हेतु अब मथुरा छोड़कर द्वारिका चले जाते हैं। इसके साथ ही राधा के हृदय में जाग्रत विश्व-प्रेम का वर्णन भी इन्हीं सर्गों में किया गया है, क्योंकि षोडश सर्ग में वह भी कृष्ण के विश्व-प्रेम में अनुरक्त होकर यही कहती है—

'यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।'

इसके साथ ही जरासंध के सत्रह बार के आक्रमणों द्वारा कवि ने यहाँ अमंगल एवं अशुभ विघ्न बाधाओं का भी उल्लेख किया है, जो बाह्य परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई हैं, परन्तु उन विघ्न बाधा से न श्रीकृष्ण के हृदय में विश्व प्रेम कम हुआ है और न राधा के हृदय में। श्रीकृष्ण तो उस बाधा से बचकर द्वारिका चले जाते हैं और राधा उनके द्वारिका चले जाने पर लोक हित में लीन होने का निश्चय कर लेती है। अतः चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के आरम्भ तक विमर्श संधि की योजना की गई है, जिसमें 'नियताप्ति' कार्यावस्था तथा जरासंध की कथा सम्बन्धी 'प्रकरी' अर्थप्रकृति भी विद्यमान हैं।

निर्वहण या उपसंहृति संधि वह कहलाती है, जिसमें पूर्व नियोजित चारों संधियों में उपन्यस्त बीजादि रूप कथा-भाग प्रधान फल के निष्पादक बनते हुए दिखाई देते है। इसमें कथा का उपसंहार दिखाया जाता है।[1] इसके अंतर्गत 'फलागम' नामक कार्यावस्था रहती है, जिसमें समग्र फल की प्राप्ति का उल्लेख किया जाता है।[2] 'प्रियप्रवास' में यह संधि सप्तदश सर्ग के नवम छंद की "प्राणी आशा कमल-पग को है नहीं त्याग पाता" पंक्ति से लेकर काव्य के अन्त तक चलती है क्योंकि यहाँ से कवि ने द्वारिका-गमन द्वारा कृष्ण के हृदय में व्याप्त विश्व प्रेम की पुष्टि करके राधा के लिए हृदय में उदित विश्व-प्रेम का भी व्यावहारिक रूप से वर्णन किया है। अब राधा भी निरंतर गोप, गोपी, नंद, यशोदा आदि की सेवा-शुश्रूषा के अतिरिक्त सदैव लोकहितकारी कार्यों में लीन रही आती है, उसने अपनी सखियों का एक दल भी बना लिया है, जो यत्र-तत्र जाकर व्रज में शान्ति का विस्तार करता है, दुखीजनों को धैर्य बँधाता है और व्रज की हित-साधना में लगा रहता है। इसकी संस्थापिका श्रीमती राधा हैं, जो विश्व-प्रेम से ओत प्रोत हैं। इसी कारण कवि ने अन्त में यही कामना की है—

---

१ साहित्य दर्पण, पृ० ४१३-४१४
२. वही, पृ० ४०७

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा ! भरत-भुव के अंक में और आवें।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे।"[1]

अतः उक्त पंक्तियों तक कवि ने 'फलागम' कार्यावस्था और 'कार्य' अर्थप्रकृति के साथ-साथ निर्वहण या उपसंहृति नामक पंचम संधि की योजना की है।

कथावस्तु की समीक्षा—'प्रियप्रवास' की समस्त कथा दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की कथा प्रथम सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग तक चलती है, जिसमें कंस का निमंत्रण लेकर अक्रूर जी गोकुल पधारते हैं और अपने साथ श्रीकृष्ण को ले जाते हैं और श्रीकृष्ण समस्त व्रज-जनों को रोता-बिलखता छोड़कर मथुरा में जा बसते हैं। कथा का उत्तरार्द्ध नवम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक है, जिसमें श्रीकृष्ण व्रज-जनों की सान्त्वना देने के लिए उद्धव को भेजते है, उद्धव गोकुल में आकर नंद-यशोदा, गोप-गोपी एवं राधा की व्यथित दशा कुछ दिन व्रज में रहकर देखते हैं और कृष्ण का लोकोपकार एवं विश्व-प्रेम से भरा हुआ संदेश समस्त व्रज-जनों को देते हैं। अन्त में उद्धव भी मथुरा लौट जाते हैं, श्रीकृष्ण जरासंध के आक्रमणों से घबड़ाकर द्वारिका चले जाते हैं, और राधा विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर व्रजभूमि की सेवा एवं हित-साधना में लीन हो जाती है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा तो अत्यन्त अल्प है, किन्तु गोपियों नंद-यशोदा एवं राधा के विलाप-कलाप से ही सारा कलेवर भर दिया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण को एक महात्मा एवं महापुरुष के रूप में अंकित करने का तो प्रयत्न किया गया है, परन्तु वे रंगमंच पर आकर स्वयं कोई पराक्रम नहीं दिखाते और न कोई हित-साधन का ही कार्य करते हैं, अपितु उनके लोकप्रिय कार्यों का उद्‌घाटन गोप-गोपियों द्वारा विरह-निवेदन करते समय किया जाता है। वैसे उनकी इस कथा में घटना-क्रम का अभाव नहीं है, परन्तु वे सभी घटनायें स्मृति के रूप में आने के कारण पाठकों को आकृष्ट करने में सर्वथा असमर्थ हैं। विरह-वर्णन की प्रधानता होने के कारण पाठक का मन ऊब जाता है तथा इन मार्मिक स्थलों में उसका मन नहीं रमता। प्रथम सर्ग से लेकर पंचम सर्ग तक तो कथा का तनिक क्रमिक विकास दिखाई देता है, परन्तु षष्ठ सर्ग से जो करुण-क्रंदन प्रारम्भ

---

१. प्रियप्रवास, १७।५४

हुआ है वह अंत तक बराबर चलता रहता है, जिससे न तो कथानक में प्रवाह रहा है और न प्रस्पंदन, अपितु एकरसता के कारण शिथिलता आ गई है। वैसे कवि ने उस करुण-क्रंदन के बीच कृष्ण के पराक्रम एवं शील का वर्णन करके कथानक में कुछ गति प्रदान करने की चेष्टा की है और स्थान, समय एवं कार्य की अन्विति पर भी ध्यान दिया है, परन्तु बीच-बीच में गोपों के लम्बे-लम्बे भाषणों ने कथा की गति में व्याघात उत्पन्न कर दिया है। एक गोप अपनी व्यथा-कथा समाप्त नहीं करता कि तुरन्त दूसरा गोप दौड़कर रंगमच पर आ खड़ा होता है और अपने स्वगत-भाषण के मारे चित्त को बेचैन कर देता है। वह औरों को बोलने तक का अवकाश तब तक नहीं देता, जब तक उसकी सारी कथा समाप्त नहीं होती। यहाँ तक कि उद्धव भी उनकी कथायें सुनते हैं और मौन बने रहते हैं। उनका यह मौन रहना और भी कथा को अस्वाभाविक बना देता है तथा कवि की कथा-योजना सम्बन्धी शिथिलता एवं अनभिज्ञता का परिचायक हो जाता है। इससे सारी कथा नीरस और प्रभाव-हीन हो गई है तथा कहीं भी संवाद-जन्य वैचित्र्य के दर्शन नहीं होते।

कथानक की योजना करते समय कवि का विचार यह था कि सर्वत्र श्रीकृष्ण को महा-पुरुष के रूप में ही अंकित किया जावेगा तथा उनके अति-मानुषिक एवं असम्भव कार्यों को बुद्धिसंगत तथा तर्कसम्मत बनाने का प्रयत्न किया जावेगा। परन्तु कवि अपनी इस योजना में सफल नहीं हो सका है। वैसे कवि ने अधिकांश घटनाओं को तर्कसम्मत एवं मानवोचित बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि एक 'पयोमुख बालक' उन्मत्त गजेन्द्र से लड़ता है या भयंकर मुष्टिक, चाणूर आदि से भिड़ता है और जीत जाता है[1], तब हमें कवि भी परम्परा का पालक ही जान पड़ता। ऐसे ही जब हम बारह वर्ष के बालक कृष्ण को कालियानाग का दमन करने के लिए एक ऊँची कदम्ब की डाल पर चढ़कर उस प्रसिद्ध कालीदह में कूदते देखते हैं और कई पन्नगों एवं पन्नगियों के साथ उस कालीदह में ऊपर आकर तथा फणीश के सिर पर सुशोभित होकर अपने हाथ में वर रज्जु लिए हुए वंशी बजाते देखते है,[2] तब हमारी बुद्धि जवाब दे देती है और तब हमें कवि किसी भी प्रकार कथा को तर्कसंगत या बुद्धिग्राह्य बनाता हुआ नहीं दिखाई

१. प्रियप्रवास ३।६०-६५
२. वही ११।३७-४१

देता। यही बात गोवर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने म है। वहाँ कवि ने अपनी नवीन उद्भावना द्वारा यह सिद्ध किया है कि गोवर्द्धन पर्वत म श्रीकृष्ण का प्रसार इतना अधिक था और वे इतनी फुर्ती के साथ सभी लोगो के पास आते जाते दिखाई देते थे, कि जिससे यह जान पडता था मानो उन्होने पवन को अँगुली पर उठा लिया हो।[1] अत ऐसी ऐसी नवीन उद्भावनाओ के कारण न तो कवि कथा म कौतूहल एव आश्चर्य की सृष्टि कर सका है और न रोमाचित करने वाले अप्रत्याशित मोडो को ही स्थान दे सका है अपितु इस मौलिकता के चक्कर म पडकर कथा हास्यास्पद हो गई है तथा श्रीकृष्ण का चरित्र भी कुछ मानवोचित और कुछ परब्रह्म जैसा हो हो गया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने श्रीकृष्ण के विलासी एव लीलामय रूप की अपेक्षा लोक हितैषी, समाजसेवी तथा विश्व प्रेमी रूप की अच्छी प्रतिष्ठा की है और जिस प्रकार के नायक की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार की नायिका भी चित्रित की गई है। इतना ही नहीं प्रकृति चित्रण एव उद्धव के आगमन पर ब्रज-जनो के व्यवहार चित्रण म भी कवि ने बडा कौशल दिखाया है। परन्तु इन सभी वर्णनो पर भागवत का बडा गहरा प्रभाव है। इतना ही नही सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण भक्त कवियो से प्रभावित होकर भी कवि ने वात्सल्य, भ्रमरगीत एव विरह प्रसगो की योजना की है। परन्तु करुण-क्रन्दन तथा प्रकृति चित्रण की बहुलता कथानक के आकर्षण को समाप्त कर देती है और ऐसा जान पडता है कि कवि के पास वर्णन करने के लिए व्यापारो का सर्वथा अभाव है। प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने ठीक ही लिखा है—'हरिऔध ने वर्त्तमान बुद्धिवाद और सुधारवाद की प्रगति के प्रभाव म आकर कृष्ण को और राधा को एक आदर्श महात्मा और त्यागिनी के रूप म चित्रित करने की कोशिश तो की परन्तु अपनी इस कोशिश के लिए उन्होने जो क्षेत्र अर्थात् प्रतिपाद्य विषय (Theme) चुना वह उसके बिल्कुल ही अनुपयुक्त था। गोपियो की पुराण सगत परम्परागत रासलीलामूलक वियोग-गाथा की नींव पर आदर्शवाद और बुद्धिवाद की किलेबदी हो नहीं सकती। हाँ, श्रीकृष्ण-की अन्य गाथायें अवश्य हैं, जिन पर यह किलेबदी खडी की जा है। महाभारत के सैकडो ऐसे प्रसग हैं जिनपर वीर, नीतिज्ञ, महापुरुष [illegible] श्रीकृष्ण पर सुसगत कविताएँ रची जा सकती हैं।'[2]

---

[1] १२।६६ ६७

[2] हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० ९३

संक्षेप में हम यह कह सकते है कि कथानक की योजना तो कवि ने सर्वथा शास्त्रीय नियमानुसार ही की है, इसमे संधियों एवं कार्यावस्थाओं का ध्यान रखा है, कृष्ण के परम्परागत रूप को परिवर्तित करके उन्हे युगानुकूल समाजसुधारक एवं लोक-रक्षक नेता के रूप मे रखा है, प्रकृति की भी अत्यन्त रमणीक झांकियां अंकित की हैं, राधा के लोकहितैषी रूप की अभिव्यक्ति करके नारी-आन्दोलन को भी महत्व प्रदान किया है तथा कथा के कुछ मार्मिक स्थलों—जैसे, कंस के निमत्रण पर यशोदा और नन्द के हार्दिक भावों का निरूपण, कृष्ण के मथुरा-गमन के अवसर पर व्रज-जनों का करुण-विलाप, पवन-दूती प्रसंग, नंद के लौटने पर यशोदा माता का करुण-क्रन्दन, उद्धव-गोपी संवाद में लोकहित एवं विश्व-प्रेम की महत्ता, गोपियों की कृष्ण-वियोग सम्बन्धी विक्षिप्तता, राधा-उद्धव संवाद आदि को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं कृष्ण के लोकोपकारक कार्यों मे जातीय-प्रेम, स्वदेश-रक्षा स्वजाति-उद्धार, कर्त्तव्यपालन की अटूट आकांक्षा, जननी-जन्म-भूमि का उत्कट प्रेम, सर्वभूत हित, विश्व-प्रेम आदि का समावेश करके सर्वसाधारण के सम्मुख जीवन उन्नत करने एवं अपने चरित्र को उज्ज्वल बनाने का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है। अतः भले ही कथानक अन्यान्य अभावों से युक्त हो, परन्तु वह आधुनिक वैज्ञानिक युग के सर्वथा अनुकूल है तथा आगामी कवियों के लिए एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का कार्य कर रहा है।

प्रकरण ४

प्रियप्रवास का काव्यत्व—भावपक्ष

'प्रियप्रवास' मे प्रबधात्मकता—भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने एक प्रबध काव्य के लिए कितनी ही बातें आवश्यक बताई हैं,[१] विस्ताररूप से उन सबका उल्लेख न करके हम यहाँ केवल उन्ही बातो का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते है, जो सर्वसम्मत हैं, जिनका होना अत्यन्त आवश्यक है और जिनके बिना किसी काव्य को प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। वे बातें निम्नलिखित हैं —

(१) प्रबन्ध काव्य मे एक सानुबध कथा होनी चाहिए, जिसमे प्रबधन की भी प्रधानता हो तथा जहाँ आदि मध्य और अवसान स्पष्ट हों।

(२) उसमे प्रासगिक कथाओ की सुसम्बद्ध योजना होनी चाहिए।

(३) उसमे आये हुए वस्तु-वर्णना मे रसात्मकता की प्रधानता होनी चाहिए।

(४) उसके अन्तर्गत प्रासगिक कथाओ और वस्तु-वर्णनो का मुख्य कथा के साथ पूर्णतया सम्बन्ध निर्वाह होना चाहिए।

(५) 'कार्य' की दृष्टि से उसके समस्त कथानक मे एकरूपता होनी चाहिए।

सानुबध कथा—उक्त विशेषताओ के आधार पर यदि हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टिपात करते हैं तो पता चलता है कि कवि ने प्रथम सर्ग से लेकर सत्तदश सर्ग तक कथा की सुसम्बद्ध योजना की है, जिसमे श्रीकृष्ण के गमन द्वारा व्याप्त विरह का वर्णन करते हुए उनके लोकोपकारी कार्यों एव राधा के विश्व-प्रेम का चित्रण किया है। सारी कथा तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक कथा का आदि भाग है, जिसमें कस

---

१ विस्तार-पूर्वक अध्ययन के लिए देखिए लेखक कृत "कामायनी में काव्य, सस्कृति और दर्शन", पृष्ठ १३०–१३२

के निमन्त्रण पर अक्रूर जी श्रीकृष्ण को लेकर मथुरा चले जाते है और सारी व्रजभूमि श्रीकृष्ण के जाते ही बिलखती-बिसूरती रह जाती है। कथा का दूसरा भाग षष्ठ सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक है, जिसमें कवि ने कृष्ण के विरह से व्यथित व्रज-जनों की आकुलता एवं विषादमयी स्थिति का चित्रण किया है, उन्हें समझाने के लिए मथुरा से उद्धव का आगमन दिखाया है और उद्धव को भी उनकी व्यथा-कथा सुनते-सुनते बेचैन दिखाया है। यह कथा का मध्य भाग है। इसके अनन्तर चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक कथा का अन्तिम भाग या अवसान दिखाया गया है, क्योंकि इन सर्गों में ही उद्धव पहले गोपियों को कृष्ण का विश्व-प्रेम, लोकहित एवं स्वार्थ-त्याग सम्बन्धी सन्देश सुनाते है, फिर उनसे योग-द्वारा चित्त को सँभालने का आग्रह करते है और पुन: राधा के पास जाकर श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम सम्बन्धी सन्देश सुनाते हुए राधा को भी विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत बना देते है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा आदि, मध्य और अवसान सहित सुसम्बद्ध दिखाई देती है। इतना अवश्य है कि इस कथा मे व्रज-जनों की विषादमयी करुण-स्थिति का चित्रण अधिक है, जिससे पाठकों का मन पढते-पढ़ते या सुनते-सुनते ऊब जाता है। परन्तु कवि ने इस ऊब एवं शिथिलता को दूर करने के लिए बीच-बीच मे श्रीकृष्ण के समाजसेवी एवं लोकोपकारी कार्यों एवं पराक्रमो का वर्णन किया है, जिससे कथा मे गतिशीलता उत्पन्न हुई है, फिर भी कवि कथा के विषाद-पूर्ण वातावरण की एकरसता को दूर नही कर सका है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि कवि ने पहले इस काव्य का नाम 'व्रजांगना विलाप' रखा था[1] और इसी के अनुसार कथा की योजना की थी। 'प्रियप्रवास' नाम तो पीछे दिया गया है। इसी से कथा में विलाप या विषाद की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। यह समस्त कथा प्रकथन-पूर्ण भी है, क्योंकि यहाँ अधिकांश स्थल इतिवृत्तात्मक प्रकथन प्रणाली को अपनाते हुए ही लिखे गये हैं। अतः इस काव्य मे प्रकथनपूर्ण सुसम्बद्ध कथा की योजना मिलती है।

प्रासंगिक कथा-योजना—'प्रियप्रवास' मे जितनी भी प्रासंगिक कथायें आई है, उनमे से अधिकांश कथायें तो स्मृति के रूप में ही वर्णित है, परन्तु अक्रूर का आगमन तथा श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन, उद्धव का आगमन और गोप-गोपी, नंद-यशोदा तथा राधा को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाना, जरासंध के आक्रमण तथा श्रीकृष्ण का द्वारिका-गमन आदि कुछ ऐसी प्रासंगिक कथायें

---

१. प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० २

हैं, जिनको कवि ने घटित होता हुआ दिखाया है। साधारणतया प्रासंगिक कथाओं एवं घटनाओं की दृष्टि से दो प्रकार के काव्य देखे जाते हैं—प्रथम तो वे हैं जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के लिए ही उसके जीवन की मुख्य मुख्य घटनायें दी जाती हैं तथा दूसरे वे हैं जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर न रह कर किसी मुख्य घटना पर रहती है और उसी घटना के उपक्रम के रूप में सारा वस्तु विन्यास किया जाता है। प्रथम कोटि में रघुवंश बुद्धचरित्र विक्रमाङ्कदेव चरित्र आते हैं तथा दूसरी कोटि में कुमार-सम्भव किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि आते हैं।[१] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्गीकरण के आधार पर 'प्रियप्रवास' की गणना द्वितीय कोटि के महाकाव्यों में की जा सकती है, क्योंकि यहाँ कवि की दृष्टि विश्वप्रेम एवं लोकहित के कारण श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन एवं राधा के हृदय में भी विश्व प्रेम की व्यंजना करने की ओर रही है और इसी कारण कवि ने यहाँ केवल उन घटनाओं का वर्णन ही किया है जिनका सम्बन्ध कृष्ण के जातीय, राष्ट्रीय एवं सार्वभौम हित से है। इन्हीं घटनाओं में कालियनाग, दावानल, गोवर्द्धन पर्वत को उठाना, अघासुर, व्योमासुर आदि के वृत्तान्त आते हैं। ये सभी प्रासंगिक कथायें मुख्य कथा से पूर्णतया सुसम्बद्ध हैं और कृष्ण के लोकहित एवं विश्व प्रेम की परिचायिका हैं। अतः उक्त सभी प्रासंगिक कथाओं को मुख्य कथा का अंग माना जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन कथाओं में परम्परागत कथाओं से भिन्नता प्रस्तुत करते हुए कवि ने जो परिवर्तन किया है, वह अधिक तर्क-सम्मत एवं बुद्धिग्राह्य नहीं बन सका है परन्तु कवि की योजना सर्वथा प्रबन्ध काव्य के ही अनुकूल है।

वस्तु-वर्णनों की रसात्मकता—हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में कितने ही स्थल ऐसे चुने हैं, जिनके वर्णन में अद्भुत कौशल दिखाते हुए सरसता का संचार किया है। 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग में आया हुआ सन्ध्याकालीन गोचारण का दृश्य कितना आकर्षक एवं मनोमोहक है। उस समय सन्ध्या की अरुणिमा से रंजित, गो-रज से विभूषित, विविध धेनु एवं ग्वालबालों के मध्य अलंकृत श्रीकृष्ण से सुशोभित तथा नाना वंशी-वेणु आदि वाद्यों से निनादित व्रज भूमि की सन्ध्याकालीन छटा किसे विमुग्ध नहीं करती।[२] इतना ही नहीं

---

१ जायसी-ग्रंथावली भूमिका, पृ० ७१

२ प्रियप्रवास १।१-१२

उस ग्वाल-मंडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड़ पड़ती है तथा सम्पूर्ण जन-मंडली नंद-गृह तक बड़े हर्ष एवं उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठकों के हृदय में सरसता का संचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की वेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एवं करुणा का सागर व्रज में उमड़ पड़ता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम में लीन होकर अपने-अपने कार्य छोड़कर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एवं मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्संदेह पत्थर भी रो सकते हैं। कवि ने तो लिखा भी है :—

> "घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
> नाना बातें दुखमय कहीं पत्थरों को रुलाया।
> हा हा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
> जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।[1]

उस शोक में सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण में खिंचकर गायें भी वहाँ भागी चली आती हैं तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[2] इसके अतिरिक्त व्रज के गोप एवं गोपीजनों की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इस तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अंकित कर दिया है, जिसमें सजीवता एवं मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नंद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक हैं :—

> "हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
> हा! प्राणों के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
> हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
> हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।"[3]

---

१. प्रियप्रवास ५।६६
२. वही ५।३७–४०
३. वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण में भी कवि ने पर्याप्त सरसता का सचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एव लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाओ के चित्रण मे कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करन का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बातें करती हुई कृष्ण क विरह म भ्रमित एव विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झांकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी सवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एव चित्ताकर्षक हैं। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का सचार करते हुए उन्हें चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हें हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबधकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो म करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्ह पढते-पढते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होन के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिसस न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके हैं और न विप्रलम्भ शृगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह में विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीडा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन स प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सग उसी रात्रि में नद और यशोदा की व्यथित एव आशकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१ जायसी ग्रथावली—भूमिका, पृ० ७३।

हुए प्रारम्भ हुआ है तथा अन्त तक इसी का वर्णन चलता है। यही बात अन्य सर्गों में भी विद्यमान है कि प्रत्येक सर्ग अपने से पूर्व सर्ग से पूर्णतया सम्बद्ध है। प्रत्येक सर्ग की कथा नदी की धारा की भाँति अविरल गति से प्रवाहित होती हुई बढ़ती चली जाती है और कहीं भी कथा विशृंखलित होती हुई नहीं दिखाई देती। इतना अवश्य है कि सर्गों के बीच-बीच में अन्य कथाओं का समावेश करने के लिए कवि ने एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया है अर्थात् उन कथाओं को स्मृति के रूप में रखा है, उन्हें घटित होते हुए दिखाने की चेष्टा नहीं की है। इस नवीन परम्परा के कारण अथवा स्मृति रूप में कथाओं का उल्लेख करने के कारण कथाओं का क्रम-भंग हो गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में श्रीकृष्ण की बाल-कथायें क्रमशः इस तरह आई हैं-- पूतना-उद्धार, तृणावर्त-उद्धार, अघासुर उद्धार, कालिय नाग की कथा, दावानल से रक्षा, गोवर्द्धन धारण, केशी तथा व्योमासुर का उद्धार तत्पश्चात् मथुरा जाकर कुवलयापीड़, चाणूर, मुष्टिक, कंस अदि का वध। परन्तु हरिऔध जी ने इन कथाओं का वर्णन यथाक्रम न करके इनमें से पहले तो पूतना और तृणावर्त की कथा के उपरान्त कुवलयापीड़, चाणूर, मुष्टिक, कंस आदि के वध की सूचना दी है और फिर अघासुर-वध की कथा का उल्लेख न करके पहले कालियनाग की कथा का वर्णन बड़ी सजीवता के साथ किया है। तदुपरान्त आपने दावानल, गोवर्द्धन-धारण, केशी, व्योमासुर आदि की कथायें सुनवाई हैं। इस तरह भागवत से यहाँ क्रम बदलकर कथायें कहलवाई गई हैं। परन्तु यह कोई व्यतिक्रम नहीं माना जा सकता, क्योंकि जब इन कथाओं को काव्य में घटित होता हुआ दिखाया ही नहीं गया है, तब फिर उन्हें आगे-पीछे कभी भी किसी के द्वारा कहलवाया जा सकता है। मुख्य कथा तो यहाँ श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम में लीन होकर मथुरा-गमन तथा उनके गमनोपरान्त उद्धव द्वारा दिये जाने वाले विश्व-प्रेम एवं लोकहित सम्बन्धी संदेश को सुनकर राधा का भी विश्व-प्रेम में लीन होना है। इस कथा की संगति में कहीं व्याघात उत्पन्न नहीं होता तथा वह कहीं विशृंखलित होती हुई नहीं दिखाई देती, अपितु इस कथा के अनुसार सर्गों का विभाजन भी सर्वथा उपयुक्त एवं समीचीन जान पड़ता है। इसके अतिरिक्त मुख्य प्रासंगिक कथायें तो यहाँ चार ही हैं— (१) कंस के निमंत्रण पर श्रीकृष्ण का मथुरा गमन, (२) गोपियों को समझाने के लिए उद्धव का मथुरा से आगमन, (३) उद्धव-गोपी तथा उद्धव-राधा संवाद और (४) कृष्ण का जरासंध के आक्रमणों से दुःखी होकर मथुरा से द्वारिका चला जाना। इन कथाओं को कवि ने राधा-कृष्ण के विश्व-प्रेम

सम्बन्धी मुख्य कथान से अत्यन्त सुसम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है तथा उनमे एकरूपता एव सुसम्बद्धता विद्यमान है।

'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता—प्रबन्ध काव्य की सबसे बडी विशेषता ही यह होती है कि उसकी सारी कथा एक उद्देश्य, एक ध्येय अथवा एक 'कार्य' की सिद्धि को अपना लक्ष्य बनाकर क्रमश चलती है। इस लक्ष्य-प्राप्ति या कार्य सिद्धि के लिए ही सारी कथा मे अन्य प्रासगिक कथाओं की योजना की जाती है, उसको सधियो एव कार्यावस्थाओ म विभक्त करके प्रस्तुत किया जाता है तथा उसमे आदि, मध्य एव अवसान की योजना करत हुये कार्य-सकलन पर ध्यान दिया जाता है। इतना ही नहीं आचार्यों की दृष्टि मे चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति भी प्रबध काव्य का उद्देश्य है। अत प्रबध काव्य की कथावस्तु म उक्त चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिए भी व्यवस्था की जाती है। इन सभी आधारो पर जब हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि जैसे रामचरितमानस का ध्यय रावण वध, पदमावत का ध्येय पद्मिनी का सती होना और 'कामायनी' का ध्येय मनु को आनद की प्राप्ति है, उसी तरह 'प्रियप्रवास' का ध्येय कृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम का सदेश पाकर राधा का विश्व प्रेम मे लीन होना है। इस ध्येय या कार्य की दृष्टि से ही सारी कथा यहाँ नियोजित है। इसी कारण यहाँ कविने पहले श्रीकृष्ण का विश्व प्रेम मे लीन होकर अपनी प्रिय क्रीडा-भूमि, वात्सल्यमयी माता, दुलारपूर्ण पिता, चिरस्नेही सखा तथा चिरप्रेमिका गोपियों का परित्याग करके मथुरा-गमन का वर्णन किया है और भी फिर इसी लोकहित अथवा विश्व प्रेम से प्रेरित होकर वे मथुरा नगरी को भी छोडकर द्वारिका मे जा बसते हैं। उनके इसी लोकहित एव विश्व प्रेम के सदेश को लेकर उद्धव ब्रज में पधारते हैं और सभी गोप गोपियो एव राधा को सदेश देते हैं। उस सदेश को सुनते ही राधा अपनी अन्य कुमारी सखियों को लेकर एक सुन्दर सगठित दल स्थापित करती है तथा सारे ब्रज प्रदेश मे सुख और शान्ति का प्रचार करती हुई लोकहित एव विश्व-प्रेम मे लीन होजाती है। इतना ही नहीं इस कथा विस्तार मे कवि ने कृष्ण और राधा को विश्व प्रेम मे लीन दिखाकर मोक्ष प्राप्त करते हुए भी अकित किया है। इस तरह सम्पूर्ण कथा का झुकाव एक 'कार्य' की ही ओर है, उसी कार्य को दृष्टि में रखकर कवि ने कथा का प्रारम्भ कृष्ण के मथुरा-गमन से किया है, उसी 'कार्य' को दृष्टि मे रखकर कवि ने बीच-बीच मे गोप-गोपियो के मुख से कृष्ण के लोकहित एव समाज उद्धार के कार्यों का वर्णन किया है और उसी 'कार्य' के कारण अन्त मे राधा भी ब्रज के कण-कण में कृष्ण के स्वरूप की झाँकी देखते हुए उस ब्रज-

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' कैसा प्रबंधकाव्य है तथा वह महाकाव्य है अथवा नही। पहले तो प्रायः प्रबंधकाव्य के दो भेद ही माने जाते थे—खंड काव्य तथा महाकाव्य। परन्तु अब युग की प्रगति के साथ-साथ काव्य की भी विशेष प्रगति हुई है और काव्य ने भी अनेक करवटें बदलते हुए नानारूपो मे व्यक्त होना सीख लिया है। अब काव्य के इसी बदलते हुए रूप को देखकर तथा इन बदलती हुई परिस्थितियो का अनुशीलन करके आचार्यों ने भी काव्य के उन भेदो का वर्गीकरण एव विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण होने के उपरान्त ही लक्षण-ग्रथ बनते हैं। इसी कारण आज नवीनतम लक्षण-ग्रथो मे प्रबंधकाव्य के सात रूप बताए गए है —(१) महाकाव्य, (२) खंडकाव्य, (३) एकार्थ काव्य, (४) गीतिकथा, (५) मुक्तक प्रबन्ध, (६) नाट्य प्रगीत और (७) आत्मचरित।[1] इनमे से महाकाव्य एव खण्डकाव्य की चर्चा तो सभी साहित्य-शास्त्रो मे मिल जाती है। एकार्थ काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमे महाकाव्य के सदृश न तो पच सधियो का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यञ्जना की ओर अधिक रहता है। गीतिकथा से तात्पर्य अग्रेजी बैलेड (Ballad) से है अर्थात् गीति कथा वे सरल कथायें कहलाती हैं, जो गीत के रूप मे लिखी जाती हैं। उनमे सामान्यत भावों को उद्दीप्त करने वाले ऐसे-ऐसे लघु गीतो की योजना की जाती है, जिसमे पूरा कथानक रहता है। ये गीति-कथायें कई प्रकार की मिलती हैं—जैसे, कथाहीन नृत्य-गीत, वाद्यात्मक समवेत रूप से गाने योग्य नृत्य-गीत आदि। कुछ विद्वानो का विचार है कि ये गीति-कथायें ही महाकाव्य या खण्डकाव्यो का प्रारम्भिक रूप हैं। इनका ही क्रमिक विकसित रूप खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप मे दिखाई देता है। मुक्तक-प्रबंध ऐसे प्रबंधकाव्य को कहते हैं, जो मुक्तक छन्दो मे लिखा जाता है, परन्तु उन छंदो का सकलन इस तरह से किया जाता है कि जिससे एक कथा सी बन जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक इसी तरह का मुक्तक-प्रबंध है। नाट्य प्रगीत से तात्पर्य ऐसे प्रबधात्मक काव्यो से है, जिनमे छन्दोबद्ध आत्मचरित लिखा जाता है और जिन्हें कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का 'द्वापर' ऐसा ही नाट्य-प्रगीत है, जिसमे

[1] समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ७६

कृष्ण, यशोदा, नारद आदि स्वयं अपने मनोभावों को प्रकट करते हैं।[1] 'आत्म-चरित' से अभिप्राय काव्य रूप में लिखे हुए अपने जीवन-चरित्र से है। यह विधा भी बड़ी तीव्र गति से अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है। वैसे इसका श्रीगणेश 'प्रसाद' आदि कवियों के समय में ही हो गया था, क्योंकि प्रेमचन्द जी ने सन् १९३२ ई० में हंस का एक विशेषांक निकाला था, जिसमें सभी लेखकों के आत्मचरित दिये थे। उसके लिए प्रसाद जी ने 'आत्मकथा' शीर्षक देकर २२ पंक्तियों में अपना संक्षिप्त आत्मचरित लिखा था।[2]

अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' की गणना प्रबंधकाव्य के उक्त भेदों में से किसमें की जा सकती है। उक्त सात भेदों में से यह गीतिकथा तो है नहीं, क्योंकि वहाँ बैलेड की भाँति कथा का न तो प्रारम्भिक रूप है और न यह कोरा भावोद्दीपक गीतरूप ही है, अपितु यह एक सर्गबद्ध विस्तृत रचना है। इसे मुक्तक-प्रबंध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यहाँ उद्धव-शतक की तरह मुक्तक-छन्दों को क्रम-बद्ध रूप में संकलित नहीं किया गया है, अपितु सारी कथा पूर्वापर संबंध रखने वाले छन्दों में लिखी गई है। यह नाट्य-प्रगीत भी नहीं है, क्योंकि 'द्वापर' काव्य की तरह यहाँ सभी पात्र अपने-अपने मनोभावों को प्रकट करते हुए अवतीर्ण नहीं होते। इसके अतिरिक्त यह कोरा पद्य बद्ध आत्मचरित भी नहीं है। अब शेष भेदों में से महाकाव्य, खंडकाव्य एवं एकार्थकाव्य रह जाते हैं, जिन पर हमें विशेष रूप से विचार करना है।

सर्वप्रथम खंडकाव्य को लेते हैं। खंडकाव्य के बारे में आचार्यों का विचार है कि उसमें काव्य के एक अंश का अनुसरण किया जाता है। उसमें जीवन के किसी एक अंग, किसी एक घटना या किसी एक कथा का वर्णन रहता है, जो स्वतः पूर्ण होता है। जैसे मेघदूत, जयद्रथ-वध आदि।[3] इस दृष्टि से विचार करने पर 'प्रियप्रवास' में कृष्णजी के मथुरा-गमन पर ब्रज के लोगों की करुण दशा का ही वर्णन किया गया है। केवल एक इसी घटना को विस्तारपूर्वक १७ सर्गों में वर्णन करके कवि ने उसे तूल दे दिया है। अतः इसमें कृष्ण के जीवन की एक ही घटना का वर्णन होने के कारण यह खंड-काव्य दिखाई देता है। यह दूसरी बात है कि कृष्ण के जीवन से संबंधित अन्य घटनाओं को पात्रों के मुख से कहलवाकर कथा की सूच्य प्रणाली को अपनाते

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ८०–८१
२. हंस-मासिक पत्र, जनवरी-फरवरी १९३२ ई०
३. काव्य-दर्पण, पृ० ३२७

हुए कवि ने उसमे अन्य कथाओ का समावेश कर दिया है। परन्तु ये कथायें स्मृति रूप मे आई हैं, जिनको घटित नही दिखाया गया है और जो उसी एक घटना के प्रसग म सकलित की गई हैं। इस कारण कथानक की लघुता, जीवन के एक अग का वर्णन और केवल एक घटना का ही उल्लेख होने से इसे खडकाव्य के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसके कथानक को एक प्रबध काव्य के लिए भी समुचित नही समझते। उन्होने इसी कारण लिखा है—"इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अत प्रबध काव्य के सब अवयव इसम कहाँ आ सकते ? किसी के वियोग मे कैसी कैसी बातें मन मे उठती हैं और क्या-क्या कहकर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।'[1] यहाँ कथा की लघुता खडकाव्य के अनुकूल तो सर्वथा जान पडती है परन्तु खडकाव्य मे जिस तरह काव्य के एक अश का ही अनुसरण किया जाता है वह बात यहाँ नही है। यहाँ चरित्र चित्रण, प्रकृति चित्रण एव वस्तु-वर्णन भी अपेक्षाकृत विस्तृत हैं और यहाँ काव्यगत विविधता है यहाँ कथा यद्यपि लघु है तथापि उसे तूल देकर ही सही, विस्तृत बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। इतना ही नही स्मृति रूप म कही गई कथायें भी विभिन्न घटना वक्रियो से परिपूर्ण हैं। इसलिए इसे खडकाव्य नही कहा जा सकता, अपितु खडकाव्य से विस्तृत किसी विधा मे इसकी गणना की जा सकती है।

अब प्रबधकाव्य का एक विस्तृत रूप 'एकार्थ काव्य' के नाम से भी अभिहित होने लगा है। एकार्थ काव्य का एक लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त प० रामदहित मिश्र ने लिखा है कि "कोई प्रबध काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, किन्तु उसमे महाकाव्य के लक्षण नही होते और न उसमें उसके ऐसा वस्तु विस्तार ही देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्ग बद्ध होता है। जैसे, 'प्रियप्रवास', साकेत, कामायनी आदि।"[2] इस आधार पर आपने 'प्रियप्रवास' को एकार्थ काव्य कहा है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा है कि "एकार्थ काव्य में कथा प्रवाह मे मोड कम होते हैं। गगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी वस्तुत एकार्थ काव्य हैं।[3] एकार्थ-

---

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८ (सातवाँ सस्करण)
२ काव्य दर्पण, पृ० ३२७
३ वाङ्मय विमर्श, पृ० ४५

काव्य की उक्त कसौटियों पर कसकर यदि हम 'प्रियप्रवास' को देखें तो पता चलेगा कि डा० दशरथ ओझा ने एकार्थ काव्य में पंच संधियों के विधान का न होना स्वीकार किया है,[1] परन्तु यहां हम पहले ही देख चुके हैं कि 'प्रियप्रवास' मे पांचों संधियां विद्यमान हैं तथा सारी कथा पंच संधियों, पंच कार्यावस्थाओं एवं पंच अर्थप्रकृतियों के अनुकूल नियोजित है। दूसरे आपने लिखा कि हैं कि एकार्थ काव्य में कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भाव-व्यंजना की ओर अधिक रहता है।'[2] 'प्रियप्रवास' में कथा में एकरसता होने के कारण उसकी गति तो ऋजु है और कवि भाव-व्यंजना में लीन रहा है, परन्तु कवि ने उसमें मोड़ प्रस्तुत करते हुए गति भी प्रदान की है। जैसे, स्मृति रूप में कृष्ण के जीवन की लोकहितकारी कथाओं का वर्णन करके कवि ने कथा की ऋजुता को परिवर्तित करने की भी चेष्टा की है, उद्धव-गोपी-संवाद भी कथा में नवीन मोड़ उपस्थित कर देता है और राधा-उद्धव-संवाद ने भी कथा में एक नवीन वक्रता प्रदान की है। पं० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि एकार्थ काव्य में महाकाव्य के लक्षण ही नहीं होते। आप यहाँ देखेंगे कि 'प्रियप्रवास' में महाकाव्य के प्राचीन लक्षण तो सभी पूर्ण रूपेण विद्यमान हैं। आगमी पृष्ठों में उनका उल्लेख विस्तार के साथ किया जायेगा।

डा० गुलाबराय ने उक्त एकार्थ काव्य संबंधी धारण का निराकरण करते हुए स्पष्ट लिखा है—"पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' दोनों को ही साहित्य की एक नई विधा एकार्थ काव्य के अन्तर्गत रखा है। विस्तार और मोड़ का प्रश्न सापेक्षित है, अप्रत्याशित मोड़ों के लिए कल्पित कथानकों में अधिक गुंजाइश रहती है। कृष्ण कथा इतनी प्रचलित है कि उसमें मोड़ों की सम्भावना नहीं रहती। सर्गों और छन्दों की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमें महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्रायः सभी आ गये हैं।"[3] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी प्रियप्रवास को महाकाव्य मानते हुए अन्य काव्यों में इसे उच्च स्थान प्रदान किया है।[4] पं० रामाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी 'प्रियप्रवास' को

---

१. समीक्षा-शास्त्र, पृ० ८०
२. वही, पृ० ८०
३. काव्य के रूप, पृ० ९२
४. महाकवि हरिऔध, पृ० ८-९

महाकाव्य मानते हुए तथा उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है—"खडी बोली मे ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्यगुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आज तक दूसरा निकला ही नही। हम इसे खडी बोली के कृष्ण काव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते हैं। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है।"[१] प० लोचनप्रसाद पाडेय ने तो यहाँ तक लिखा है—"यह महाकाव्य अनेक रसो का आवास, विश्व-प्रेम-शिक्षा का विकास, ज्ञान, वैराग, भक्ति और प्रेम का प्रकाश एव भारतीय वीरता, धीरता, गम्भीरतापूरित स्वधर्मोद्धार का पथ-प्रदर्शक काव्यामृतोच्छ्वास है।'[२] पडित श्रीधर पाठक ने तो इसे महाकाव्य स्वीकार करके इसी के छन्दो मे अपने उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है —

"यह अवश्य कवे! तव होइगी,
कृति महाकवि-कीर्ति-प्रदायिनी।"[३]

इतना ही नही डा० प्रतिपालसिंह का तो मत यहाँ तक है कि 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति के महाप्रवाह का उद्घाटन भली प्रकार हुआ है तथा महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष के प्रकटीकरण करने का यहाँ विराट् आयोजन किया गया है। इसी कारण यह काव्य महाकाव्यो की श्रेणी मे स्थान पाने का अधिकारी है।"[४] अत. उक्त सभी तर्कों एव मान्यताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' न तो खडकाव्य है और न एकार्थ काव्य, अपितु नई शैली, नवीन विचारधारा एव नवीन युग की मान्यताओ का एक नवीन महाकाव्य है।

प्राय: महाकाव्य का निर्माण युगयुगान्तर की चिर सचित विचारधारा को लेकर होता है, उससे भूत, वर्तमान एव भविष्य के सुस्पष्ट चित्र अकित किये जाते हैं तथा वह भव्य, महान् एव गरिमामय शैली में किसी देश एवं वर्ग की मान्यताओं को प्रस्तुत करता हुआ वहाँ की सस्कृति, सभ्यता, कला-कौशल, सौन्दर्य आदि का प्रतीक होता है। इसके बारे मे पाश्चात्य एव पौरस्त्य विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है और विचार किया जा रहा है। युग की

१ महाकवि हरिऔध, पृ० ३६१
२. वही, पृ० १०–११
३ वही, पृ० ८।
४ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० १००-१०१

परिवर्तित विचारधारा के अनुसार महाकाव्य की मान्यताओं में भी पर्याप्त परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते चले आ रहे हैं और होंगे। परन्तु महाकाव्यकार कभी उन मान्यताओं, नियमों, सिद्धान्तों, लक्षणों एवं उपादनों से नियंत्रित नहीं होंगे। वे सदैव अपने विचारों के अनुकूल अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसे-ऐसे महाकाव्यों का निर्माण करते रहेंगे, जिन पर किसी एक युग एवं किसी एक काल के सुनिश्चित नियम लागू नहीं हो सकेंगे। अतः महाकाव्य के लिए कोई सर्वमान्य नियम निश्चित करना नितान्त भूल है। फिर भी अब तक की प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार महाकाव्य के लिए विद्वानों ने कुछ आवश्यक तत्व निश्चित किये हैं, जिनके आधार पर किसी रचना का मूल्यांकन किया जा सकता है, उसके गुण-दोषों का विवेचन किया जा सकता है और अपनी कोई राय अस्थायी तौर पर निश्चित की जा सकती है। महाकाव्य के वे आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं :—

(१) कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास सम्मत, विस्तृत एवं महान हो। उसमें अधिकांश यथार्थ घटनाओं का वर्णन हो और यदि कुछ कल्पित घटनायें भी हों, तो वे अस्वाभाविक न होकर सत्य सी प्रतीत हों। सभी प्रासंगिक कथायें मुख्य कथा से सुसम्बद्ध हों तथा उसमें लौकिक एवं पारलौकिक तत्वों का समावेश हो। समस्त कथानक कार्यान्विति से युक्त, सुसंघटित एवं जीवन्त हो और संधि-संध्यंग युक्त आरम्भ, मध्य एवं अवसान से परिपूर्ण हो।

(२) चरित्र-चित्रण—महाकाव्य का नायक देवता, उच्चकुलोद्भव या सच्चरित्र महान् व्यक्ति हो। वह चतुर, उदात्त, वीर एवं जातीय जीवन की समग्र विशेषताओं से परिपूर्ण हो, क्योंकि ऐसा होने से ही सहृदयों के हृदय का साधारणीकरण सुगमता से हो सकता है। उसके अतिरिक्त महाकाव्य में आदर्श, यथार्थ एवं परम्परागत पात्रों के चरित्रों का भी क्रमिक विकास दिखलाया गया हो।

(३) प्रकृति-चित्रण—महाकाव्य के अंतर्गत उषा, संध्या, रजनी, विभिन्न ऋतु आदि के वर्णनों के साथ-साथ प्रकृति रमणीक एवं भयंकर दोनों रूपों की भव्य झाँकी अंकित हो।

(४) युग-जीवन का सम्पूर्ण चित्र—उसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन की पूरी-पूरी झलक हो तथा मानवों की पारस्परिक सहानुभूति, आत्मा की विशालता पीड़ितों के कष्ट-निवारण

सम्बन्धी प्रयत्न, मानव-जीवन के त्रिकाल सत्य, मानवता, विश्वबन्धुत्व, सामाजिक संघर्ष आदि का भी विशद चित्रण हो।

(५) गंभीर भाव एवं रस-व्यंजना—उसमें प्रभावान्विति का ध्यान रखते हुए मानव हृदयों के भावों एवं रसों का उदात्त वर्णन हो, शृंगार, वीर तथा शान्त रस में से किसी एक रस की प्रधानता हो तथा अन्य सभी रस अंगरूप में वर्णित हों और रसोद्बोधक सभी प्रकार के सौंदर्य चित्र अंकित हों।

(६) महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य—उसमें महत्प्रेरणा से परिपूर्ण किसी न किसी महान् उद्देश्य का निरूपण किया गया हो। भले ही वह उद्देश्य प्रत्यक्ष या उपदेशात्मक हो अथवा परोक्ष या प्रतीकात्मक हो, किन्तु उसमें महान् आदर्श विद्यमान हो।

(७) गरिमामयी उदात्त-कला—उसमें उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा की परिचायक गरिमामयी उदात्त एवं भव्य कला का स्वरूप अंकित हो। कला की भव्यता, उदात्तता एवं गरिमा के लिए निम्नलिखित बातें अपेक्षित हैं :—

(क) वह सर्ग बद्ध हो। उसमें विस्तार के लिए आठ या आठ से अधिक सर्ग हों, किन्तु वे न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे हों, और प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगामी सर्ग की कथा सूचित की गई हो।

(ख) वह विवरणात्मक हो, उसका प्रारम्भ मंगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक हो। उसमें खल-निंदा, सज्जन-प्रशंसा हो और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या किसी प्रमुख पात्र या प्रमुख घटना के आधार पर किया गया हो।

(ग) उसकी रचना-शैली उत्कृष्ट एवं कलात्मक हो। उसमें भाव-सम्पन्न एवं परिमार्जित भाषा तथा उच्चकोटि का शब्द विधान हो तथा उसमें परम्परागत विशेषणों, मुहावरों, कथन की विभिन्न प्रणालियों, गुण रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य आदि का प्रयोग हो।

(घ) उसमें भावानुकूल एवं भावोत्कर्ष विधायक अलंकारों की योजना की गई हो।

(ङ) उसमें छन्दों अथवा वृत्तों का प्रयोग सुंदर हो, वे श्रव्य तथा हत-वृत्तादि दोषों से रहित हों, उसके एक सर्ग में एक ही छन्द हो अथवा यदि किसी एक सर्ग में विभिन्न छंदों का भी प्रयोग हो, तो उनमें परस्पर भाव-सम्बद्धता हो।

विद्वानों की इन प्रचीन एवं नवीन मान्यताओं के आधार पर ही अब हम 'प्रियप्रवास' की समीक्षा करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि

इन मान्यताओं का पालन इसमें कहाँ तक हुआ है और उसी आधार पर यह भी निश्चित किया जा सकेगा कि यह अपने युग का महाकाव्य होने की क्षमता रखता है अथवा नहीं।

(१) कथानक—'प्रियप्रवास' का कथानक प्रख्यात है, वह इतिहास-सम्मत होने के साथ-साथ महान् भी है, क्योंकि श्रीकृष्ण युगपुरुष महान् नेता लोकसेवक एवं महात्मा के रूप में यहाँ अंकित किये गये हैं, वे भारत में अवतारी पुरुष के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। इसमें श्रीकृष्ण के जीवन की सभी लौकिक एवं अलौकिक घटनाओं को यथार्थ रूप देकर चित्रित किया गया है। यहाँ तब तक कि उनकी अतिमानवीय प्रवृत्ति को निकालकर मानव जीवन के अत्यंत निकट लाने के लिए उन्हें स्वाभाविक एवं बुद्धिगत बनाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि कवि इस कार्य में पूर्ण सफल नहीं हुआ है, तथापि घटनाओं की यथार्थता में कोई संदेह नहीं है। सम्पूर्ण कथानक सुनियोजित कार्यावस्थाओं, संधियों एवं अर्थ प्रकृतियों में विभक्त है तथा कार्यान्विति की दृष्टि से अत्यंत सुसंघटित एवं सुसम्बद्ध भी है। परन्तु कथा जीवन्त नहीं हो पाई है। कवि ने अपने युग की नैतिकता एवं तर्कवादिता का मुलम्मा चढ़ाकर उसे अधिक प्राणवान् नहीं रहने दिया है। इसके अतिरिक्त जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने यह कथानक चुना है, उसमें इतनी सशक्तता एवं जीवनी शक्ति दिखाई नहीं देती। उसके लिए कुछ विस्तृत कथानक अपेक्षित था परन्तु यह बात हमें कभी नहीं भुला देनी चाहिये कि यह युग विज्ञान एवं बुद्धिवाद का है। इस काल में घटना-प्रधान महाकाव्य की अपेक्षा विचार-प्रधान महा-काव्य लिखना अधिक उपयुक्त है। साथ ही कथानक में अलौकिक, असंभव एवं अतिमानुषिक घटनाओं का समावेश भी आज के वैज्ञानिक युग के सर्वथा विपरीत है। यही कारण है कि कवि ने कृष्ण के बाल-जीवन में व्याप्त लोकोपकार, समाज-सेवा जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा, दुराचारी एवं अत्याचारी के प्रति विद्रोह-भावना आदि का अनुशीलन करके उन्हें इस तरह चित्रित किया है कि जिससे कृष्ण का प्राचीन एवं परम्परागत बाल-चरित भी अत्यंत तर्कसम्मत, बुद्धि-ग्राह्य एवं संभाव्य बन जाय। कवि का यह प्रयास सर्वथा प्रशंसनीय है। कथानक के बारे में विस्तारपूर्वक पहले ही विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'प्रियप्रवास' के कथानक में संक्षिप्तता एवं घटित व्यापारों की कमी होने पर भी भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल झाँकी अंकित है, उसमें मानव-आदर्श की समुचित प्रतिष्ठा है और युग के आदर्श का सुन्दर रूप चित्रित है। अतः

'प्रियप्रवास' का कथानक महाकाव्य के कथानक की गुरुता, गभीरता एवं विशदता से ओत-प्रोत है।

(२) चरित्र-चित्रण—'प्रियप्रवास' के इस विस्तृत प्रागण मे अनेक पात्र अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओ के साथ अवतीर्ण होते हैं। सभी का अपना-अपना महत्व है। कोई किसी के चरित्र की विशेषता का उद्‌घाटन करता हुआ आता है, तो कोई अपनी व्यथा कथा सुनाता हुआ अपने हृदयगत मनोभावो का चित्रण करता हुआ आता है। किसी के द्वारा वात्सल्य की व्यजना हो रही है, तो किसी के द्वारा दाम्पत्य प्रेम की सरस धारा बहाई जा रही है। कोई अपने प्रिय के गुणानुवाद गाता हुआ गद्‌गद् हो रहा है, तो कोई विरह की असह्य वेदना से विकल होकर विक्षिप्त सा घूमता दिखाई दे रहा है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की इस करुणा-भूमि के विविध पात्र अपनी अपनी विविध विशिष्टताओ के साथ व्यापारो में लीन अकित किए गए हैं। इनमें से प्रमुख पात्र पाँच हैं—श्रीकृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा और उद्धव। इनके अतिरिक्त कितने ही बाल-वृद्ध गोप एव गोपियाँ इस काव्य मे चित्रित हैं, परन्तु कवि ने इन पात्रों को कोई प्रमुखता नहीं दी है। अत यहाँ प्रमुख पात्रो के चरित्र-चित्रण पर ही विचार करना अधिक समीचीन होगा।

श्रीकृष्ण—हरिऔध जी ने श्री कृष्ण के परब्रह्म रूप की चर्चा न करके उन्हे एक महात्मा पुरुष रत्न एव लोकसेवी नेता के रूप मे अकित किया है। कृष्ण के परब्रह्म एव क्रीडा-विलासमय रूपो की चर्चा हिन्दी-साहित्य मे पर्याप्त मिलती है। हरिऔध जी ने युग के अनुकूल श्रीकृष्ण के रूप की झांकी प्रस्तुत करते हुए उन्हें अधिक से अधिक मानव-जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया है और अपने विचारो के अनुकूल मानवता के चरम-विकास के रूप में उन्हे प्रस्तुत किया है। वास्तव में ईश्वर की कल्पना मानव के मस्तिष्क के क्रमिक विकास की सूचक है, क्योंकि प्रारम्भिक मत्स्यावतार से लेकर श्रीकृष्ण के अवतार तक मानवता का क्रमिक विकास ही समझाया गया है। श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण कलाओ का पूर्ण अवतार माना जाता है। अत. श्रीकृष्ण मानवता के पूर्ण विकास के द्योतक हैं। मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। अत हरिऔध जी ने यहाँ उसी मानवता के चरम विकसित रूप को अकित करने के लिए श्रीकृष्ण के जीवन की झांकी अकित की है। यद्यपि 'प्रियप्रिवास' मे श्रीकृष्ण के बालक रूप का भी यत्किचित् वर्णन मिल जाता है, जिसमे उन्हें कुसुमोपम शैया पर पद पकज उछालते हुए, माता यशोदा को हँस-हँस कर रिझाते हुए, अपनी दँतुलियो से हर्ष बढाते हुए, आँगन में किलकारी भरकर

जननि के साथ घुटनों से रेंगते हुए, ठुमक-ठुमक कर गिरते-पड़ते चलने का अभ्यास करते हुए, माता-पिता के सम्मुख नाचते हुए बलराम तथा अन्य गोप बालकों के साथ खेलते हुए आदि अंकित किया है,[1] तथापि यहाँ बाल्य-जीवन की अपेक्षा किशोर एवं युवा जीवन की झाँकी अधिक सजीवता के साथ अंकित की गई है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—'प्रियप्रवास' में श्रीकृष्ण सर्वप्रथम हमें गोपालक धेनुवत्स के जीवनाधार, गोप-मंडली के नेता एवं गोचारण में लीन गोपवेषधारी सुन्दर किशोर गोप-कुमार के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। अपनी गोपमंडली के मध्य शोभायमान होकर वे धेनु और बछड़ों को लेकर गोकुल ग्राम में आ रहे हैं। उनकी उस अलौकिक छवि को देखने के लिए सारा गोकुलग्राम उमड़ पड़ा है। वे अपनी मधुर मुरली बजाते हुए, गायों एवं गोपों के साथ अत्यन्त रमणीयता के साथ आकर सभी नर-नारियों के मन को मोहित कर रहे हैं। उनका शरीर नवल नील कुसुम जैसा सुन्दर है। सम्पूर्ण अंग अत्यन्त सुडौल एवं सुगठित हैं। प्रत्येक अंग से सरसता एवं सुकुमारता छलक रही हैं। कटि में पीताम्बर शोभा दे रहा है। वक्षस्थल बनमाला से विभूषित है। दोनों वृषभ-स्कन्धों पर दुकूल पड़ा है। कानों में श्रेष्ठ मकराकृत कुंडल शोभा पा रहे हैं। सिर पर सुकुमोल अलकावलियों के मध्य मोर-मुकुट अपनी छवि विकीर्ण कर रहा है। उन्नत भाल पर केसर की खौर कान्ति बढ़ा रही है। सुकुमोल अरुण ओठों पर पीयूष-वर्षिणी मुरलिका धीरे-धीरे मधुर स्वर में गूँजती हुई जन-मानस में आह्लादकारिणी लहरें उठा रही है। इस तरह अत्यन्त प्रेमाकुल जनता के मध्य में होकर अलौकिक सौंदर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण गोकुल ग्राम में प्रवेश करते हुए अंकित किए गए हैं। श्रीकृष्ण का यह प्रारम्भिक रूप इतना दिव्य, इतना भव्य एवं इतना चित्ताकर्षक दिखाया गया है कि सारा गोकुल ग्राम उनकी इस रूप-माधुरी में लीन हो जाता है, उनके गुणोदधि में अवगाहन करने लगता है और विविध भाव-विमुग्ध होकर सदैव के लिए उनकी इस अलौकिक मूर्ति को अपने हृदय में अंकित कर लेता है, क्योंकि इसके उपरान्त उन्हें यह दिव्य एवं अलौकिक छटा गोकुल-ग्राम में देखने को नहीं मिलती।

ब्रज के प्राण—श्रीकृष्ण केवल गोकुल-ग्राम के ही सर्वस्व नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण ब्रज उन्हें अपना हृदयाधार मानता है, नेता समझता है, त्राणकर्ता जानता है और अपना प्राण मानता है। कंस के निमन्त्रण को लेकर जब अक्रूर

---

१. प्रियप्रवास ८।६–६०

गोकुल-ग्राम म पधारते हैं तब श्रीकृष्ण के मथुरा गमन की सूचना से केवल गोकुल के प्राणी ही व्याकुल नही होते वरन जहाँ-जहाँ यह सूचना पहुँचती है वहाँ वहाँ सभी प्राणी अत्यन्त व्यथित एव बेचन हो उठते हैं। उनके जाने की भीषण घोषणा सुनते ही गोकुल ग्राम तो विषाद मे डूब जाता है और नाना प्रकार की आशकाओ मे लीन होकर विविध तर्क वितर्क करता हुआ बचैन हो उठता है। नद और यशोदा की दशा भी विचित्र हो जाती है। ब्रज धरा के नाना उत्पातो का स्मरण करके तथा कस द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओ का विचार करके उनके हृदय हिल जाते हैं और वे रात भर विचारो मे डूबे रहते हैं। बरसाने म राधा जी के घर भी जब यह सूचना पहुँचती है, तब वे भी नाना प्रकार की आशकाओ आपत्तियो एव भयकर परिस्थियो की कल्पना करती हुई व्यथित हो उठती हैं। इतना ही नही जैसे ही श्रीकृष्ण के गमन की बेला आती है, वैसे ही क्या बाल, क्या वृद्ध, क्या गायें और क्या पक्षीगण सभी बिछोह के कारण रो पडते है। सारी ब्रजभूमि मे ऐसी करुणा एव वेदना छा जाती है जैसे मानो ब्रज के प्राण ही निकलकर कही जारहे हो। उस समय समस्त गोप गोपीजन एव पशु पक्षी श्रीकृष्ण के प्रम मे अत्यधिक लीन होकर विलाप करते हुए अकित किये गए हैं।[1] उनकी यह विह्वल दशा, उनका यह अनन्य प्रेम एव उनकी यह आतुरता इस बात की द्योतक है कि समस्त ब्रज श्रीकृष्ण को हृदय से प्यार करता है, उन्हें अपना जीवन समझता है तथा उनके ऊपर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को प्रस्तुत रहता है।

शील की सुरम्य मूर्ति—अनुपम रूप माधुरी एव ओजस्वितापूर्ण अलौकिक शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण शील की भी अद्वितीय मूर्ति हैं। जिस समय कस का निमत्रण पाकर अक्रूर जी के साथ आप मथुरा जाने के लिए प्रस्तुत हुए उस समय सारी जनता अधीर होकर व्याकुल हो रही थी, उनकी उस व्याकुलता को देखकर आपने शीघ्र ही गमन करना उचित समझा और सर्वप्रथम अपनी माता यशोदा के समीप आकर उनके चरण छूये, फिर बडी धीरता के साथ कहा—'हे माता! यदि आपकी आज्ञा हो तो अब मैं यान पर जाकर बैठूं।" माता ने जब आज्ञा दे दी, तभी आप माता के चरणो की रज लेकर, ब्राह्मणो के चरणो की वन्दना करके, बधु-बाधवो को हाथ जोडकर नमस्कार करके फिर रथ पर जाकर बैठ।[2] इस तरह श्रीकृष्ण मे

---

१ प्रियप्रवास ५।२०—७८

२. प्रियप्रवास ५।४२-४६

शिष्टाचार, उच्चकुलोद्भव व्यक्ति जैसे सभ्य व्यवहार तथा श्रेष्ठ महापुरुष जैसे आचरण की प्रधानता है। इसी कारण आपके जीवन में शक्ति और सौंदर्य के साथ-साथ शील भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है।

मानवता के पुजारी—श्रीकृष्ण अपार शक्ति, असीम शील एवं अनन्त सौंदर्य से ओतप्रोत होकर भी मानवता के अनन्य पुजारी हैं। वे संसार मे इसलिए अवतीर्ण हुए है कि मानवता पर प्रहार करने वाली दानवता का विनाश करें, प्राणियों को सुखी बनायें और जनजीवन को सभी प्रकार की बाधाओं से मुक्त करे। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप शकटासुर, बकासुर, अघासुर, व्योमासुर, केशी, कंस आदि दुष्टों का विनाश करते हैं, भयंकर वर्षा से ब्रज की रक्षा करते हैं। कालियनाग को यमुना के जल से निकालकर यमुना को पवित्र बनाते है, तथा जरासंध आदि को सत्तहबार पराजित करते हैं। वे अपने समाज एवं अपनी जाति की दुर्दशा नही देख सकते। उन्हें मनुष्यमात्र की निगर्हणा एवं जन्मभूमि की दुरवस्था देखकर बड़ा ही दुःख होता है और वे तुरन्त ही लोक-कल्याण के कार्यों में लग जाते हैं। वे मानवता की रक्षा के लिए अपने प्राणो को भी संकट में डालने के लिए तैयार हो जाते है तथा अपनी जाति एवं अपनी जन्म-भूमि के निमित्त सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहते है। परोपकार उनके जीवन का अंग बन गया है, पर-दुःख-कातरता उनकी रग-रग मे समाई हुई है, और 'सर्वभूतहित' उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।[1] इतना ही नही वे स्व-जाति उद्धार को महान् धर्म मानते है और प्रायः यही कहा करते है कि 'सभी प्राणियों की विपत्ति मे रक्षा करना, असहाय जीवों का सहाय होना तथा संकट से स्वजाति को उबारना ही मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है। अतः हमें सदैव अपनी जाति का भला करने के लिए आगे बढ़ना चाहिए और प्राणों को भी संकट मे डालने से तनिक भी घबड़ाना नही चाहिए, क्योंकि

---

१. अतः करूँगा यह कार्य मैं स्वयं। स्व-हस्त में दुर्लभ प्राण को लिए।
स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं। न भीत हूंगा विकराल-व्याल से।
सदा करूँगा अपमृत्यु सामना। स-भीत हूंगा न सुरेन्द्र-वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं। प्रधान-धर्माङ्ग-परोपकार की।
प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा हित सर्वभूत का।
—प्रियप्रवास ११।२५-२७।

यदि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वजाति को उबार लिया, तो हमारी जाति की रक्षा होगी, यदि हम नष्ट हो जायेंगे, तो हमारी सुकीर्ति सारे विश्व मे फैल जायेगी। इस तरह मानवता की रक्षा में दोनो प्रकार से लाभ ही लाभ है, यहाँ कभी हानि की सभावना नही है। यही कारण है कि अपने साथियो की दुर्दशा देखकर आप प्रचड दावानल मे घुस जाते है, वेग-पूर्वक सभी को चमत्कृत करते हुए गोप, धेनु और बछडो को बडी युक्ति से बाहर निकाल लाते हैं और अपनी सुन्दर कीर्ति-लता को ससार मे बो देते हैं।[1] यही विशेषता उनके अन्य कार्यों मे भी है। वे अपने बन्धु बाधवो, प्राणियो एव किसी भी असहाय व्यक्ति का सकट देखकर तुरन्त उसे दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं और अपने इसी मानवता-प्रेम एव लोकोपकार के कारण ब्रज-भूमि म 'नररत्न' माने जाते हैं तथा अपनी नि स्वार्थ सेवा, सर्वभूत-हित एव प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के कारण ही जगतवद्य हो जाते हैं। उनका यह मानवता प्रेम ही उन्हे लोकप्रिय नेता एव लोकसेवक महात्मा की कोटि मे ले जाता है और इसी कारण वे 'प्रियप्रवास' मे मानवता के चरम विकास-स्वरूप परब्रह्मता को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ उनके हृदय से सकीर्णता एव एकदेशीयता पूर्णतया तिरोहित हो चुकी है और उसमे उदारता एव विश्व-बन्धुत्व के साथ साथ उस मानवता ने घर कर लिया है, जो आत्मोन्नति का प्रबल साधन है और जिसके बल पर मानव ही ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है।

कठिन पथ के पान्थ—लोकहित एव लोक-सेवा का मार्ग अत्यन्त दुर्गम एव कठोर होता है। इस मार्ग पर वही चल सकता है, जो अपना सर्वस्व न्योछावर करके अपने सुख दु ख, आनन्द उल्लास, हास परिहास की परवा नही करता और अपने प्रिय से प्रिय का परित्याग करके त्याग एव तपस्या से भरा हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। श्रीकृष्ण भी इस लोकहित के कठिन पथ पर चलने के लिए अनन्त स्नेह, अपार वात्सल्य एव असीम दुलार से भरे हुए नद एव यशोदा का परित्याग कर देते हैं। अपने अनन्य भक्त, विनोदशील एव सुख-दु ख के सच्चे साथी गोप बालको को छोड देते हैं। अपनी क्रीडारस-पुत्तलिका, अनन्य प्रेमा तथा प्रणय-रस-लीना चिरसगिनी गोप बालाओ को त्याग देते हैं। अपने हृदय की एक मात्र आधार, बचपन से ही अनन्य प्रेम मे परम तन्मय, रमणीयता, सरलता, प्रतिप्रीति, सुशीलता एव विनोदप्रियता

---

१ प्रियप्रवास ११।८४-८५

की साकार मूर्ति अपनी प्रेयसी राधा तक का परित्याग कर देते है और अपनी अत्यन्त रमणीय ब्रज-भूमि तक को छोड़ देते हैं। यद्यपि कभी-कभी ब्रज-प्रदेश, गोप-गोपी, नंद-यशोदा एवं प्राणप्रिया राधा का स्मरण करके श्रीकृष्ण अधीर हो उठते है, परन्तु वे बड़े ही संयमी एवं कठोर कर्म में लीन रहने वाले व्यक्ति है। इसीलिए उद्धव के द्वारा राधा के समीप यही संदेश भिजवाते हैं कि "विधाता ने ही हमारे दो प्रिय हृदयों को विलग कर दिया है। अब मैं ऐसे "कठिन-पथ का पान्थ" हो रहा हूँ कि मिलन की आशा दूर होती चली जा रही है। अतः अब तो हमें मधुर सुख एवं भोग की प्रिय लालसाओं का परित्याग करके जगत-हित एवं लोक-सेवा में लीन हो जाना चाहिए, क्योंकि इसी से लोकोत्तर शान्ति मिलती है और इसी से श्रेय की प्राप्ति होती है।[1] इस तरह श्रीकृष्ण केवल संदेश ही नहीं भेजते, अपितु इस लोक-सेवा एवं जगत-हित के लिए एक त्यागी-तपस्वी जैसा जीवन भी व्यतीत करते है और संसार के लिए एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करते है।

कर्त्तव्यपरायण लोक-प्रिय नेता—यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन अपने कर्त्तव्य-पालन का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ अंकित किया गया है। श्रीकृष्ण को अपने कर्त्तव्य का बड़ा ध्यान रहता है। वे बचपन से ही यह जानते है कि अपने परिवार, अपने माता-पिता, अपने समाज, अपने देश और विश्व के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है। प्रायः यह नीति है कि समाज के लिए परिवार को, देश के लिए समाज को और विश्व के लिए देश तक को छोड़ देना चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन इसी नीति-वाक्य को चरितार्थ करता हुआ अंकित किया गया है। वे समाज की हित-चिन्ता में अथवा अपने समाज को सुखी बनाने के लिए पहले अपने परिवार का त्याग कर देते है अर्थात् वसुदेव-देवकी के यहाँ जन्म लेकर भी गोकुल में रहते हैं। फिर देश के हित के लिए अपने गोकुल के प्रिय समाज का भी परित्याग कर देते है और कंस आदि का वध करके मथुरा में ही रहने लगते है। तदुपरान्त विश्व-हित के हेतु वे फिर अपने प्रिय देश अर्थात् ब्रज प्रदेश को भी छोड़ देते हैं और द्वारिकापुरी में आकर निवास करते हुए विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगते हैं। अतः इसी कर्त्तव्य से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने पहले माता-पिता का परित्याग, फिर प्रियजनों का परित्याग और फिर प्रिय मातृभूमि का परित्याग करते हुए अपना जीवन व्यतीत किया तथा कभी उनका चित्त चंचल न हुआ। नहीं तो ५-६ मील की

---

१. प्रियप्रवास १६-३७।४६

दूरी पर रहने वाली अपनी प्रणय-रस-लीन गोपियो एव प्राणप्रिया राधा से मिलने जाने मे उन्हें कोई आपत्ति न होती। वे किसी अकर्मण्य एव विलासी राजा के रूप म यहाँ अकित नही हैं, अपितु एक कर्त्तव्यपरायण कर्मवीर के रूप में अकित किए गये हैं, जिन्हें कभी हम सामाजिक कर्तव्य मे लीन होकर ग्वाल वालो की रक्षा करते देखते हैं, कभी भयकर अग्नि से गाय-बछड़ों एव गोप बालको को बचाते हुए देखते हैं, कभी समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए कालिय नाग को यमुना से निकाल बाहर करते हुए देखते हैं और कभी जरा-सध जैसे पराक्रमी योद्धा से सत्रह-सत्रह बार युद्ध करते हुए देखते हैं। इतना ही नही उनके जीवन का लक्ष्य ही "लोकहित' बन गया है और इसी कारण *यदि माता पिता की सेवा करते समय या गुरुजनो का सम्मान करते समय वे* किसी प्राणी की आर्त-वाणी सुन लेते हैं, तो तुरन्त सेवा त्याग करके उसको शरण देते हैं, अनेक आवश्यक कार्य छोडकर पापी का नाश करते हैं और जनता की रक्षा करते हैं। इस तरह यहाँ श्रीकृष्ण अपने कर्त्तव्य पालन के हेतु ही बडे-बडे दुर्धर्ष, लोक पीडक एव पराक्रमशाली अत्याचारियो का वध करते हुए अकित किए गये हैं, अपनी प्रिय गोप-मडली से दूर रह कर राज्य के गुरुतर कार्य भार मे लीन दिखाए गये हैं और इसी कतव्य से प्रेरित होकर साहमी होते हुए भी जरासध के अत्याचारो से व्यथित होकर मथुरा को छोडकर द्वारिका मे जाते हुए चित्रित किए गए हैं। निसदेह श्रीकृष्ण का कर्त्तव्य-परायण रूप 'प्रियप्रवास' में सबसे अधिक महत्वशाली है और अपने इसी कर्त्तव्य पालन के कारण वे यहाँ जनता के लोकप्रिय नेता के प्रतिष्ठित-पद पर आसीन हैं।

श्रीकृष्ण की कल्पना मे हरिऔध जी का उद्देश्य—हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के जिस रूप की कल्पना 'प्रियप्रवास' मे की है उसको देखकर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि हरिऔध जी ने अपने समाज एव राष्ट्र के लिए एक ऐसे आदर्श पुरुष का निर्माण किया है, जो मानवता का पुजारी है, शक्ति शील और सौंदर्य से ओतप्रोत है तथा जिसे एक मात्र लोकहित ही प्रिय है। कवि की यह कल्पना आधुनिक युग के पूर्णतया अनुकूल है और इस कल्पना के द्वारा कवि ने श्रीकृष्ण के परम्परागत रूप के विरुद्ध ऐसे लोकोत्तर चरित्र-सम्पन्न नररत्न की कल्पना की है, जिसे आदर्श मानकर भारत ही क्या सारा विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, विश्वबधुत्व के भावो को अपना सकता है और मानव रूप मे ईश्वरत्व की कल्पना को भली प्रकार समझ सकता है। अतएव आधुनिक विज्ञान-सम्पन्न बुद्धिवादी युग की आत्मा को सतुष्ट करने के लिए, मानवता का प्रचार करने के लिए तथा लोकहित की

भावना का सम्पूर्ण जगत में प्रसार करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के इस आदर्श चरित्र का निरूपण किया है।

राधा—'प्रियप्रवास' की चित्रपटी पर राधा का चित्र कुछ अनूठे ढंग से अंकित किया गया है। यहाँ राधा भक्तिकाल की विरह-विह्वला या रीतिकाल की काम-क्रीड़ा-प्रवीणा कामिनी नहीं है, अपितु आधुनिक युग की लोक-सेविका एवं भारत भूमि की अनुपम नारी-रत्न है। उसके बाल्य-जीवन का अधिक आभास यहाँ नहीं मिलता। कवि ने केवल इतना ही संकेत किया है कि यह अलौकिक बालिका बचपन में कृष्ण के साथ बड़ी तन्मय होकर खेला करती थी। प्रायः नंद-भवन में आकर जब यह कृष्ण के साथ खेलती थी, तब सारा भवन इसकी कलित-क्रीड़ाओं से गूँज उठता था और वहाँ अनुपम छवि उमड़ने लगती थी। क्रीड़ा ही क्रीड़ा में राधा का वह प्रेम कृष्ण के प्रति बढ़ता चला गया और बड़े होने पर फिर उसने 'प्रणय' का रूप धारण कर लिया, जिससे युवती होने पर फिर यह बाला रात-दिन कृष्ण के प्रेम में तल्लीन रहने लगी।[1] इस तरह बाल्य जीवन की क्रीड़ा एवं क्रिया-कलापों का अधिक वर्णन यहाँ नहीं मिलता। यहाँ तो राधा सर्वप्रथम एक युवा बालिका के रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कवि ने इस अनुपम छविमयी बालिका के स्वरूप की झाँकी अंकित करते हुए उसे एक अद्भुत सौन्दर्य सम्पन्न एवं विविध कला-मर्मज्ञा युवा बाला के रूप में प्रस्तुत किया है। उसकी शरीर-यष्टि अत्यंत कोमल एवं क्षीण है, उसके मुख पर सदैव मुसकान शोभा देती है, वह निरंतर क्रीड़ा-कला में लीन रहती है, वह शोभा की तो समुद्र है, अत्यंत मृदुभाषिणी है और माधुर्य की साकार मूर्ति है। उसके कमल-नैन उन्मत्तकारी हैं, उसके शरीर की स्वर्णिम कान्ति नेत्रोन्मेषकारिणी है, उसकी मधुर मुसकान विमुग्ध करने वाली है और उसकी कुंचित अलकें मानसोन्मादिनी हैं। वह नाना प्रकार के हाव-भावों में कुशल है, चंचल कटाक्ष आदि के सहित भ्रू-संचालन में बड़ी निपुण है, नाना प्रकार के वाद्यों के बजाने में भी बड़ी प्रवीण है और अपने शरीर की सुडौलता सुकुमारता एवं कमनीयता के द्वारा रति को भी विमोहित कर देने की क्षमता रखती है। यह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती है, श्रेष्ठ आभूषणों से अलंकृत रहती है और स्त्रियोचित सभी गुणों से सुशोभित है। यह सदैव श्रेष्ठ आदर्शों का अनुशीलन

---

१. प्रियप्रवास ४।१३-१७

करती है, रोगी, वृद्ध आदि जनों की सेवा करती है, अनन्यहृदया है, सात्विक प्रेम का पोषण करने वाली है, सुन्दर मन वाली है, सदैव प्रसन्न मुख रहती है और अपने इन्हीं सब गुणों के कारण 'स्त्री-जाति रत्नोपमा' कहलाती है।[1] राधा का यह प्रारम्भिक व्यक्तित्व अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है। उसमे भारतीय श्रेष्ठ नारी के सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं और वह एक आदर्श कुमारी की जीती-जागती मूर्ति है।

प्रणय की मधुर मूर्ति—कुमारी राधा के हृदय में कृष्ण के प्रति बाल्यकाल से ही एक अद्भुत आकर्षण विद्यमान था। अब इस किशोरी के हृदय में वह 'लरिकाई को प्रेम' प्रणय के रूप मे परिवर्तित हो गया है। यह प्रणय-लता राधा के हृदय मे इतनी बलवती हो उठती है कि शयन और भोजन ही क्या, अब वह प्रत्येक क्षण कृष्ण की रूप-माधुरी में उन्मत्त बनी रहती है, कृष्ण के वचनामृत की सरसता, मुखारविंद की रमणीयता, उनकी सरलता, अतिप्रीति एव सुशीलता उसके चित्त से कभी उतरती नहीं, अपितु वह सदैव इनमें लीन रही आती है।[2] कृष्ण प्रेम मे लीन इस बाला को जब कृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनाई पडता है, तब यह सुकुमार कली भी सहसा कुम्हला जाती है, वेदना से इसका हृदय दग्ध हो उठता है, सारा ससार सूना दिखाई देने लगता है, सम्पूर्ण दिशायें रोती हुई सी ज्ञात होती हैं, घर काट खाने को तैयार जान पड़ता है, मन बेचैन होकर जगल म भागता प्रतीत होता है और वह अत्यन्त व्यथित होकर नाना प्रकार की आशकाओं में लीन हो जाती है। उस क्षण वह यही सोचती है कि वैसे तो म श्रीकृष्ण के चरणो मे अपना हृदय पहले ही चढा चुकी हूँ केवल मेरी यही कामना और थी कि विधिपूर्वक उन्हे वरण कर लूँ। परन्तु अब मुझे वह कामना पूर्ण होती दिखाई नहीं देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है।[3] यह प्रणयिनी बाला कृष्ण को अपना पति बनाने के लिए देवी-देवताओं को मना चुकी है बहुत से व्रत आदि भी रख चुकी है परन्तु आज इसका हृदय अचानक आशका मे डूब जाता है और इसे सर्वत्र व्यथा, शोक, विषाद, दुःख, वियोग आदि ही उमडते हुए दिखाई देते हैं। इस तरह कृष्ण-प्रेम मे लीन राधा का सारा जगत उस समय पूर्णतया शून्य बन जाता है,

---

१ प्रियप्रवास ४।४-८
२ वही ४।१७-१६
३ वही ४।३५

जिस समय इस प्रणय की साकार मूर्ति को बिलखता छोड़कर श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं। वह हृदय में आग छिपाकर अपने घर में ही दिल मसोसती रह जाती है। अतः कवि ने यहाँ राधा को प्रणय की मधुर मूर्ति के रूप में अंकित करके नारी के पवित्र प्रेम की पुनीत झाँकी प्रस्तुत की है।

विरह-विधुरा राधा—तदनन्तर राधा हमें कृष्ण के विरह में रात-दिन रुदन करती हुई अत्यंत उन्मना दिखाई देती है। वह कृष्ण के प्रेम में इतनी उन्मत्त हो गई है कि पवन को दूती बना कर कृष्ण के पास अपना विरह-संदेश भेजने को तैयार हो जाती है। कृष्ण की श्यामली मूर्ति देखने की उत्कट लालसा उसे व्यथित एवं बेचैन बना देती है। इसी कारण वह पहले तो प्रातःकालीन पवन की भर्त्सना करती हुई उसे निष्ठुर एवं पापिष्ठा तक कह डालती है, परन्तु फिर उससे मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है। वह मथुरा तक के सम्पूर्ण मार्ग को बड़ी मार्मिकता के साथ समझा देती है और विविध युक्तियों द्वारा अपनी विरह-व्यथा को कृष्ण से कहने का निवेदन करती है। किन्तु कवि ने यहाँ जिन युक्तियों का प्रयोग किया है, उनके कारण उसका विरह-व्यथित रूप कुछ क्षणों के लिए ओझल हो जाता है और वह एक ऐसी युक्ति-कौशल सम्पन्न प्रवीण नारी के रूप में दिखाई देती है, जो मिलन की नाना तरकीबें जानती है, जो संकेत-स्थल पर पहुँचने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ सोच सकती है और जिसे विरह-जन्य पीड़ा नहीं सता रही है, अपितु जो वियोग की कृत्रिम वेदना से व्यथित जान पड़ती है। कवि ने उसे जो भ्रान्ता एवं उद्विग्ना कहा है,[1] वह भी कुछ सार्थक सा ज्ञात नहीं होता क्योंकि भ्रान्ता विरहिणी भला इतनी प्रयत्न युक्तियाँ पवन को कैसे बता सकती है, जिनका कि उल्लेख 'प्रियप्रवास' के 'पवन-दूती-प्रसंग' में मिलता है। इस तरह राधा का विरह-विधुरा रूप यहाँ इतना मार्मिक एवं हृदयाकर्षक नहीं है, जितना कि सूर, नंददास आदि भक्तकवियों की कविताओं में मिलता है।

कृष्ण की अनन्य उपासिका—यहाँ राधा कृष्ण की अनन्य उपासिका है। उसके हृदय में कृष्ण-प्रेम इस सीमा तक व्याप्त हो गया है कि उसे सारा जगत ही कृष्णमय जान पड़ता है। कालिन्दी के श्याम जल में उसे कृष्ण के श्याम गात का दर्शन मिलता है, संध्या की अरुणिमा में वह अपने

---

१. प्रियप्रवास ६।८३

परमप्रिय की कान्ति को देखती है, रजनी की श्यामता मे उसे कृष्ण के श्याम तन का आभास मिलता है, उषा उसे सदैव कृष्ण प्रेम मे अनुरंजित जान पड़ती है और सूर्य की ओप मे कृष्ण के तेजपूर्ण मुख की झलक दिखाई देती है। उस अनन्य प्रेमा को भृंग समूह मे कृष्ण की काली कुंचित अलकें दिखाई देती हैं, खंजन एवं मृगो मे कृष्ण की आंखो की सुछवि रमी हुई जान पड़ती है, हाथी के बच्चे की सूँड मे उस कृष्ण की विशाल-बाहु दृष्टिगोचर होती है, शुक की नासिका मे कृष्ण की सुरम्य नासिका की शोभा दिखाई पड़ती है, दाडिमो म दांतो की झलक मिलती है बिम्बाफलो म श्रेष्ठ अधरो की लालिमा जान पड़ती है, केलो मे जघन-युग की मंजुता दिखाई देती है और गुल्फों मे कृष्ण की गुल्फो का सौंदर्य झलकता हुआ प्रतीत होता है। इतना ही नहीं वह सम्पूर्ण प्रकृति की रूप माधुरी मे कृष्ण के अनुपम रूप-सौंदर्य को देखती है, पक्षियों के कलरव मे मुरली की मधुर ध्वनि सुनती है और पृथ्वी के प्रत्यक भाग म श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्ति का व्यास देखती है।[1] वह कृष्ण के प्रेम मे व्यथित होकर अब मिलने की आकांक्षा प्रकट नहीं करती अपितु वह यही सोचती है कि यदि कृष्ण यहां न आ सकें तो भी कोई आपत्ति नहीं। उद्धव से वह यही कहती है 'प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।' अनन्य प्रेम में लीन होने के कारण वह अब स्वय को कृष्ण से कभी पृथक् नही देखती, वरन् इस ब्रह्माण्ड मे जितनी वस्तुयें उसे दिखाई देती हैं, वे सब उसे श्याम के रंग मे ही रँगी हुई जान पड़ती हैं और वह पृथ्वी, नभ, पानी, पवन, पादप, खग आदि मे सर्वत्र कृष्ण को व्याप्त देखती है। इस तरह उसका प्रणय अब विकारहीन होकर सात्विक रूप धारण कर लेता है और वह कृष्ण को विश्वात्मा, जगत्पति, प्रभु सर्वेश्वर आदि मानती हुई उनकी सच्चे हृदय से उपासना करने मे लीन हो जाती है। अब वह यह जानने लगी है कि विश्व की पूजा, विश्व की आराधना, विश्व के प्राणियो की सेवा ही कृष्ण की सच्ची पूजा है, भक्ति है और उपासना है।[2] इस तरह राधा कृष्ण के वियोग म रात-दिन आंसू बहाने की अपेक्षा विश्व को कृष्णमय मानकर उसकी उपासना करती हुई कृष्ण की अनन्य उपासिका बन जाती है।

लोक सेविका—विश्व प्रेम मे लीन होते ही राधा का हृदय उदार हो जाता है, उसका अन्तःकरण विशाल हो जाता है और वह मानवीय प्रेमिका

---

१ प्रियप्रवास १६।८३-८८

२ वही १६।९८-१०३

प्रणय की संकुचित भावना से ऊपर उठकर श्याम को जगत-पति और जगत-पति को श्याम समझने लगती है, उसे विश्व में प्रियतम तथा प्रियतम में विश्व व्याप्त दिखाई देने लगता है और वह साधारण श्रवण, कीर्त्तन, वंदन, दासता, स्मरण, आत्म निवेदन, अर्चना, सख्य और पद-सेवना नामक नवधा-भक्ति को छोड़कर आर्त्त-उत्पीड़ित एवं रोगी प्राणियों की व्यथा सुनना ही 'श्रवण' मानती है। ऐसे दिव्य एवं अनुपम गुणों का गाना उचित समझती है, जिसे सुनकर सोये प्राणी जाग उठें, अज्ञान तिमिर में गिरे हुए प्राणी ज्ञान-ज्योति प्राप्त करें और भूले हुए प्राणी सन्मार्ग पर लग जायें। इसी गुण-गान को वह 'कीर्त्तन' मानती है। उसकी दृष्टि में अब विद्वानों, देश-प्रेमियों ज्ञानियों, दानियों, सच्चरित्रों, गुणियों, तेजस्वियों एवं देव तुल्य व्यक्तियों के आगे मस्तक झुकाना और उनका आदर-सत्कार करना ही 'वंदन' है। वह 'दास्यभक्ति' उसे मानती है जिसमे मनुष्य ऐसी बातें करे, जो संसार का कल्याण करने वाली हों, सर्वभूतोपकारी हो, गिरे हुओं को उठाने वाली हों तथा जिनमें सेवा भाव भरा हुआ हो। इसी तरह अब उसकी दृष्टि में कंगाल, दीन, दुखियों आदि का स्मरण ही 'स्मरण' नामक भक्ति है; विपत्ति में सहायता करने के लिए अपने तन और प्राणों का अर्पित करना ही 'आत्म-निवेदन' भक्ति है; पीड़ितों को औषधि, प्यासों को जल, भूखों को अन्न देना आदि ही 'अर्चना' नाम की भक्ति है; संसार के जिन प्राणियों से भी कुछ काम लिया जाय उनके प्रति सहृदय होना ही "सख्य" नामक भक्ति है और पतितों को शरण में लेना तथा उनको आदर-सम्मान देना ही "पद-सेवन" नामक भक्ति है।[१] अब राधा के हृदय में विश्व-प्रेम जाग्रत हो जाता है। वह सम्पूर्ण मोह छोड़कर लोक-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती है तथा श्रीकृष्ण के सन्देश का पूरा-पूरा पालन करती हुई सम्पूर्ण विश्व की सेवा, परोपकार, दया, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम आदि से ओतप्रोत होकर अपना सारा जीवन एक लोक-सेविका के रूप में व्यतीत करने का निश्चय कर लेती है। निःसंदेह राधा का यह रूप भारतीय नारी के उज्ज्वल आदर्श को प्रस्तुत करता है और वह कामुकता, विलासिता, वियोग-जन्य उन्माद एवं प्रणय की संकीर्णता से सर्वथा परे एक भव्य एवं दिव्य नारी के पद पर आसीन दिखाई देती है।

व्रज की आराध्या-देवि—राधा का अन्तिम रूप अत्यन्त ही मार्मिक एवं

---

१. प्रियप्रवास १६।११५-१२६

प्रभावोत्पादक है। वह ब्रज-जनो की पीडा दूर करने का निश्चय करके केवल गेह मे शान्तिपूर्वक बैठी नही रहती, अपितु जब कभी यह सुनती है कि कोई गोपी कहीं व्यथित होकर मूर्छित पडी है, तब तुरन्त ही उसके पास जाकर उचित उपचार करके उसकी व्यथा दूर करती है, उसे समझाती है और व्यथा के प्रबल वेग को कम करने के लिए नाना प्रकार की कथायें सुनाया करती है। वह नित्य-प्रति नद-यशोदा के घर जाकर उन्हे भी सात्वना देती रहती है। यदि कही गोप-जनो को खिन्न होकर बैठा देखती है तो उन्हे उद्योगी, परिश्रमी एव कर्मशील बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है। यदि कहीं उसे गोप-बालक कृष्ण के प्रेम मे मलिन दिखाई देते हैं, तो वह उन्हें कृष्ण लीलाओ मे लगाकर अथवा खिलौने आदि लेकर प्रसन्न करती रहती है। यदि कहीं गोपियाँ मन मारे बैठी हुई दिखाई देती है, तो वह उन्हे प्रियतम की वीणा, वेणु या वशी सुनाकर अथवा मधुर कथायें सुनाकर प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। वह चीटियो को आटा तथा पक्षियो को अन्न और जल देती रहती है। उसकी दृष्टि मे कीटादि भी बडे महत्वशाली हैं, वह उनके प्रति भी बडा ही दया-भाव रखती है। व्यर्थ ही वह पेडो के पत्ते तोडना भी उचित नही समझती और सदैव प्राणियो के सम्वर्द्धन मे ही लीन रही आती है। उसने कुमारी गोपियो का एक ऐसा दल स्थापित कर दिया है जो सारी व्रज-भूमि मे सुख और शान्ति का प्रसार करता है। इसी कारण वह ब्रज-जनो की दृष्टि मे सज्जनो के सिर की छाया, एव दुर्जनो की शासिका है, कगालो की परम निधि और पीडितो को औषधि-स्वरूपा है, दीनो की बहिन और अनाथाश्रितो की जननी है, विश्व की प्रेमिका है तथा समस्त ब्रज-भूमि की आराध्या देवि बनी हुई है।[1]

राधा की कल्पना मे कवि का उद्देश्य—हरिऔध जी ने राधा के जिस पावन एव आदर्श चरित्र का निर्माण किया है, उसके पीछे युग का नारी-आन्दोलन कार्य कर रहा है। आधुनिक-युग मे नारी को उन्नत एव सचेष्ट बनाने के लिए तथा सामजिक कार्यों मे पुरुष के साथ कधे से कधा भिडाकर कार्य करने के लिए ऐसी ही रमणियो की आवश्यकता थी जो विश्व प्रेम मे लीन होकर लोक-सेवा, लोकहित एव लोकोपकारी कार्यों के लिए आगे बढें तथा घर की चहारदीवारी को छोडकर समाज के क्षेत्र मे कार्य करें। अत. हरिऔध जी ने भक्तिकालीन एव रीतिकालीन कवियो की कल्पना के सर्वथा विपरीत

---

१ प्रियप्रवास १७।४६

भौतिक प्रेम एवं प्रणय के वासना-प्रधान रूप की अपेक्षा राधा को सर्वथा सात्विक प्रेम से ओत-प्रोत करके ऐसी लोक-सेविका के रूप में चित्रित किया है, जिसका अन्तःकरण उदार है, जिसे विश्व-प्रेम ही प्रिय है और जो जन-कल्याण में ही अपने जीवन की सार्थकता समझती है। इतना ही नहीं जहाँ पाश्चात्य सभ्यता में रँगकर भारतीय नारी तलाक जैसे विषाक्त कानून को अपने लिए कल्याणकर समझती है, उनके लिए हरिऔध जी ने राधा का वह त्याग-तपस्यापूर्ण आदर्श जीवन अंकित किया है, जो भारतीय नारी के गौरव का प्रतीक है तथा जिसमे आजीवन कौमार व्रत धारण करके लोक-सेवा का पुनीत भाव भरा हुआ है। ऐसी ही नारी भारतीय संस्कृति की साकार प्रतिमा है और ऐसी ही नारी जगत का कल्याण कर सकती है। अत. अपने इन्ही विचारों को साकार रूप प्रदान करने के लिए तथा आधुनिक भ्रमित नारी के सम्मुख आदर्श उपस्थित करने के लिए हरिऔध जी ने राधा की ऐसी कल्पना की है।

नन्द—ब्रजभूमि के राजा है और गोपों के अग्रगण्य स्वामी हैं। उनके यहाँ श्रीकृष्ण जैसे लोकोपकारी एवं जन-मन-हितकारी पुत्र ने जन्म लिया है। अतः वे सभी के लिए अत्यंत पूज्य एवं सम्माननीय है। सारा ब्रज प्रदेश उन्हे एक स्वर मे अपना अग्रणी मानता है, उनकी प्रत्येक बात को ध्यान से सुनता है और उनकी आज्ञा-पालन करना अपना परम कर्तव्य समझता है। उनका भी अहोभाग्य है कि श्रीकृष्ण जैसा पुत्र-रत्न उन्हे विधाता के विचित्र विधान द्वारा प्राप्त हुआ, जिसके कारण उनका घर पवित्र होगया, जिसमे सदैव चहल-पहल बनी रहती है, गोप-बालक एवं गोप-बालिकायें नाचती-कूदती रहती हैं तथा विविध क्रीड़ाओं मे मग्न रहती हैं। कृष्ण जैसे अलौकिक पुत्र को पाकर भला कौन सा पिता भाग्यशाली न होगा! अतः नंद सदैव अपने भाग्य की सराहना करते रहते हैं तथा अनत वैभव एवं ऐश्वर्य के स्वामी से जान पड़ते हैं।

आशंकाओं से व्यथित पिता—व्रजराज नंद हमे सर्वप्रथम एक ऐसे पिता के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका हृदय वात्सल्य से ओत-प्रोत है और जो पुत्र पर आने वाली भावी विपत्तियों की आशंका मे डूबते-उतराते हुए अत्यंत व्यथित एवं बेचैन बने हुए हैं। वे अपने दवेत बालो को अत्यंत दु.ख प्रकट करने वाले भावो के साथ हाथ मे पकड़कर विषम-संकट में पड़े हुए तथा अपने शयन-कक्ष में चुपचाप बिलखते हुए दिखाई देते हैं। उनके मुख मे

लम्बी-लम्बी आहें निकल रही हैं, दोनो नेत्र आंसुओ से भरे हुए है और वे शैया पर लेटे-लेटे कभी तो छत देखते हुए दिखाई पडते हैं तथा कभी शैया से उठकर अपने सूने कमरे मे टहलते दृष्टिगोचर होते हैं। जब उनकी व्यथा अत्यधिक बढ जाती है, तब वे द्वार की ओर झांककर नीरव आकाश को यह जानने के लिए देखने लगते हैं कि अभी कितनी रात्रि और शेष है। वह दुःख की रात्रि काट नही कटती। यदि किसी दासी के रोदन का स्वर उनके कान मे पड जाता है, तो वे शैया पर पडे हुए और भी तडपने लगते हैं।[1] उनकी यह दशा कस के उस निमत्रण के कारण हो रही है, जिसे लेकर अक्रूर जी गोकुल म पधारे हैं और जिसके परिणामस्वरूप उनके प्राणो से भी अधिक प्रिय श्रीकृष्ण का प्रभात म ही मथुरा जाना निश्चित हो गया है। अत उन्हे यह आशका हो रही है कि कस न जाने क्या उत्पात मचावे और प्रिय पुत्रों के साथ न जाने कैसा व्यवहार करे।

कर्त्तव्यपालक पति—तदनतर नद हम एक कर्त्तव्यपालक एव जागरूक पति के रूप मे दिखाई देते हैं। उनकी पत्नी यशोदा जिस क्षण मथुरा से नद जी को अकेला लौटकर आता हुआ देखती है, उस क्षण वे विक्षिप्त गाय की भाँति दौडी हुई द्वार पर आती हैं, परन्तु अपने प्राणप्रिय वत्स को पति के समीप न देखकर छिन्नमूला लता की भाँति भूमि पर मूर्छित होकर गिर पडती हैं। इतना ही नही चेतना आते ही फिर अत्यत करुणा के साथ विलाप करने लगती हैं। उस समय नद जी एक तो पुत्र के शोक से ही अत्यत विह्वल हैं, क्योंकि उन्हे भी कृष्ण का मथुरा रह जाना अत्यत बेचैन बना रहा है और यशोदा जी की ही भाति उनके हृदय म भी शोक सागर उमड रहा है। दूसरे, यशोदा जी की ऐसी शोकपूर्ण व्यथित दशा देखकर वे और भी उद्विग्न हो उठते हैं। परन्तु आपके अदर असीम सयम एव अपार धैर्य भरा हुआ है, जिसम अपने हृदय को मयत बनाते हुए आप रोती बिसूरती यशोदा जी को नाना यत्नो से बोध देते हैं और ऐसी-ऐसी बातें कहते हैं जिससे उनके चित्त को शान्ति मिले, हृदय से निराशा दूर हो और आशा का सचार हो। इतना ही नही वे यहाँ तक कह जाते हैं—'हाँ आवेगा प्रिय-सुत प्रिये गेह दो ही दिनो मे।'[2] इस वाक्य म भले ही मिथ्यात्व का समावेश हो, परन्तु यह कितना आशा-प्रद, कितना शान्तिप्रदायक और कितना धैर्यवर्द्धक है। इसमें एक

---

१ प्रियप्रवास ३।२१-२६

२ प्रियप्रवास ७।६१

पति के पुनीत कर्त्तव्य की उज्ज्वल झांकी विद्यमान है, क्योंकि यशोदा जी इसी वाक्य के आधार पर चेतना प्राप्त करके आश्वासन ग्रहण करती हैं और इसी के बल पर आशान्वित होकर अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करती है।

पुत्र-वियोग में व्यथित किन्तु उदार आशय-सम्पन्न पिता—नंद जी अन्त में हमें कृष्ण के चिर वियोग में लीन एक शोक-संतप्त पिता के रूप में दिखाई देते हैं। उनकी वह अवस्था अत्यन्त दयनीय एवं शोकपूर्ण है। प्रत्येक प्राणी आपकी इस क्षुब्ध अवस्था को देखकर सहानुभूति एवं समवेदना प्रकट करता है; परन्तु पुत्र-वियोग में भी आपके हृदय के अंतर्गत श्रीकृष्ण की जो लोकोपकार, जन-सेवा, राष्ट्र-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण मनोहर श्यामली मूर्ति बस जाती है, उसका चिंतन एवं मनन आपको अतीव संतोष एवं संयम प्रदान करता है, फिर भी जिस क्षण वात्सल्य भाव उमड़ पड़ता है, उस समय आप अत्यन्त क्षुब्ध एवं क्लान्त हो उठते हैं। आपकी ऐसी अवस्था देखकर राधा भी आपकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती है, आपकी वियोग-जन्य क्लान्ति को मिटाती है, बातों ही बातों में संसार के वैभव को तुच्छ बताती है और नाना शास्त्र सुनाकर बेचैनी को दूर करती है।[1] इस चित्रण द्वारा कवि ने एक पुत्र-वियोग में व्यथित पिता के दयनीय जीवन की उज्ज्वल झांकी अंकित की है। साथ ही उनके उदार आशय को भी व्यक्त किया है।

नंद के चित्रण में कवि का उद्देश्य—नंदजी के रूप में कवि ने पुत्र-वियोग से व्यथित, किन्तु उदार आशय एवं उन्नत विचार-सम्पन्न एक ऐसे पिता का चित्र अंकित किया है, जिसकी वृद्धावस्था का सहारा जाता रहा हो, जो इस जगत में निराश्रित होकर भटकता फिरता हो तथा जो पुत्रों के लिए आजीवन कष्ट सहता हो; परन्तु जिसे इस बात से संतोष हो कि मेरे पुत्र देश-प्रेम एवं जाति-प्रेम से प्रेरित होकर जनता का उद्धार करने के लिए घर छोड़कर चले गये हैं, उन्हें हमारी अपेक्षा विश्व-प्रेम अधिक प्रिय है और वे राष्ट्र की उन्नति, देश का सुधार एवं जातीय गौरव की रक्षा में लगे हुए हैं। अतः एक गौरवशाली एवं सौभाग्यपूर्ण उदार विचार-सम्पन्न पिता का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए नंद जी का ऐसा चरित्र यहाँ अंकित किया गया है। इसके साथ ही वे एक कर्त्तव्यपालक पति का भी आदर्श प्रस्तुत करते हैं, क्योंकि अपनी पत्नी यशोदा को यदि वे कभी अधीर एवं व्यथित देखते हैं, तो तुरंत नाना विधियों से उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं। अतः नंद जी एक

---

१. प्रियप्रवास १७।४१

उच्चकोटि के पिता एवं श्रेष्ठ पति के कर्त्तव्य का पालन करते हुए यहाँ चित्रित किए गए हैं क्योंकि ऐसे न होते तो वे न तो कृष्ण को मथुरा जाने देते, न किसी लोक-हित के कार्य में भाग लेने देते और न फिर अपनी प्रिया को सान्त्वना देने का ही कार्य कर सकते थे।

यशोदा—भारतीय वाङ्मय में यशोदा एक ऐसी उपेक्षिता माँ रही है जिसके असीम त्याग, अनन्त वात्सल्य एवं अलौकिक दुलार से यद्यपि अधिकांश कृष्ण-भक्त कवि प्रभावित हुए हैं, तथापि स्वतन्त्र रूप से उसके लिए न कोई महाकाव्य लिखा गया है और न उसके जननी रूप की महत्ता को ही स्वतन्त्र-रूप से अंकित किया गया है। 'प्रियप्रवास' के कवि ने इस ओर तनिक ध्यान देते हुए अवश्य कुछ सराहनीय कार्य किया है और उसके मातृत्व रूप की अभिव्यक्ति करते हुए उसके वात्सल्य, उसकी ममता एवं उसकी उदार मनोवृत्ति की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। अतः अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' में उसके चरित्र का क्रमिक विकास किस तरह अंकित किया गया है।

मातृत्व की विमल विभूति—सर्वप्रथम यशोदा के दर्शन यहाँ एक वात्सल्यपूर्ण अधीर जननी के रूप में होते हैं, जो अपने प्राणप्रिय पुत्र श्रीकृष्ण की शैया के पास बैठी हुई आँसू बहा रही है, जिसका वदन-मण्डल मलिन हो रहा है, जिसके हृदय में भयपूर्ण अत्यन्त कुत्सित भावनायें उठ रही हैं और जो कंस के कौशल-जाल की जटिलता के कारण अतीव व्याकुल एवं असंयत होकर चिन्ता-सागर में डूबी हुई है। इस व्यथा, वेदना, आकुलता एवं अधीरता का कारण यह है कि सवेरा होते ही उसका प्रिय प्राणस्वरूप कृष्ण कंस जैसे अत्याचारी शासक के निमंत्रण पर मथुरा जा रहा है। कंस की क्रूरता एवं उसके द्वारा मचाये गये उपद्रवों से वह जननी दीर्घ काल से परिचित है। श्रीकृष्ण के जन्म से ही उसने नाना प्रकार के विघ्न, विविध बाधायें, अनेक आपत्तियाँ आदि उपस्थित करके इस जननी के हृदय को हिला दिया है। आज वही नृपाधम अपने घर ही उसके पुत्र को बुला रहा है। भला ऐसे कुअवसर पर कौन सी ऐसी माता होगी, जिसका हृदय विचलित न हो और जो आशंकाओं से भरकर बेचैन न दिखाई दे! यही कारण है कि हरि-जननी यशोदा करुण क्रन्दन करती हुई कृष्ण की शैया के निकट बैठी हैं। भय यह है कहीं पुत्र जाग न पड़े, इसलिए वह अपने क्रन्दन एवं अपनी व्यथापूर्ण कराह को धीरे-धीरे ही व्यक्त करती हैं, साथ ही पुत्र की शुभ कामना करती हुई कुल-देवता की आराधना भी करती जाती हैं। सचमुच माता का हृदय बड़ा ही सशंकित होता है।

वह अपने पुत्र के बारे में बड़ी ही भीरु एवं अधीर होती है। वह नहीं चाहती कि उसका पुत्र उसकी आँखों से कभी ओझल हो। यशोदा की भी वही दशा है। परन्तु करे क्या ? उसका वश चले तो वह कृष्ण को कदापि न जाने दे। किन्तु यहाँ तो नंद बाबा घोषणा करा चुके हैं और प्रभात में ही कृष्ण का जाना निश्चित हो चुका है। अतः अब उसके पास सिवाय रोने-धोने या कलपने के और कोई चारा नहीं। दूसरे यदि वह कुछ कर सकती है तो यही कि देवी-देवताओं से प्रार्थना करके उनकी मनौती मनाकर अथवा उनकी सभी प्रकार से पूजा करके अपने पुत्र के लिए मङ्गल-कामना करे, आपदाओं से मुक्त होने की याचना करे, और उनकी कृपा प्राप्त करने की चेष्टा करे। अतः वह वात्सल्यमयी जननी रोना-धोना छोड़कर कुल-देवी एवं कुल-देवताओं से प्रार्थना करती है और यही याचना करती है कि मेरे दोनों प्रिय सुत मथुरा के सभी मानवों को प्रसन्न करके, सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं से बचकर वहाँ कुछ दिन रहने के उपरान्त अपने पिता के साथ सकुशल लौट आवें। उसे उस क्षण रह-रहकर वे समस्त पुरानी विघ्न-बाधायें स्मरण हो आती हैं, जिनसे उसका प्रिय पुत्र जैसे-तैसे बचा है। इसी कारण उसकी अधीरता एवं व्याकुलता क्षण-क्षण पर वृद्धि पाती हुई दृष्टिगोचर होती है। वह जननी इसलिए और अधीर हो रही है कि सवेरा शीघ्र ही होता चला आरहा है और अब उसका प्रिय चाँद जैसा पुत्र आँखों से ओझल हो जायेगा।[1] अतः यशोदा की यह अधीरता, यह विकलता एवं यह कातरता जननी के विमल ऐश्वर्य की द्योतक है और इसी कारण यशोदा हमें मातृत्व की विमल विभूति के रूप में दिखाई देती है।

वात्सल्य को साकार मूर्ति—तदनंतर यशोदा वात्सल्य की साकार मूर्ति के रूप में हमारे सम्मुख आती है। उसका प्रिय सुत आँखों से ओझल हो रहा है। जिस सुत के चन्द्रमुख को देखकर वह जीवित रहती है, जो उस वृद्धा की एक मात्र लकुटि है, जो उसका सर्वस्व है, आज वही रथ पर बैठकर मथुरा जा रहा है। पता नहीं मार्ग में उसे भोजन भी मिलेगा या नहीं। पता नहीं उसके पति उसके पुत्र से खाने-पीने को पूँछेंगे अथवा नहीं। इसी कारण उसका वात्सल्य उमड़ पड़ता है और वह रथ के पास आकर अपने पति से स्पष्ट रूप से कहने लगती है कि "हे प्रियतम ! आज मैं अपनी अगणित गुणवाली थाती तुम्हें सौंप रही हूँ। मेरा यह लाड़िला कुँवर कभी बाहर यात्रा करने नहीं गया

---

१. प्रियप्रवास ३।२८-५०

है। इसलिए ध्यान रखना कहीं मार्ग मे इसे कुछ कष्ट न हो। यदि भूख लगे तो तुरन्त ही मधुर फल या नाना प्रकार के व्यजन खिला देना, प्यास लगे तो तुरन्त विमल जल लाकर पिलाना और मार्ग मे नाना दृश्य दिखाते हुए इसे ले जाना। कहीं ऐसा न हो कि तीव्र पवन मेरे लाडिलो को सताने लगे। कहीं सूर्य की किरणें इन्हे सतप्त न करें। आप इन सभी बातो से कुमारो की रक्षा करना और जहाँ शीतल छाया देखो वहाँ कुछ क्षण विश्राम करना, जिससे मेरे पुत्रो के मुख-कमल मलिन न होने पावें। यह ध्यान रखना कि रथ अधिक तीव्र गति से न चले, जिससे मेरे सुकुमार पुत्रो को कोई पीडा हो क्योकि इनका हृदय बडा ही मृदुल है। वहां मथुरा नगरी म जाकर यह ध्यान रखना कि कहीं कोई कुटिल स्त्री अपनी विषैली छाया मेरे लाडिलो पर न डाले, क्योंकि उस नगरी मे बडी-बडी साँपिने रहती हैं। इसलिए उनसे मेरे पुत्रो को सदैव बचाते रहना। मेरे इन पुत्रो को सदैव अपने ही साथ रखना और यदि नृपाधम कस की भ्रकुटि तनिक भी टेढी देखो तो तुरन्त ही किसी युक्ति द्वारा मेरे पुत्रो को वहाँ से इस तरह निकाल लाना, जिससे न तो राजा ही कुपित हो और न मेरे पुत्रा का बाल बाँका हो, अपितु उनकी रक्षा हो जाय।'[1] इस तरह इस वात्सल्यमयी जननी के इन हृदयोद्गारो म कितना स्नेह कितना दुलार एव कितना प्यार भरा हुआ है कि जिसे देखकर वात्सल्य की मगलमयी मूर्ति आँखा के सामने साकार रूप मे अकित हो जाती है।

ममता एव करुणा की सजीव प्रतिमा—इसके अनन्तर यशोदा का वह हृदयद्रावक रूप हमारे सामने आता है, जिसम वह शोक एव विषाद म डुबकियाँ लगाती हुई अपनी असीम ममता एव अपार करुणा के कारण पाठको का हृदय बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है तथा जननी के जिस दुख विह्वल रूप की झाँकी पाकर सहृदय-जन शोक-सागर में निमग्न हो जाते हैं। नद जी अकेले ही मथुरा से लौटकर गोकुल ग्राम म आते हैं। उनको आते देख कर पहले तो यशोदा विक्षिप्त की तरह दौडी हुई द्वार पर आती है, परन्तु अपने पुत्रो को न देखकर एक साथ 'छिन्नमूला' लता के समान भूमि पर गिर पडती है। अनेक यत्नो के उपरान्त माता यशोदा को चेतना आती है। तब वह व्याकुल होकर जो विलाप करती है, उसमे जननी के हृदय की कितनी ममता, कितनी करुणा और कितनी कसक भरी हुई है, उसे शब्दो मे वर्णन करना सर्वथा असम्भव है। ऐसी ममता, ऐसी करुणा एव ऐसी कसक

---

१ प्रियप्रवास ६।४८-५५

उसके हृदय में क्यों न हो, क्योंकि उस वृद्धा का नेत्र-तारा आज लुप्त हो गया है, उस दुःख-जलनिधि में डूबी हुई का सहारा आज कहीं चला गया है, उस दुखिया माँ का जीवन कहीं दिखाई नहीं देता, उस दरिद्र का अनूठा रत्न कहीं गायब हो गया है और उस दुलारमयी जननी की आँखों का उजाला कहीं जाता रहा है। उसे भला कैसे संतोष हो ? इसने बड़े कष्ट उठाकर अपने पुत्र का लालन-पालन किया है, देवी-देवताओं की बड़ी मनौतियाँ करने के उपरान्त उसे इतना बड़ा कर पाया है और नाना प्रकार के विघ्नों का सामना करके उसने वह शील, सौजन्य एवं माधुर्य से परिपूर्ण मुख देखा है। उसे वेदना क्यों न पीड़ित करे, क्योंकि आज उसके पुत्र के बिना उसका घर सूना होगया है, सारी दिशायें शून्य हो गई है और सारा जगत ही लुट गया है। वह जब अपने पुत्र के लिए खिन्न होकर गायों को बिलखता देखती है या घर के शुक-सरिका आदि पक्षियों को उसके लिए बेचैन देखती है, तो उसका हृदय और भी शोक एवं करुणा से भर आता है। इसके साथ ही कंस, चाणूर मुष्टिक आदि दुष्टों की कठोरता एवं अपने पुत्र की सुकुमारता का ध्यान आते ही माता यशोदा का हृदय विदीर्ण हो जाता है। परन्तु ईश्वर की बड़ी कृपा है कि उसके लाल ने उन सब दुष्टों को यमपुर भेज दिया है। वह इस अद्भुत बात को सोच-सोच कर अपने भाग्य की सराहना करने लगती है और किसी पुण्य के प्रताप से ही इन सब असम्भव बातों का होना समझती है। परन्तु उसके हृदय में बसी हुई ममता उसे रह-रहकर कचोटने लगती है, जिससे वह अधीर होकर अपने प्रियतम से बार-बार यही पूछती है कि "मेरा प्राणाधार अब कब लौटकर आवेगा ?" हाय ! मैं उसके बिना जीवित नहीं रह सकती। ऐसा सुना जाता है कि अब मुझे मेरा प्रिय चाँद अपना मुख दिखाने नहीं आवेगा। मैंने उसके लिए बड़े कष्ट सहे हैं। अब यदि मेरा लाल मुझे देखने को नहीं मिलेगा, तो मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा और मैं रो-रोकर ही मर जाऊँगी। हा ! वृद्धा के अतुल धन, वृद्धता के आश्रय, प्राणों के परमप्रिय, शोभा के सदन एवं रूप-लावण्य वाले बेटे ! मैं तेरे बिना जीवित नहीं रह सकती।"[१] इस तरह हम माता यशोदा को नाना प्रकार से करुण विलाप करते हुए देखते हैं। यशोदा का यह विलाप-कलाप माता के हृदय का सच्चा स्वरूप है, ममता का सच्चा निदर्शन है और करुणा की सजीव प्रतिकृति है। यही कारण है कि यशोदा माता यहाँ ममता एवं करुणा

१. प्रियप्रवास ७।११-५७

की सजीव प्रतिमा के रूप में अंकित होकर पाठकों के हृदय को झकझोर डालती हैं, समवेदना को जाग्रत कर देती हैं और सभी को करुणा-सागर में डुबो देती है।

पुत्रहीना आशामयी दुखिया जननी—ममता एवं करुणा से आप्लावित दुखिया जननी को जब नंद जी यह समझाते हैं कि "धैर्य रखो, प्रियसुत दो ही दिना में आजावेगा" तब वह मृतप्राय मूर्ति पुनः सजीव होकर आँखें खोल देती है और "क्या आवेगा कुँवर व्रज में नाथ दो ही दिनों में" कहकर अपनी बात की पुष्टि कराकर आशान्वित हो जाती है। उस निराश दुखिया को तनिक सा आश्रय मिल जाता है कि संभव है कि दो दिन बाद उसका लाडिला कुँवर लौट आवे। इस आशा के कारण उसकी सज्ञा लौट आती है, वह सँभल जाती है, उसकी निराश-स्थिति में परिवर्तन हो जाता है और वह द्वार से उठकर अपने प्रियतम के साथ घर में चली जाती है। सत्य ही है कि संसार में आशा बड़ी बलवती है, उसकी महिमा अपार है, क्योंकि इसका स्पर्श पाते ही मृत प्राणी भी जी उठते हैं। इसी से बल पाकर माता यशोदा अपने दुखी जीवन को व्यतीत करने का साहस करती है और इसी के प्रताप से वह दुखिया रोती बिसूरती हुई, कलपती-बिलखती हुई तथा भग्न हृदय को समझाती-बुझाती हुई कृष्ण की प्रतीक्षा में दिन काटने लगती है।[१] उसकी काया जीर्ण-शीर्ण होजाती है। चिन्ता एवं व्यथा उसके हृदय को अधीर करती रहती हैं और वह अत्यंत खिन्न एवं दीन होकर मोह में निमग्न होती हुई आशा के सहारे ही शेष जीवन व्यतीत करती है। परन्तु इस आशामयी जननी की आशा का बाँध उस क्षण टूट जाता है, जिस समय उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर गोकुल में आते हैं। वह उद्धव से यही पूछती है—"हे उद्धव! रात दिन रोते-रोते जिस कुँवर का पथ देखते हुए मेरी आँखें ज्योति-हीन हो गई हैं, भला क्या वे उस 'भवतमहरी ज्योति' को पुनः प्राप्त कर सकेंगी? क्या मुझे वह इन्दुमुख पुनः देखने को मिल जायेगा? मैं रातदिन बड़ी बेचैन रहती हूँ। क्या मुझे अपने प्रिय लाल की मधुर बातें कभी सुनने को प्राप्त हो जायेंगी?"[२] इसी तरह नाना प्रकार से अपनी व्यथा-कथा कहती हुई माता यशोदा अधीर हो उठती है और अपनी सम्पूर्ण राम-कहानी सुनाने लगती है

१ प्रियप्रवास ७।५६-६३

२ वही १०।१३-१५

कि कैसे मैंने कष्ट उठाकर कृष्ण का पालन-पोषण किया, कैसे मैंने विघ्नों का सामना करके उसे इतना बड़ा किया और आज उसके बिना किस तरह सारा व्रज बेचैन बना हुआ है।[1] दुखिया यशोदा की यह करुण-कथा उद्धव को भी व्यथित बना देती है, वे मौन होकर सारी रात वहीं बैठे-बैठे माता यशोदा की व्यथा-कथा सुनते रहते है। प्रभात हो जाता है, परन्तु व्यथा-कथा समाप्त नहीं होती। जब उद्धव उठकर ही वहाँ से चले जाते है, तब वह दुखिया अपने आप मौन होकर रह जाती है। अतः कवि ने पुत्र-हीना आशामयी दुखिया जननी के रूप में यशोदा का चित्रण करके यहाँ पुत्र-वंचिता माता के जीवन की बड़ी ही सुरम्य झाँकी प्रस्तुत की है।

विशाल अंतःकरण एवं उदारमना देवी—तदनतर यशोदा माता का अत्यंत दिव्य एवं भव्य रूप हमारे सामने आता है। अब चिरकाल के वियोग-जन्य दुःख से जर्जर होकर वह शरीर से तो क्षीण हो गई है, परन्तु उसका अंतः-करण विशाल हो गया है, उनमें उदारता की भावना अत्यधिक जग गई है और अब उसमें इतनी संकीर्णता नहीं रही है, जितनी कि पहले थी और जिसके परिणामस्वरूप वह अपने पुत्र का कहीं दूर रहना पसन्द नहीं करती थी। उद्धव से बातें करते समय अब तो यशोदा जी कृष्ण की वीरता की प्रशंसा करती हुई उनका यशोगान गाती है, दुखिया देवकी के बंधन-विमुक्त होने पर हर्ष प्रकट करती है और अपने लाड़िले पुत्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करके अत्यन्त सुखी होती है। इतना अवश्य है कि जब उन्हें वसुदेव-देवकी के कष्टकारी दुःखों की याद आती है, तो वे आँसू बहाने लगती है, परन्तु उनके कारागार से विमुक्त होने का समाचार पाते ही वे अत्यंत सुखी एवं हर्षित दिखाई देती है।[2] किन्तु इस क्षण यशोदा को इसलिए अधिक पीड़ा हो रही है कि अब मेरा लाड़िला पुत्र दूसरों का भी लाड़िला बनता जा रहा है। फिर भी अब उसका विशाल अन्तःकरण इस बात को गवाही नहीं देता कि वह देवकी के लाड़िले पुत्र को अपने पास बुलाकर यहीं रखले। अब तो इस उदारमना माता की एक साध यही कामना है :—

> "प्यारे जीवें पुलकित रहें औ बनें भी उन्हीं के।
> धाईं नाते वदन दिखला एकदा और देवें ॥[3]

---

१. प्रियप्रवास १०।१८-६५

२. वही १०।६२-६३

३. वही १०।६५

इन शब्दो मे कितनी उदारता, कितनी महानता एव कितनी अंत करण की विशालता छिपी हुई है कि अनेक कष्टो के साथ पाले हुए अपने पुत्र को वह जननी दूसरो को सौंपते हुए नही झिझकती, दूसरो का बनाते हुए सकोच नही करती और केवल यही चाहती है कि भले ही वह दूसरो का बन जाय, परन्तु धाई के नाते से ही एकबार मुझे अपना मुख तो दिखा जाय। कवि ने उक्त शब्दो मे यशोदा जी की जिस दिव्य एव मगलकारिणी मातृमूर्ति का चित्र अकित किया है, उसके सम्मुख हठात् हमारा मस्तक झुक जाता है, क्योंकि वह हमे मानवी होकर भी देवी के उच्च पद पर आसीन दिखाई देने लगती है।

यशोदा के चित्रण में कवि का उद्देश्य—कवि ने यशोदा के रूप मे भारत की उस आदर्श माँ की झाँकी प्रस्तुत की है, जिसके अत करण मे अपने लालित-पालित पुत्र के लिए अनन्त मोह, असीम ममता एव अपार वात्सल्य भरा हुआ है, जो पुत्र के तनिक से सकट से ही व्यथित एव बेचैन हो उठती है, जिसे पुत्र सुख के सामने अपने कष्टो की तनिक भी परवा नही और जो देवी-देवताओ की आराधना तक करके पुत्र की विघ्न-बाधाओं को दूर करने की सदैव चेष्टा करती रहती है। इसके अतिरिक्त अत करण की विशालता एव उदारता के कारण यशोदा माता वीर प्रसूती माताओ की कोटि मे भी जा पहुँचती हैं। यद्यपि कृष्ण उनके औरस पुत्र नही हैं, तथापि वे उन्हे औरस से भी अधिक मानती हैं और उन्हें लोकहित एव लोकसेवा के कार्यों मे लीन देखकर अतीव हर्ष प्रकट करती हैं। वास्तव मे भारतीय जननी का यही आदर्श रहा है कि वह ममता एव वात्सल्य से परिपूर्ण होकर भी अपने पुत्र को लोकहित एव लोकसेवा के लिए सहर्ष अग्रसर करती रही है। इस दृष्टि से यशोदा जी *कुन्ती, विदुला, सुभद्रा आदि वीर-प्रसूती माताओ से किसी प्रकार कम नहीं* दिखाई देती, अपितु पराये पुत्र के लिए इतना ममत्व, इतना वात्सल्य एव इतना शोक प्रकट करने के कारण वे इन माताओ से भी अधिक महान् एव उन्नत दिखाई देती हैं। इस तरह कवि ने वात्सल्य, ममता एव उदारता से परिपूर्ण मगलमयी जननी का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही यशोदा की ऐसी भव्य मूर्ति यहाँ अकित की है।

उद्धव—सर्वप्रथम हमे इनके दर्शन व्रजराज श्रीकृष्ण के समीप उनके एक ऐसे मित्र के रूप मे होते हैं, जो ज्ञान-वृद्ध हैं, विज्ञ-वर हैं, आनद की मूर्ति हैं और योगादि की शिक्षा देने मे बडे पटु है। श्रीकृष्ण इन्हे व्रज मे इसी कारण भेजते हैं कि तुम वहाँ जाकर मेरे माता-पिता, मेरे चिर-सहचर गोप एव प्यारी

प्रियसखी गोपियों को इस तरह समझाना, जिससे उनके हृदय की व्यथा एवं वेदना दूर हो जाय, वे मेरी वियोगाग्नि में जलना बन्द करके शान्ति प्राप्त करें और उन्हें सभी प्रकार संतोष प्राप्त हो। श्रीकृष्ण ने उद्धव को माता यशोदा, वृद्ध गोपेश तथा दिव्यांगना राधा को विशेष रूप से समझाने के लिए भेजा है। साथ ही कृष्ण ने सभी प्रकार से ब्रज की मर्यादा एवं वहाँ के व्यवहार आदि से भी उद्धव जी को पूरी तौर से परिचित करा दिया है।[1]

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—उद्धव जी यात्रा के समय अत्यन्त ही भव्य एवं दिव्य रूप धारण किए हुए हैं। उनके मस्तक पर किरीट शोभा दे रहा है। वे अत्यन्त गौरवशाली पीताम्बर धारण किए हुए हैं। कानों में कुंडल शोभा पा रहे हैं और उनकी काया भी श्यामल है। अतः रथ में बैठकर जब वे गोकुल ग्राम में आते हैं, तब अतीव उत्कंठित ग्वाल-बालों, गायों, गोपियों आदि को उन्हें आता देखकर श्रीकृष्ण का ही भ्रम हो जाता है। परन्तु जैसे ही वे निकट आकर उन्हें ध्यान से देखते हैं, वैसे ही अपने प्रिय मुकुंद को वहाँ न पाकर वे अत्यन्त मलीन, खिन्न एवं विषादपूर्ण हो जाते हैं। उनकी भव्य श्यामली मूर्ति अनेक कामनियों, कुमारियों, कार्य में रत गोपों आदि को अपनी ओर आकृष्ट तो कर लेती है, परन्तु समीप आकर वे सभी अत्यंत निराश हो जाते हैं और उनकी उमंग, उत्सुकता एवं तत्परता सभी शिथिलता में परिणत हो जाती हैं, क्योंकि समस्त नगरवासियों को फिर वही भ्रम होने लगता है कि अक्रूर की भाँति यह भी फिर ब्रज के किसी रत्न को लेने के लिए यहाँ आया है।[2] अतः उद्धवजी ज्ञानी, विद्वान, भव्य आकृति-सम्पन्न एवं आनंद-मूर्ति होने पर भी गोकुल निवासियों के लिए आनंदप्रद सिद्ध नहीं होते।

ब्रजजनों की व्यथा से व्यथित मौन मूर्ति—तदनतर उद्धव हमें एक ऐसे मौन साधे हुए ज्ञानी के रूप में दिखाई देते हैं, जो ब्रज की प्रत्येक परिस्थिति का अध्ययन तो कर रहा है और वहाँ की करुण दशा देख-देखकर पिघलता भी जा रहा है परन्तु अपने मुख से कोई शब्द नहीं निकालता। सबकी सुनता है और अपनी कुछ नहीं कहता। उद्धव जी ब्रज के खिन्न, उद्विग्न एवं शोक में निमग्न प्राणियों की व्यथा-कथा बड़े चाव से सुनते हैं। पहले माता यशोदा की करुण एवं वेदना से भरी रामकहानी सारी रात सुनते हैं, फिर वे यमुना के किनारे एक कुंज में बैठे हुए गोप बालकों की

---

१. प्रियप्रवास ६।१, ६–१२
२. वही ६।११३–१३५

एक-एक करके कथा सुनते हैं, जिसमे कृष्ण के यशोगान के साथ-साथ उनकी करुण कहानी भी भरी हुई है। तदनन्तर आभीरो का एक दल आकर उन्हें कृष्ण के सेवाकार्य, लोकहित परोपकार आदि का वर्णन करके कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा प्रकट करता हुआ अपनी वियोग गाथा सुनाता है। इसके अनतर व वृन्दावन म जाकर सैकडो गोपकुमारो के मध्य बैठकर उनकी वियोग कथा सुनते हैं उनकी कृष्ण मिलन की उत्सुकता, उत्कट अभिलाषा एव तीव्र आकाक्षा से भरी हुई बातें सुनकर गद्गद हो जाते हैं और कथा सुनते-सुनते ही सध्या हो जाती है, परन्तु किमी को पता ही नही चलता कि समय कैसे निकल गया। इसके उपरान्त वे यमुना के किनारे एक रमणीक कुज मे टहलते हुए छिपकर एक गोपी के टीस, कराह, व्यग्रता एव उच्छ्वासो से भरे हुये वियोग सम्बन्धी उद्गारों को सुनते हैं जिनमे वह कभी यमुना के नीले जल को सम्बोधन करके अपनी वेदना प्रकट करती है, कभी पुष्पो, कभी पवन, कभी कोकिल या भ्रमर आदि को सम्बोधन करके अपना विरह-निवेदन करती है। परन्तु इन सभी व्यथा-कथाओ को सुनकर तथा तीव्र-वेदनाओ का निरीक्षण करके भी उद्धव कुछ नही कहते, मौन रहना ही अधिक पसद करते हैं। कवि ने यद्यपि सकेत तो किया है कि उद्धव ने गोप, यशोदा, आदि को प्रबोध दिया, परन्तु वह क्या प्रबोध दिया अथवा कैसे समझाया इसका उल्लेख पहले नही मिलता।

गोपियों के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनन्तर उद्धव का वह वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आता है, जिसके लिए इनकी सृष्टि हुई है। व्रज की बहुत कुछ विक्षिप्त दशा का अध्ययन करने के उपरान्त उद्धव का मौन भग हो जाता है और वे एक दिन अत्यन्त रमणीक कु ज में गोपबालाओ के मध्य बैठकर उन्हे कृष्ण का सदेश सुनाने लगते हैं। वे कहते हैं कि यह बताना अत्यत कठिन है कि अब कृष्ण यहां आवेंगे या नहीं क्योकि समय की गति बडी गूढ है और कोई भी व्यक्ति यह नहीं जान सकता कि कब क्या होने वाला है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण अभी तक न वृन्दावन को भूले हैं न अपने प्रिय माता-पिता को भूले हैं, न गोप-गोपियो का ही भूल सके है और न प्रणय प्रतिमा राधा को ही भूल पाये हैं। वे प्रतिक्षण सभी को याद करते रहते हैं। परन्तु वे तीन कोस की दूरी पर रह कर भी यहां मिलने क्यो नही आ पाते, इसके लिए उत्तर यही है कि अब वे पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणियो के हितैषी बन गये हैं और उनको विश्व का प्रेम प्राणो से भी अधिक प्रिय हो गया है। उनके सामने सदैव लोकहित विद्यमान रहता है, जिसने

उनके सम्पूर्ण स्वार्थ एवं विपुल-सुख को भी तुच्छ बना दिया है और इसी कारण वे सैकड़ों लालसाओं, लिप्साओं आदि को योगी की भाँति दमन करके जीवन-यापन करने लगे हैं। अब वे यदि अपने माता-पिता की सेवा करते समय किसी आर्तवाणी को सुन लेते हैं, तो तुरन्त उसे शरण देने को तैयार हो जाते हैं, दुःखी जनों की पूर्ण सहायता करते हैं और रात-दिन लोकहित में लगे रहते हैं। उन्होंने मुझे यह कह कर यहाँ भेजा है कि व्रज की समस्त बालिकाओं, वृद्धाओं आदि को यह समझा देना कि वे मोह-माया में निमग्न न हों, किन्तु लोकसेवा, लोक-कल्याण, लोक की गरिमा आदि को भली प्रकार समझें और मेरे वियोग में रात-दिन न रोती रहें, नहीं तो मुझे भी किसी क्षण चैन नहीं मिलेगा। अतः अब तुम योग द्वारा अपने भ्रमित मन को धीरे-धीरे सम्हालने का प्रयत्न करो, जगत-हित के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को त्याग दो और वासना-मूर्तियों को देखकर उनमें न तो मोहित होने की चेष्टा करो और न अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूलो। इस तरह तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायेगा और तुम्हें अनुपम शान्ति प्राप्त होगी।'[1] परन्तु विरह-विधुरा गोपियाँ उनकी योग संबंधी बातें नहीं समझतीं और वे अपनी व्यथापूर्ण गाथा इस तरह उनके सम्मुख प्रस्तुत करती हैं कि बुद्धि-निधान उद्धव भी गोपियों के अलौकिक प्रेम की सराहना करते रह जाते हैं।

राधा के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनंतर उद्धव राधा जी से कृष्ण का संदेश कहने के लिए बरसाने पधारते हैं और वहाँ एक तपोभूमि के समान अत्यंत विचित्र वाटिका में बैठी हुई प्रशान्त, म्लाना, दिव्यतामयी भक्ति-भावना की साकार मूर्ति रूपा राधा से कृष्ण का संदेश इस तरह कहते हैं—"हे राधे ! कृष्ण जी ने कहा है कि विधाता ने ही आज हम दो प्रेमियों को पृथक् कर दिया है। आज मैं एक ऐसे कठिन पथ का पान्थ हो गया हूँ कि अब मिलने की आशा नित्य दूर ही दूर होती जा रही है। हमारे बीच में कुछ ऐसे गुरु गिरि आ पड़े हैं कि हम नहीं मिल पाते। परन्तु ध्यान रखो इस विधि के विधान में भी कोई श्रेय का बीज अवश्य छिपा हुआ है। यद्यपि जगत में सुख और भोग की लालसायें बड़ी प्रिय एवं मधुर होती हैं परन्तु उनमें भी सुन्दर जगत-हित की लिप्सा होती है, क्योंकि इसमें आत्म-उत्सर्ग भरा रहता है और जो प्राणी जगत-हित एवं लोकसेवा में लगा रहता है, वही इस पृथ्वी पर सच्चा आत्म त्यागी है। ऐसा व्यक्ति फिर विविध भोगों में

---

१. प्रियप्रवास १४।१५-३६

लीन नहीं होता, वरन् उसे प्राणियों के हित एवं उनकी सेवा में ही सच्चा-सुख मिलता है और ऐसे ही आत्मत्यागी, परोपकारी एवं लोकसेवक प्राणी का जगत में जन्म लेना सफल है। अतः सदैव संसार में सर्वभूतोपकारी होकर स्वार्थोपरत रहना तथा सात्विकी कार्यों द्वारा जगत का कल्याण करते रहना ही श्रेयस्कर है।''[1] उद्धव का यह कथन कितना मार्मिक एवं कितना प्रभावोत्पादक है कि राधा जी भी उस संदेश को सुनकर तुरन्त 'कठिन पथ की पान्थ' बन जाती हैं और विश्व प्रेम में लीन होकर लोकोपकार, लोकसेवा, लोककल्याण आदि को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर सच्चे अर्थों में अपने प्रियतम की आदर्श प्रियतमा के रूप में जीवन व्यतीत करने लगती हैं। वास्तव में संदेशवाहक वही सफल होता है, जिसके संदेश को सुनकर व्यक्ति अपना आचार-विचार बदल दें, कल्याण की ओर अग्रसर हो जायें और उस संदेश की एक उत्कृष्ट बात को अपने जीवन में प्रयोग करने लगें।

उद्धव की कल्पना में कवि का उद्देश्य—महाकवि हरिऔध ने उद्धव के परम्परागत रूप में आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया है। अभी तक हिन्दी साहित्य में उद्धव का चित्रण एक ज्ञानी, बुद्धि-कला प्रवीण, नीरस एवं अक्खड़ पंडित के रूप में ही होता रहा है और यह दिखाया गया है कि इनकी ज्ञान एवं योग की बातें ब्रज में कोई सुनना पसन्द नहीं करता, अपितु ये स्वयं ब्रज की गोपियों एवं गोपों की भक्ति में ऐसे लीन हो जाते हैं कि अपनी योग एवं ज्ञान संबंधी बातों को भूलकर भक्ति को ही अपना लेते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में उद्धवजी की बातें गोपियों ने ध्यान से तो सुनी हैं और आदर-सत्कार भी किया है परन्तु वे योग एवं ज्ञान के मार्ग को नहीं अपनातीं, अपितु स्वयं उद्धव कुछ महीनों तक ब्रज में रहकर जब गोपियों के भक्तिपूर्ण व्यवहार तथा उनके प्रेममय जीवन को देखते हैं, तब वे प्रशंसा करते-करते नहीं थकते, गोपियों को लक्ष्मी, भगवद्वाणी, श्रुति, उपनिषद् आदि से भी महान् बतलाते हैं और उनके चरणों की धूल सिर पर चढ़ाते हैं।[2] सूर आदि कृष्णभक्त कवियों ने उद्धव जी को योग एवं ज्ञान का संदेश देते हुए तो दिखाया है, परन्तु गोपियाँ न तो उनका संदेश सुनती हैं और न उनका आदर करती हैं, अपितु उनकी खिल्ली उड़ाती हुई उनका मजाक बनाती हैं। यहाँ पर कवि हरिऔध ने भागवत के आधार पर उद्धव जी का स्वागत-सत्कार

---

१ प्रियप्रवास १६।३७-४६

२ श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।३६-६३

तो कराया है, परन्तु उससे भिन्न गोपियों को ध्यानपूर्वक संदेश सुनते हुए भी अंकित किया है। इतना ही नहीं राधा को तो पूर्णतया उस संदेश का पालन करते हुए भी दिखाया है। यहाँ संदेश भी प्राचीन ग्रंथों से सर्वथा भिन्न है। भागवत में तो वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, हृदय-संयम और सत्य आदि की प्राप्ति निश्चल भाव से योग द्वारा मन में ही ब्रह्म रूप कृष्ण का ध्यान करने पर बताई गई है।[१] यही बात कृष्णभक्त कवियों ने भी कही है। परन्तु हरिऔधजी ने त्याग, तपस्या एवं सेवा सहित लोकहित एवं विश्व-प्रेम का संदेश उद्धव द्वारा कहलवाया है, जिसे अबोध गोपियाँ भले ही न अपनावें, परन्तु परम विदुषी राधा सहर्ष अपना लेती है। अतः कवि ने उद्धव को यहाँ एक ऐसे उपदेशक, उद्बोधक एवं संदेशवाहक के रूप में रखा है, जो युग के अनुकूल बातें समझाकर ब्रजजनों को ही नहीं, अपितु समस्त विश्व को लोकहित, लोकसेवा एवं लोककल्याण के कार्यों में लीन होने का संदेश दे रहा है। यदि ध्यान से देखा जाय तो उद्धव के रूप में कवि हरिऔध ही अपने विचारों को व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने उद्धव के मुख से लोकहित एवं लोकप्रेम का संदेश दिलाया है।

सारांश यह है कि 'प्रियप्रवास' में युगानुकूल आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के रूप में एक भारत के सुपुत्र, यशस्वी एवं मनस्वी, त्यागी-तपस्वी, लोकहितैषी महापुरुष का चित्रण किया है; कुमारी राधा के रूप में देश की यशस्विनी-तपस्विनी, समाज की श्रेय-स्वरूपा, लोकसेविका, समाज-हितैषिणी, ध्येय-निष्ठा में तत्पर भारतीय रमणी-रत्न का चित्रण किया है; नंद जी के रूप में आदर्श पिता, यशोदा जी के रूप में आदर्श माता और उद्धव जी के रूप में आदर्श उपदेशक या उद्बोधक का चित्रण किया है। 'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण सभी प्रकार से शौर्य, औदार्य, दया-दाक्षिण्य, उत्साह, गांभीर्य, सहनशीलता, अहंकारशून्यता, दृढ़ व्रत, स्थिरता आदि गुणों से विभूषित होने के कारण धीरोदात्त नायक हैं और राधा जी सरलता, शुचिता, तेजस्विता, क्षमा, दया, उदारता, शील, सौजन्य सेवा आदि से परिपूर्ण एक उच्चकोटि की धीरा नायिका हैं। अतः 'प्रियप्रवास' का यह चरित्र-चित्रण सभी प्रकार से उसके महाकाव्यत्व का द्योतक है।

---

१. श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।३३-३७

(३) प्रकृति चित्रण—मानव और प्रकृति का चिर साहचर्य है। मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति की सुरम्य गोद म ही अपनी आखें खोली थी, उसी से प्रेरणा लेकर उसने विकास किया और उसी की सहायता से वह सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र म आगे बढा। इसी कारण मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध है। भारत की प्राकृतिक छटा कुछ ऐसी अद्भुत एव आकर्षणमयी है कि यहाँ ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ भण्डार वेदो, उपनिषदों आदि का प्रादुर्भाव प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे ही हुआ। अतएव यहा मानव मनोभावो को विभिन्न रूप से आन्दोलित करने मे प्रकृति का हाथ आदि काल से ही रहा है और इसी कारण यहाँ मानव मस्तिष्क अपने विचारो, अपनी अनुभूतियो एव अपने हृदयोदधि क भाव-रत्नो को प्रकृति क माध्यम स प्रकट करता रहा है। उस प्रकृति मे एक ऐसी चेतनता, नवीनता, स्फूर्ति, मनोमोहकता आदि के दर्शन हुए हैं, जिससे वह प्रकृति की अलौकिक छवि पर आकृष्ट होकर सदैव उसके यशोगान से अपनी वाणी को पवित्र बनाता चला आया है और उसके गूढ सकेतों, रहस्यपूर्ण व्यापारो एव अनुपम परिवर्तनो को देख-देखकर आनद-विभोर होता हुआ अपने काव्य मे उसे उचित स्थान देता चला आया है। काव्यो मे यह अनुपम छवि-सम्पन्न प्रकृति-सुन्दरी नाना रूपो मे अभिव्यक्त हुई है, कही चेतन रूप मे और कही अचेतन रूप मे, कहीं स्वतन्त्र रूप मे और कहीं परतन्त्र रूप में; कही सवेदनात्मक रूप मे और कही प्रतीकात्मक रूप म। कहने का तात्पर्य यह है कि कवियों ने इस विविध रूपा प्रकृति की झाँकी नाना प्रकार से अकित की है। मुख्यतया यह प्रकृति निम्नलिखित रूपों मे भारतीय काव्य के अतर्गत वर्णित मिलती है:—

(१) आलम्बन रूप मे,	(२) उद्दीपन रूप मे,
(३) सवेदनात्मक रूप मे,	(४) वातावरण निर्माण के रूप मे,
(५) रहस्यात्मक रूप मे	(६) प्रतीकात्मक रूप मे,
(७) अलकार-योजना के रूप मे,	(८) मानवीकरण के रूप मे,
(९) लोक-शिक्षा के रूप में	(१०) दूत या दूती रूप म।

आलम्बन रूप में—प्रकृति का आलम्बन या स्वतन्त्र रूप मे चित्रण प्रारम्भिक युग से ही मिलता है। वेदो म अग्नि पर्जन्य, सोम, उषा, पूषण, रुद्र, विष्णु आदि के सूक्तों मे प्रकृति के स्वतत्र चित्र ही अत्यत मार्मिकता एव सजीवता के साथ अकित हैं। इन चित्रो मे क्रान्तदर्शी ऋषियो ने प्रकृति के चेतन स्वरूप की अत्यत भव्य एव सश्लिष्ट झाकियाँ प्रस्तुत की हैं। कहीं-कही पर केवल नाम गिनाकर या अर्थग्रहण कराकर भी छोड दिया गया है। इसी

कारण प्रकृति के आलम्बन रूप में हमें दो प्रणालियों का प्रचलन दिखाई देता है—(१) बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली, जिसमें प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र अंकित किए जाते हैं और (२) अर्थ-ग्रहण-प्रणाली, जिसमें प्राकृतिक पदार्थों के केवल नाम ही गिना दिये जाते हैं। इसे नाम-परिगणन-प्रणाली भी कहते हैं। इन दोनों प्रणालियों द्वारा कहीं तो प्रकृति की भव्य एवं आकर्षक झांकी अंकित की जाती है और कहीं प्रकृति के भयंकर एवं उग्ररूप का दिग्दर्शन कराया जाता है। इस दृष्टि से आलम्बन रूप में प्रकृति चार प्रकार से अंकित की जाती है। अब यदि 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि कवि हरिऔध ने यहाँ पर भी प्रकृति के अत्यंत सजीव एवं मनोहर रूपों की झाँकियाँ अंकित की हैं। जैसे, बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली द्वारा प्रकृति के भव्य रूप का संश्लिष्ट चित्र अंकित करते हुए कवि ने गोवर्द्धन पर्वत की अत्यंत अलौकिक छटा को सजीवता प्रदान की है, जिसमें उसे ब्रज की शोभामयी भूमि का मान दंड बता कर अत्यन्त गर्व, दर्प एवं स्वाभिमान के साथ शिर ऊँचा करके खड़ा हुआ अंकित किया है। उसकी गोद में जो झरने अत्यंत वेगपूर्वक शब्दायमान होते हुए बह रहे हैं, वे उस शैलेश की सत्कीर्ति का गुणगान करते से जान पड़ते हैं। उन झरनों का जल उल्लास की मूर्ति बन कर प्राणियों को गतिशील वस्तु की गरिमा बता रहा है और उसके प्रवाह को देख कर ऐसी कल्पना उठने लगती है कि मानो झरनों के रूप में स्वर्गीय आनंद की धारा इस गोवर्द्धन पर्वत से निकल कर बह रही हो अथवा कृष्ण के वियोग में रात-दिन रोते-विसूरते ब्रजवासियों को देख कर वह भी झरनों के प्रवाह के रूप में श्रीकृष्ण के लिए आँसू बहाता सा दिखाई दे रहा हो।[1] प्रकृति की इस

---

१. ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूँ सुन्दर मानदंड ब्रज की शोभा-मयी भूमि का।

× × × × ×

पानी निर्झर का समुज्ज्वल तथा उल्लास की मूर्ति था।
देता था गति-शील-वस्तु-गरिमा यों प्राणियों को बता।
देता था उसका प्रवाह उर में ऐसी उठा कल्पना।
धारा है यह मेरु से निकलती स्वर्गीय आनंद की।
या है भूधर सानुराग द्रवता अंकस्थितों के लिए।
आँसू है वह ढालता विरह से किम्वा ब्रजाधीश के।

—प्रियप्रवास ६।१५-२१

सजीव झाँकी में उसके आकर्षक एव मनोमोहक रूप का एक संश्लिष्ट चित्र सा हमारे मानस-पटल पर अकित हो जाता है भले ही इस चित्र मे अधिक तडक-भडक वाले रग न हों, किन्तु सक्षिप्त रेखाओ एव अल्प भाव-रगो द्वारा कवि ने इसे अत्यन्त प्रभावोत्पादक बनाया है।

इसी बिम्ब-ग्रहण-प्रणाली के अतर्गत प्रकृति के भयकर रूप का चित्र अकित करते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का निश्चय होते ही गोकुल की उस भयानक रजनी का जो सजीव वर्णन किया है, उसमे अद्भुत कला कौशल विद्यमान है। कवि उस भयानक रजनी का सश्लिष्ट चित्र अकित करते हुए बताता है कि सारे गोकुल ग्राम में अर्ध रात्रि की भीषण-मूर्ति व्याप्त हो गई थी, उस समय भय ताडव नृत्य करता जान पडता था, वृक्षो के समीप विकट दत दिखाते हुए भयकर प्रेत विचरण करते हुए दिखाई देते थे, अपना मुख फैलाए हुए प्रेतनियाँ अतीव भय प्रदान कर रही थीं, अधकार में लीन वृक्ष विकट दानव बने हुए थे, जिनकी विकरालता कठोर हृदय को भी विचलित कर देती थी और जिन्हें देख कर ऐसा जान पडता था मानो नृपाधम कस के निशाचर व्रज का समूल विनाश करने के लिए यहाँ खडे हो। श्मशान भूमि की भीषणता द्विगुणित हो रही थी। वहाँ पड़ी हुई खोपड़ियाँ विकट दत दिखाकर अत्यन्त भैरव हास करती जान पडती थीं, हड्डियो का समूह देखकर भय लगता था और ऐसा जान पडता था मानो स्वय भैरवी देवी रूप धारण करके यहाँ उपस्थित हो गई हो।[१] इस तरह कवि ने यहाँ रात्रि की भयकरता, भीषणता, विकरालता एव विकटता का एक चित्र सा अकित कर दिया है, जिसमे सश्लिष्टता के साथ साथ प्रकृति के उग्र रूप की अद्भुत झाँकी विद्यमान है।

इसी तरह कवि ने नाम-परिगणन प्रणाली या अर्थ-ग्रहण-प्रणाली का प्रयोग करते हुए प्रकृति के सौम्य एव भयकर दोनों पदार्थो के नाम गिनाये हैं। जैसे गोवर्द्धन पर्वत पर खडे हुए वृक्षो का उल्लेख करते समय कवि ने

---

१ प्रकटती बहु भीषण मूर्ति थी। कर रहा भय ताडव नृत्य था।
विकट दन्त भयकर प्रेत थे। विचरते तरु-मूल समीप थे।
\+ + + +
विकट दत दिखाकर खोपडी। कर रही अति भैरव हास थी।
विपुल अस्थि-समूह विभीषिका। भर रही भय थी बन भैरवी।
—प्रियप्रवास ३।१४-१६

लिखा है कि वहाँ जामुन, आम, कदम्ब, नीबू, फालसा, जम्बीर, आँवला, लीची, दाडिम, नारिकेल, इमिली, शीशम, इंगुदी, नारंगी, अमरूद, बेल, बेर, सागौन, शाल, तमाल, ताल, कदली, शाल्मली आदि के वृक्ष खड़े हुए थे।[1] इतना ही नहीं कवि ने यहाँ की वन-स्थली का वर्णन करते हुए वृन्दावन में इलायची और लौंग की लताओं का वर्णन भी किया है,[2] किन्तु वहाँ के सुप्रसिद्ध करील का नाम तक नहीं लिया। इस तरह नाम-परिगणन-प्रणाली में कवि ने कौशल तो प्रकट किया है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि उसने कभी ब्रजभूमि के दर्शन नहीं किये और वृक्षों, लताओं एवं पेड़-पौधों के नामों की सूची सामने रखकर सारा वर्णन किया है, क्योंकि न तो ब्रजभूमि में सागौन और शाल होते हैं और न इलायची और लौंग। अतः कवि का यह वर्णन सर्वथा हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त इस अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत प्रकृति के भयंकर पदार्थों के नाम गिनाने के लिए कवि ने तृणावरतीय विडम्बना का उल्लेख करते हुए भयकर तूफ़ान का उल्लेख किया है, जिसमें आँधी, उपल-वृष्टि, बादलों की गड़गड़ाहट, पेड़ों का उखड़ना, मकान की छतों का उड़ना आदि वर्णित है।[3] परन्तु इस चित्र में कामायनी के प्रलय-वर्णन आदि की सी संश्लिष्टता नहीं है। इसी कारण इसे अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत ही ले सकते है।

अतः कवि ने आलम्बन रूप में प्रकृति के कितने ही सजीव चित्र अंकित किए हैं, जिनमें से निदाघ-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद-वर्णन, और वसंत-वर्णन, प्रमुख है[4] जिनकी कोमलता, सुकुमारता एवं भीषणता पाठकों के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाती है, जिनमें पर्याप्त गतिशीलता एवं

---

१. जम्बू, अम्ब, कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाड़िम नारिकेल इमिली और शिंशिपा इंगुदी।
नारंगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली थे खड़े।

२. कहीं स-एला-लतिका लवंग की। ६।८८ —प्रियप्रवास ६।२५

३. प्रियप्रवास २।३६-३६

४. निदाघ-वर्णन देखिए एकादश सर्ग में ५६ वें छंद से ६४वें छंद तक। वर्षा-वर्णन देखिए द्वादश सर्ग में दूसरे छंद से ७१ वें छंद तक। शरद-वर्णन देखिए चतुर्दश सर्ग में ७७ वें छंद से १४१ वें छंद तक और वसंत-वर्णन देखिए षोडश सर्ग में प्रथम छंद से २८वें छंद तक।

अपणीयता विद्यमान हैं, जिनसे हमारे मानस में प्रकृति-सुन्दरी की एक मनोहर मूर्ति अंकित हो जाती है और जो मानव के चिर साहचर्य के साथ-साथ उसके प्रति अद्भुत आकर्षण के द्योतक हैं।

उद्दीपन रूप में—प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करके उसे मानव-मनोभावों की तीव्रता प्रदान करने वाली बतलाया है। इसी कारण प्राचीन काव्यों में प्रकृति प्रायः संयोग के अवसर पर हर्ष एवं उल्लास बढ़ाती हुई तथा वियोग के अवसर पर संतप्त *एवं व्यथित बनाती हुई अधिक अंकित की गई है। प्रियप्रवास* में भी प्रकृति के इस रूप की सजीव झाँकी विद्यमान है, क्योंकि इस प्रणाली द्वारा कवि-जन मानव-मनोभावों की तीव्रता एवं गहनता का वर्णन किया करते हैं। यहाँ पर हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के चले जाने पर गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन करने के लिए पंचदशसर्ग में प्रकृति के उद्दीपन रूप की अतीव मार्मिक झाँकी अंकित की है। इस सर्ग के अंतर्गत एक बाला विरह से अत्यंत आकुल होकर एक वाटिका में आती है, वहाँ आकर पाटल, जूही, चमेली, बेला, चम्पा आदि को विकसित देखकर उसके हृदय में एक मर्मान्तक व्यथा उत्पन्न होती है और वह इनको सम्बोधन करके अपनी विरह-व्यथा निवेदन करती है।[1] इसी तरह भ्रमर, मुरलिका, पवन यमुना आदि को देख कर उनकी भावनायें अत्यन्त उद्दीप्त होती हुई अंकित की गई हैं और दिखाया गया है कि एक विरहिणी युवती को प्रकृति के ये सुखमय पदार्थ कितने दुखद एवं संतापकारी प्रतीत होते हैं।[2] इसी तरह कवि ने काव्य के प्रारम्भ में ही संध्या का जो आनन्ददायक वर्णन किया है, उसमें संयोग के समय की मादकता, प्रसन्नता, मनोरंजकता, हास-उल्लास-प्रियता आदि विद्यमान हैं, क्योंकि व्रज के जीवनाधार श्रीकृष्ण सुरम्य वेष-भूषा बनाकर अपने प्रिय ग्वालबालों, *सुसज्जित धेनु एवं वत्सों के साथ गोकुल में* पधारते हैं। भला श्रीकृष्ण की इस रूपमाधुरी के अवलोकन का समय क्यों न आह्लादकारी होगा![3] इसी

---

१. आके तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
   तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
   क्यों होती है सुरभि सुखदा माधवी मल्लिका की।
   क्यों तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बना तू। १५।२३

२ *प्रियप्रवास* १५।१३-१२७

३ गगन-मण्डल में रज छागई। दश दिशा बहु-शब्दमयी हुई।
   विशद-गोकुल के प्रति गेह में। बह चला वर-स्रोत विनोद का। १।१०

कारण संध्या की यह मधुरिमा, संध्या का यह सरस राग और संध्या की यह अपूर्व छवि दर्शक-मंडली के लिए विविध भाव-विमुग्ध बनाने वाली सिद्ध होती है।[1] अतः कवि ने उद्दीपन रूप में प्रकृति के मार्मिक चित्र अंकित करते हुए उसे संयोग के अवसर पर हास-परिहास, आनन्द-उल्लास आदि बढ़ाते हुए अंकित किया है और वियोग के अवसर पर हृदय को जलाकर मानस में क्षोभ उत्पन्न करके और मस्तिष्क में उथल-पुथल पैदा कर के व्यथित एवं बेचैन बनाते हुए चित्रित किया है।[2] सारा चित्रण अत्यन्त मनोमोहक एवं आकर्षक है, इसमें कवि ने वर्षा, वसंत, रजनी, चन्द्र-ज्योत्स्ना आदि को गोप-गोपियों के भावों को उद्दीप्त करते हुए अंकित करके पूर्णतया परम्परा का ही पालन किया है।

संवेदनात्मक रूप में--प्रकृति का संवेदनात्मक रूप में चित्रण वह कहलाता है, जहाँ वह मानव-मनोभावों के अनुकूल हर्ष के समय प्रसन्नता, विषाद के समय शोक, रुदन के समय आँसू, हास-विलास के समय उल्लास एवं आमोद-प्रमोद के समय आनन्दमयी क्रीड़ायें प्रकट करती हुई अंकित की जाती है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास में प्रकृति के इस सचेतन एवं सजीव रूप की झांकी अत्यन्त मार्मिकता एवं विशदता के साथ अंकित की है। यहाँ प्रकृति मानव-जीवन से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करती हुई उनके सुख में सुख एवं दुःख में दुःख प्रकट करती हुई दिखाई देती है। इसी कारण जब माता यशोदा अपने प्राणाधार कृष्ण के गमन का समाचार पाकर रात्रि में शोक प्रकट करती हुई अविराम अश्रु-धारा बहाती हैं, बारम्बार मूर्छित हो जाती है तथा विकल एवं व्यथित दिखाई देती हैं, तब रजनी भी उनको व्याकुल देखकर ओस की बूँदों के बहाने आँसू बहाने लगती है और सम्पूर्ण व्रज-भूमि यमुना-प्रवाह के बहाने अपने नेत्रों से अविरल आँसू बहाते हुए अत्यन्त कातर होकर रुदन करती हुई जान पड़ती है।[3] इसी तरह जिस समय व्रज में श्रीकृष्ण का जन्म

---

१. प्रियप्रवास ११।-३३

२. वसन्त शोभा प्रतिकूल थी बड़ी वियोग-मग्ना व्रज-भूमि के लिये।
बना रही थी उसको व्ययामयी विकाश पाती वन-पादपावली।१६।१६

३. विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट की नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता बहु वारि था।।
विपुल-नीर बहा कर नेत्र से मिष कलिंद-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती व्रज की धरा।
३।८७-८८

हुआ था उस समय सारा व्रज मारे प्रसन्नता के प्रफुल्लित दिखाई देता था सर्वत्र उमंग एवं उत्साह छा गया था और घरों पर लगे वंदनवारों के रूप में सम्पूर्ण व्रज-सदन-समूह हँसता हुआ सा जान पड़ता था क्योंकि मुख में चमकते हुए दाँतों के रूप में घरों पर लगी वंदनवारें शोभा देती थी।[1] इसी प्रकार जब उद्धव मथुरा से गोकुल की ओर आ रहे थे तब उन्हें अत्यन्त रमणीक वनस्थली के दर्शन हुए, जिसमें नाना प्रकार के पशु पक्षी वृक्ष-लता सर-सरोवर आदि शोभा दे रहे थे, परन्तु श्रीकृष्ण के वियोग के कारण पादपों, प्रसूनों, लताओं, सरोवरों, खगों, मृगों, वन-निकुञ्जों आदि में सर्वत्र एक निगूढ खिन्नता बसी हुई थी, जिससे उन्हें देखकर उद्धव को कोई प्रसन्नता नहीं होती थी, अपितु गुप्त रीति से उनके हृदय में शनैः शनैः विरक्ति बढ़ती चली जाती थी।[2] यहाँ पर भी कवि ने सवेदनात्मक प्रकृति का चित्रण करके व्रजजनों में छाई हुई उदासी को देखकर व्रज के प्राकृतिक पदार्थों में भी व्याप्त उदासी का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। इतना अवश्य है कि इस सवेदनात्मक वर्णन में भावाश्रित चित्रण का अभाव है और विषाद हास उल्लास आदि की उतनी सघनता नहीं है, जितनी छायावादी कवियों की सवेदनात्मक प्रकृति-चित्रणमयी कविताओं में दिखाई देती है। फिर भी कवि प्रकृति के इस सचेतन व्यापार से विरक्त नहीं दिखाई देता और वह प्रकृति में मानवों की भाँति ही सहृदयता, सहानुभूति, समवेदना आदि के दर्शन करता है।

वातावरण-निर्माण के रूप में—कवि लोग प्रकृति का प्रयोग अपने अपने काव्यों में आनंद-उल्लास, शोक विषाद, हर्षोन्माद आदि का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए भी किया करते हैं। इस दृष्टि से बहुधा निर्जनता,

---

१ जब हुआ व्रज जीवन-जन्म था। व्रज प्रफुल्लित था कितना हुआ।
उमगती कितनी कृति मूर्ति थी। पुलकते कितने नृप नंद थे।
विपुल सुन्दर-वंदनवार से। सदन द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते व्रज-सद्म-समूह के। वदन में दसनावलि थी लसी।८।६ ७

२ परन्तु वे पादप में प्रसून में फलों दलों बेलि लता-समूह में।
सरोवरों में सरि में सुमेरु में खगों मृगों में वन में निकुंज में।
बसी हुई एक निगूढ खिन्नता विलोकते थे निज सूक्ष्म दृष्टि से।
शनैः शनैः जो बहु गुप्त रीति से रही बढ़ाती उर की विरक्ति को।
६।१०७ १०८

एकान्तता एवं खिन्नता का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए गंभीर एवं नीरव प्रकृति की झांकी अंकित की जाती है और आनंद, उल्लास, उमंग, उत्साह आदि का वातावरण प्रस्तुत करने से लिए पूर्ण-विकसित एवं उल्लसित प्रकृति की मनोरम झांकी अंकित की जाती है। 'प्रियप्रवास' में कवि हरिऔध ने दोनों प्रकार के वातावरणों की सृष्टि के लिए प्रकृति के गंभीर एवं विकसित दोनों रूपों का अत्यन्त भव्यता, उज्ज्वलता एवं सजीवता के साथ चित्रण किया है। यहाँ तृतीय सर्ग के आरम्भ में सुनसान निशीथ का अत्यंत नीरवता, निश्चलता, शान्ति एवं विकटता से युक्त प्रलयकाल जैसा वर्णन एक विषाद, शोक एवं खिन्नता के वातावरण की सृष्टि कर रहा है।[1] क्योंकि इस क्षण प्रकृति की नीरवता एवं विषादमयी स्थिति की भाँति नंद-निकेतन में नंद और यशोदा भी विषाद एवं खिन्नता से परिपूर्ण हैं और सारी व्रजभूमि भी शोक में लीन होकर मौन बनी हुई है। इसी तरह कृष्ण के गमन की वेला के समय व्याप्त उदासी, खिन्नता एवं शोक के वातावरण की सृष्टि के लिए कवि ने पंचम सर्ग के प्रारम्भ में यमुना की तरंगों में व्यथाओं का उठना, पवन का शोक में कंपित होकर बहना, वृक्षों और रात्रि का ओस के रूप में आँसू बहाना, शोक के कारण वृक्षों का फूलों को गिराना, यमुना के जल का नीलिमा के रूप में शोक से परिपूर्ण होना आदि लिखा है[2] और बताया है कि भौंरे भी भ्रमित से होकर कुंजों से निकलकर घूम रहे थे तथा कुमुदिनी भी किसी खोटी-विरह-घड़ी को सामने देखकर कान्ति-हीन एवं मलीन होती हुई अवनत मुखी हो रही थी।[3] इसी तरह कवि ने राधा जी की तपोवन जैसी सुरम्य एवं शान्त वाटिका के सात्विक वातावरण का निर्माण करने के लिए वहाँ वसंत में भी

---

१. समय था सुनसान निशीथ का। अटल भूतल में तम-राज्य था।
प्रलयकाल समान प्रसुप्त हो। प्रकृति निश्चल, नीरव, शांत थी।

+ + + +

इस तमोमय मौन निशीथ की। सहज-नीरवता क्षिति-व्यापिनी।
कलुषिता व्रज की महि के लिए। तनिक थी न विरामप्रदायिनी।३।१-११

२. प्रियप्रवास ५।१-१०

३. सारा नीला सलिल सरि का शोक छाया पगा था।
कजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानों खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना। ५।१०

पुष्पों का शान्ति सहित विकसित होना, भौंरों का शान्ति सहित उड़ना तथा नीरवता, संयम एवं शान्ति के साथ मकरंद पान करना, पक्षियों का संयम पूर्वक पादपों पर विराजना, कोकिल का वहाँ कभी न कूकना आदि लिखा है।[1] अतः कवि ने 'प्रियप्रवास' में कितने ही स्थलों पर अतीव सुन्दर एवं मनोमोहक वातावरण की सृष्टि की है तथा आगामी वर्णनों के अनुकूल प्रकृति के गंभीर एवं प्रसन्न रूप का चित्रण किया है। ये सभी वर्णन कवि के कला-चातुर्य एवं भाव निपुणता के द्योतक हैं।

रहस्यात्मक रूप में—प्रायः कविजन उस विश्वव्यापक विराट् सत्ता की ओर संकेत करने के लिए प्रकृति के कण-कण में उसकी स्थिति का होना बताया करते हैं और एक रहस्यात्मक ढंग से उस व्याप्त सत्ता की ओर संकेत किया करते हैं। वह अलक्ष्य शक्ति अत्यन्त गूढ़, रहस्यमयी एवं अज्ञात है। उसकी खोज में उत्सुक कवि जब प्रकृति की ओर अपनी रहस्यमयी दृष्टि डालता है और उसके कण-कण में व्याप्त उस विराट् सत्ता को देखने-दिखाने की बात करता है, वहीं प्रकृति के रहस्यात्मक रूप का चित्रण होता है। परन्तु कवि हरिऔध तो स्वभाव से ही प्रकृति की मनोरम छटा में व्याप्त विराट् सत्ता का दर्शन करने वाले हैं। वे एक जिज्ञासु एवं उत्सुक कवि की तरह उस सत्ता को कहीं खोजते नहीं फिरते अपितु उन्हें तो खिले हुए प्रसून-वृन्द, मधुर गुंजन युक्त भौंरे, नदियों के मधुर कल-कल, चन्द्र-ज्योत्स्ना, पक्षियों के मधुर कलरव आदि में सर्वत्र उस विराट् सत्ता का आभास मिलता रहता था और प्रकृति के इन सुरम्य पदार्थों को देख-देखकर वे प्रायः उन्मत्त-प्राय होते रहते थे।[2] इसी कारण प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन में वे कभी लिप्त नहीं हुए, अपितु उसके प्रत्यक्ष रूप-सौंदर्य की अनुपम छवि पर अनुरक्त होकर सदैव उसकी रूप माधुरी का वर्णन करते रहे। अतः 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के रहस्यात्मक रूप को देखने की चेष्टा करना व्यर्थ है।

प्रतीकात्मक रूप में—कभी-कभी प्रकृति के उपादानों का प्रयोग किसी भाव, किसी परिस्थिति या किसी अवस्था के द्योतकों के रूप में किया जाता है। इस प्रयोग में बाह्य एवं आन्तरिक साम्य का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कहीं-कहीं तो बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य अत्यंत प्रभावशाली एवं मार्मिक होता है। अतः बाह्य साधर्म्य या सादृश्य के अत्यन्त

१ प्रियप्रवास १६।२३–३१
२ महाकवि हरिऔध, पृ० २५

अल्प रहने पर या न रहने पर भी जहाँ आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य को लेकर प्रकृति के उपादानों का सन्निवेश उपमान रूप में किया जाता है वहाँ प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप के दर्शन होते हैं। जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता आदि के लिए उषा, प्रभात या प्रकाश का उल्लेख होना; यौवन के लिए मधुकाल, बसंत आदि का वर्णन होना; प्रिया के स्थान पर मुकुल; प्रेमी के स्थान पर भ्रमर; विषाद या शोक के स्थान पर अंधकार, संध्या या पतझड़; निराशा के लिए प्रलय-घटा आदि और आकुलता या क्षोभ के लिए झंझा, तूफान आदि का प्रयोग होता है। इस प्रणाली का प्रचार छायावाद की कविताओं का प्रचलन होने के उपरान्त अधिक हुआ है। इसमे पूर्व यहाँ यह प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा मे मिलता है। जहाँ कहीं मिलता है, वह रूपकातिशयोक्ति अलंकार के रूप में मिलता है, जिसमें उपमेय के स्थान पर उसका प्रतीक उपमान प्रयुक्त होकर चमत्कार उत्पन्न किया करता है। जैसे संध्या की अरुणिमा के उपरान्त कालिमा के अचानक घिर आने का वर्णन करके कवि ने व्रजभूमि से आनंदोल्लास के समाप्त होने तथा शोक एवं निराशा के घिर आने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस भयंकर अंधकार मे उनका शशि वह कला-युक्त होकर भी विलुप्त होता चला जा रहा था।[1] इस वर्णन में 'शशि' श्रीकृष्ण का प्रतीक और 'कलायें' उनके गुणों की प्रतीक के रूप में वर्णित है। इसलिए 'प्रियप्रवास' में यद्यपि प्रकृति प्रतीकात्मक रूप में अत्यंत अल्प मात्रा में मिलती है फिर भी जहाँ मिलती है, वहाँ छायावादी कवियों जैसी आन्तरिक प्रभाव-साम्य जैसी योजनायें नहीं दिखाई देतीं।

अलंकार-योजना के रूप में—प्रकृति का प्रयोग अलंकार-योजना के लिए तो सर्वाधिक मिलता है। सम्पूर्ण प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य में प्राकृतिक उपमानों के द्वारा ही सौंदर्य, माधुर्य, औदार्य आदि के चित्र अंकित किए गए हैं, अंगों की सुकुमारता, सजलता, मसृणता, कठोरता आदि का उल्लेख किया गया है और इन्हीं के साधर्म्य एवं सादृश्य द्वारा मनोभावों का मानवीकरण करते हुए उनके रहस्यों का उद्घाटन किया गया है। प्रायः सभी सौन्दर्य-चित्र प्रकृति के उपमानों द्वारा ही काव्य में चित्रित किये जाते

---

१. वह भयंकर थी वह यामिनी।
बिलपते व्रज भूतल के लिए।
तिमिर में जिसके उसका शशी।
वह कला-युत होकर खो चला।।२।६१

रहे है। इसलिए प्रकृति के कुछ उपमान तो इतने रूढि एव परम्परागत हो गये हैं कि आदिकाल से लेकर अद्यावधि उनका ही प्रयोग देखा जाता है। 'प्रियप्रवास' मे भी कवि ने उसी प्राचीन रूढिवादिता का आश्रय लिया है। परन्तु उन रूढिगत उपमानो का प्रयोग भी इतनी सजीवता के साथ किया गया है कि कवि-कौशल कही भी विशृखलित एव स्खलित सा नही दिखाई देता। उदाहरण के लिए राधा के सौन्दर्य का चित्र अकित करते हुए कवि ने उस मुग्धा के सौरभ से सम्पन्न रूप के उद्यान की प्रफुल्ल कली, राकेन्दु जैसे मुख वाली, मृगदृगी, सोने की कमनीय कान्ति जैसी अग की कान्ति वाली सरोज जैसे चरण वाली, बिम्बा और विद्रुम को भी अपने रक्तिम ओष्ठो से अकान्त करने वाली, हर्षोत्फुल्ल मुखारविंद युक्त आदि कहा है।[1] इस सौंदर्य चित्र में प्रकृति के विभिन्न सुन्दर एव परम्परागत उपमानों का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य की सुरम्य झाँकी अकित करते हुए कवि ने उन्हे जलद-तन, फूल श्यामकमल जैसे गात वाले, वृषभ-वर जैसे सजीले कधों से युक्त, करभकर जैसी बाहु वाले, कम्बु कठ से सुशोभित, नारो मध्य मृगेन्द्र की भाँति सुसज्जित आदि कहा है।[2] इस वर्णन मे भी *प्रकृति के रूढिगत उपमानो को कवि ने बडी सजीवता के साथ सजाकर उन्हें* उचित रूप मे अकित किया है। इसी तरह प्रकृति से सुन्दर-सुन्दर उदाहरण लेकर भी कवि ने अपनी बातो को अत्यत भव्य रूप मे प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए जैसे वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर स्वाति के सलिल कण पाकर परम तृषिता चातकी थोडी सी शान्ति प्राप्त करती है, वैसे ही अपने पुत्र का दो दिनो मे आना श्रवण करके मूर्छित एव अचेत होती हुई यशोदा जी थोडी आश्वासिता सी दिखाई देने लगी।[3] इस तरह उदाहरणो, रूपको, समानताओ, असमानताओ आदि के लिए कवि ने प्रकृति का प्रयोग करते हुए अत्यत पुष्ट एव औचित्यपूर्ण अलकार-योजना की है। कही-कही सागरूपक बनाने के लिए कवि ने जो प्रकृति के सुरम्य उपादानो का प्रयोग किया है, वह कवि के

---

१. प्रियप्रवास ४।३-८

२. वही ६।५६-६०

३ जैसे स्वाती-सलिल-कण या वृष्टि का काल बीते।
थोडी सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
वैसे आना श्रवण करके पुत्र का दो दिनों मे।
सज्ञा खोती यशुमति हुईं स्वल्प आश्वासिता सी। ७।६२

अनुपम कौशल के साथ-साथ उसके सूक्ष्म-निरीक्षण का भी परिचायक है। जैसे हृदय में उद्यान का आरोप करते हुए कवि ने कल्पना को क्यारियाँ, भावों को कुसुम, उत्साहों को विपुल वृक्ष, सच्चिंता को वापिका, उमंगों को कलियाँ, वासना को बेलें, सद्वांछा को पक्षी आदि बताया है।[१] यहाँ कवि ने अलंकार-योजना के लिए प्रकृति के उपमानों का प्रयोग करते हुए मनोभावों के भी अत्यंत सजीव एवं मार्मिक चित्र अंकित किए हैं जिनसे पाठक हृदयगत भावों, कल्पनाओं, उमंगों आदि के बारे में बड़ी सुगमता से समझ सकता है, क्योंकि ये सभी मनोभाव बिम्ब रूप में उसके सामने अंकित हो जाते हैं।

मानवीकरण रूप में—मानवीकरण से तात्पर्य अंग्रेजी के परसोनीफिकेशन से है। इसमें प्रकृति के अन्दर मानव-व्यापारों का आरोप करके उसकी गति-विधियों का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि इस प्रणाली का श्रीगणेश ऋग्वेद में विद्यमान है, क्योंकि वहाँ अग्नि, पर्जन्य, पूषण, सोम, सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थों की नराकार कल्पना करते हुए उन्हें अनेक भुजा, अनेक मुख, अनेक जिह्वा आदि से युक्त माना है और मानवों की भाँति ही हव्य पदार्थों का सेवन करते हुए अंकित किया गया है। कालान्तर में इस प्रणाली का प्रचार कम होता गया। परन्तु आधुनिक युग में प्रकृति-चित्रण की यह प्रणाली सर्वाधिक प्रचलित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक कवि प्रकृति को एक अखंड चेतना-शक्ति मानते है। इसी कारण उन्हें प्रकृति में सर्वत्र चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और वे मानवोचित व्यापारों से युक्त देखते हुए अपने काव्यों में उसे स्थान देते है। हरिऔध जी ने भी प्रकृति पर मानव-व्यापारों का आरोप करते हुए 'प्रियप्रवास' में कितने ही स्थलों पर उसका वर्णन किया है। व्रज के रमणीक गोवर्द्धन पर्वत को अपना सहर्ष ऊँचा शीश करके सर्वोच्चता के दर्प एवं गर्व से परिपूर्ण एक गिरिराज या पर्वतों के सम्राट् की भाँति अंकित किया है, जो बड़ी क्षमाशीलता, निर्भीकता, उच्चता, शास्ता-समा-भंगिमा आदि के साथ अपने निम्नस्थ भू-भाग पर शासन कर रहा है।[२] वृन्दावन में नारंगी के वृक्ष को सोने के कई तमगे लगाये हुए हरे-हरे सजीले वस्त्र पहने हुए बड़े अनूठेपन के साथ खड़ा हुआ अंकित किया है।[3] इसी तरह निम्ब, लीची, दाड़िम, बिल्व, ताल, शाल्मली, मधूक वट

---

१. प्रियप्रवास १०।४८-४६
२. वही ६।१५–२३
३. सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा। हरे सजीले निज वस्त्र को सजे।
बड़े अनूठेपन साथ था खड़ा। महा-रॅंगीला तरु नागरंग का। ६।४०

आदि वृक्षो का वर्णन भी मानवोचित व्यापारो से युक्त करके किया गया है।[1] अत कवि ने प्रकृति मे सर्वत्र चेतना के दर्शन किए हैं और इसी कारण उसे रजनी आँसू बहाती हुई, यमुना शोक प्रकट करती हुई, चन्द्र मुस्कराता हुआ, सूर्य मारे लाज के छिपता हुआ, वृक्ष और लतायें रुदन करते हुए आदि दिखाई दिये हैं। निस्सदेह 'प्रियप्रवास' का मानवीकरण रूप मे प्रकृति-चित्रण अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है।

लोक-शिक्षा रूप में—प्राकृतिक परिवर्तनो एव प्रकृति के उत्थान व पतन आदि के द्वारा जनसाधारण को शिक्षा देने का कार्य प्राय सभी महाकवियो ने किया है। प्रकृति के द्वारा जितनी सरलता एव स्पष्टता से किसी को उपदेश दिया जा सकता है, उतना अन्य किसी द्वारा सभव नहीं, क्योंकि प्रकृति के इन परिवर्तनो को सभी व्यक्ति दिन-रात देखते रहते हैं और मानव-जीवन का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध भी है। इसलिए जो-जो बातें प्रकृति मे दिखाई देती हैं, उन्हे बताकर कविजन मानव को सचेत एव सावधान किया करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का वर्षा-वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है, क्योकि वहाँ महाकवि गोस्वामी ने वर्षाकालीन विभिन्न दशाओ, परिस्थितियो एव प्राकृतिक परिवर्तनो द्वारा सर्वसाधारण को बडी ही सरलता से सदुपदेश दिये हैं।[2] यही बात शरद ऋतु के वर्णन मे भी है। वहाँ पर भी कवि ने "जल सकोच विकल भईं मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना" अथवा "चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी।"[3] आदि कहकर पर्याप्त उपदेश दिये हैं। कविवर हरिऔध जी ने भी लोक-शिक्षा के लिए प्रकृति का उपयोग किया है। जैसे, बेर का वृक्ष अपने काँटों से स्वय विदीर्ण होकर इस बात की ओर सकेत कर रहा था कि बुरे अग वाले प्राय. अत्यन्त कष्टदायक होते हैं।[4] इसी तरह आँवले का वृक्ष कच्चे फल स लदकर तथा अपने चचल पत्तों को हिलाता हुआ इस बात की सूचना दे रहा था कि चचल स्वभाव वाले उतावले व्यक्तियो की करतूतें ऐसी ही स्थिरता विहीन होती हैं और उन्हे बहुधा अपनी चचल-करतूतो के कारण परिपक्व फल भी

१ प्रियप्रवास ६।३०-४८

२ किष्किधा काड दोहा १४ से १५ तक

३ वही—दोहा १६ से १७ तक

४ कु-अगजों को बहु-कष्टदायिता। बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्व-कटकों से स्वयमेव सर्वदा। विदारिता हो बदरी-द्रुमावली। ६।४३

नहीं मिलता अथवा पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं होती।[1] इसी तरह की बहुत सी उपदेशात्मक एवं शिक्षाप्रद बातों को कवि ने प्रकृति के माध्यम द्वारा व्यक्त किया है। कवि का यह प्रकृति-चित्रण भी विशद एवं सरस है और सर्वसाधारण के जीवन को उन्नत एवं विशाल बनाने की चेष्टा से परिपूर्ण है। कवि का प्रमुख उद्देश्य भी यही है कि प्रकृति की विभिन्न शिक्षाप्रद बातों का उद्घाटन करके जनसाधारण को अपनी भूलों, त्रुटियों एवं दुर्बलताओं से अवगत कराया जाय और नैतिकता एवं सदाचार के मार्ग पर अग्रसर किया जाय। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति में यहाँ सर्वथा सचेत एवं सावधान दिखाई देता है।

दूती रूप में—प्रकृति-चित्रण की यह परिपाटी भी अत्यंत प्राचीन है। कवि-कुल-गुरु कालिदास का 'मेघदूत' इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसी के अनुकरण पर आगे चलकर धोयिक का पवनदूत तथा हंसदूत, पदांकदूत, कोकिल-दूत आदि कितने ही काव्य लिखे गये। इनके अतिरिक्त काग, कबूतर, हंस, बानर, कोकिल, भ्रमर, आदि को दूत बनाकर अपने प्रियतम या अपनी प्रियतमा के पास संदेश भेजने की प्रथा का उल्लेख भी संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के प्राचीन काव्यों में मिल जाता है। हरिऔध जी ने भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते हुए पवन द्वारा राधा का संदेश कृष्णजी के पास भेजने का वर्णन किया है। वह पहले तो उस प्रातःकालीन शीतल पवन पर रुष्ट होती हैं, क्योंकि वह विरहिणी राधा को व्यथित बनाती हुई उसके सम्पूर्ण शरीर में आग सी लगा देती है। परन्तु फिर राधा उसी शीतल पवन को अपना संदेशा लेकर मधुवन में श्रीकृष्णजी के पास भेजती है, उसकी बड़ी प्रशंसा करती है और जैसे दूत या दूती को सिखाया-पढ़ाया जाता है, उसी तरह खूब सिखा-पढ़ा कर एवं नाना प्रकार की युक्तियाँ समझाकर अपना संदेश ले जाने की विनय करती है। प्रायः होता भी यही है कि संसार में जिनसे काम निकालना होता है, उसकी चापलूसी भी की जाती है। इसीलिए राधा यहाँ पवन की चापलूसी करती हुई यही कहती है कि "तू सभी स्थानों पर जाती रहती है,। तू बड़ी वेगवाली है,। तू बड़ी ही सीधी, सरल हृदयवाली तथा तापों को नष्ट करने वाली है। मुझे तेरा बड़ा भरोसा है। अरी बहिन!

---

१. दिखा फलों की बहुधा अपक्वता। स्वपत्तियों की स्थिरता-विहीनता। बता रहा था चल चित्तवृत्ति के। उतावलों की करतूत आँवला ॥९।३३

जैसे बन वैसे मेरी बिगड़ी हुई बात को बना दे।"[1] इस तरह कवि ने इस पवन को दूती के रूप में चित्रित करते हुए उसे मथुरा में श्रीकृष्ण के पास विरहिणी राधा का विरह-जन्य वेदना से भरा हुआ संदेश लेकर जाता हुआ अंकित किया है।[2] इतना ही नहीं कवि ने आगे चलकर कोयल को भी दूती बनाकर भेजने का वर्णन किया है। एक विरहिणी गोपी कुंज में कूकती हुई कोकिल के पास आकर यही कहती है कि तू मुझे अपनी कूक द्वारा क्यों व्यथित कर रही है। किन्तु जान पड़ता है कि तू भी मेरे प्रियतम कृष्ण के विरह के कारण मलिन कातर एवं दुखी होकर अधीर स्वर में बोल रही है। इसलिए तू तुरन्त मथुरा चली जा और अपने इस 'स्व-वधी-स्वर' को प्रियतम को जाकर सुना, जिससे व भी वियोग की कठोरता, व्यापकता एवं गंभीरता से परिचित हो जायँ।"[3] इसी तरह वह विरहिणी आगे चलकर यमुना के किनारे खड़ी होकर अत्यंत व्यथित होती हुई यमुना को भी श्रीकृष्ण के समीप अपनी व्यथापूर्ण संदेश लेकर जाने का आग्रह करती है। वह कहती है कि "तू बड़ी ही तेज बहती चली जा रही है। अरी यमुने! देख, तेरे तट पर आकर मेरे पति कृष्ण बड़े ही भावों में युक्त होकर नित्य प्रति घूमा करते हैं। एक दिन उनको प्राप्त करके अपनी कल-कल ध्वनि द्वारा मेरी सारी व्यथाओं को बड़े प्रेम के साथ जो मैं उन्हें सुना देना।"[4] इस तरह कवि ने

---

१ तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे।६।३५

२ प्रियप्रवास ६।१३-८२

३ नहीं-नहीं हैं मुझको बना रहो। नितान्त मेरे स्वर की अधीरता।
वियोग से है प्रिय के तुझे मिली। अवाह्विता, कातरता, मलीनता।
अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा। सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हों जिससे वियोग की। कठोरता, व्यापकता, गंभीरता।
—१५।९९-१००

४ तव तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे।
पुलकित बन भावों में पगे घूमते हैं।
अक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना।
कल-ध्वनि द्वारा सर्व मेरी व्यथायें। १५।१२४

पवन, कोकिल, यमुना आदि के द्वारा संदेश भेजने का वर्णन करते हुए प्रकृति के दूती रूप का अत्यंत भव्य एवं चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

सारांश यह है कि हरिऔध जी ने प्रकृति-चित्रण की समस्त प्रचलित पद्धतियों का प्रयोग करते हुए प्रकृति के नाना रूपों की भव्य झाँकी अंकित की है, उसके चेतन एवं अचेतन विभिन्न पदार्थों का दिग्दर्शन कराया है और उसके मानवोचित व्यापारों, चेष्टाओं, हलचलों आदि का उल्लेख करते हुए प्रकृति की अन्तर्वाह्य झलक दिखाने की सुन्दर चेष्टा की है। परन्तु कवि का यह प्रकृति-चित्रण परम्परागत है, उसमें हृदय की तल्लीनता, स्वाभाविकता एवं भावुकता का अभाव है। ऐसा कहीं नहीं जान पड़ता कि कवि प्रकृति में रम गया हो। वह प्रकृति की झाँकी प्रायः कल्पना के सहारे ही अंकित करता है, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं दिखाई देता, अन्यथा वह व्रज की मनोरम छटा अंकित करते हुए वहाँ के प्रसिद्ध पौधे करील को न भूल जाता। रसखान कवि तो "कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारी" कहकर करील के ऊपर इतने लट्टू दिखाई देते हैं, परन्तु हरिऔध वृन्दावन की वनस्थली में लौंग-इलायची के वृक्षों को तो देख लेते हैं, परन्तु वहाँ पैंड़-पैंड़ पर खड़े करील उन्हें दिखाई नहीं देते। ऐसा जान पड़ता है कि कवि कभी व्रजभूमि में नहीं पधारे थे। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने आगे चलकर अपने इस दोष का परिमार्जन कर लिया है और "करील हैं कामद कल्प-वृक्ष से"[1] कह कर करील को कल्प-वृक्ष के समान बताते हुए व्रज में उसकी उपस्थिति का वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त कवि ने "काँटे में कमनीय कुंज कृति में क्या है न कोई कमी"[2] कहकर कमल में भी काँटे उगा दिये हैं, जबकि कमल प्रायः कटंक हीन ही होता है और गुलाब में काँटे होते हैं। कवि का यह कथन भी उसके प्रकृति-संबंधी ज्ञान की अपूर्णता का द्योतक है। अतः यही जान पड़ता है कि कवि ने तत्कालीन प्रचलित पद्धतियों का पालन करते हुए प्रकृति के विभिन्न रूपों का वर्णन तो अवश्य किया है, परन्तु वे प्रकृति के अन्तःस्थल में रम नहीं सके हैं। उन्हें प्रकृति और मानव की चेष्टाओं में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव तो दिखाई दिए हैं, परन्तु उन भावों के वर्णन में कवि उतना सफल नहीं दिखाई देता, जितने कि प्रसाद, पंत आदि छायावादी कवि आगे चलकर सफल हुए हैं। फिर भी कवि ने प्रकृति के विराट रूप का दर्शन

---

१. प्रियप्रवास १५।६५
२. वही ४।२०

करते हुए उसे अपनी भावनाओं का आवरण पहनाकर अत्यन्त विशद एवं व्यापक रूप में चित्रित किया है और उनका यह चित्रण आगामी छायावादी कवियों के लिए अधिकाधिक मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है।

(४) युग-जीवन का चित्रण—हरिऔध जी ने अपने युग की परिस्थितियों मान्यताओं एवं आन्दोलनों का भली प्रकार अध्ययन किया था। वे एक जागरूक कलाकार की भाँति उन सभी हलचलों को अपनी कला के माध्यम से समय-समय पर व्यक्त भी करते रहते थे। सरस्वती आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनायें इसकी ज्वलन्त प्रमाण हैं, जिनके संग्रह चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि के नाम से आगे चलकर प्रकाशित हुए, जिन्हें पढ़कर एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है कि कवि को अपने युग की दुर्बलताओं, विषमताओं, विभीषिकाओं एवं त्रुटियों का कितना पता है और वह कितना सजग एवं सचेत होकर उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। उस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवाद का बोलबाला था। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफीकल सोसाइटी आदि संस्थायें जन-साधारण के हृदयों में पारस्परिक मनोमालिन्य, ऊँच-नीच, भेद-भाव, छूआ-छूत आदि की भावनाओं को दूर करके सहृदयता, एकता, सेवा, समानता, मानवता, विश्व-बंधुत्व आदि का प्रचार कर रही थीं। युग के इन समस्त सांस्कृतिक विचारों का उल्लेख विस्तार-पूर्वक आगामी अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त है कि कवि हरिऔध भी युग के इन विचारों से पूर्णतया प्रभावित हुए थे। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' में स्थान स्थान पर इन विचारों की झाँकी विद्यमान है। इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन का ऐसा चित्र अंकित किया है, जिसमें वे प्राणिमात्र से प्रेम करने वाले, अपने से छोटे या बड़े सभी खिन्न एवं दुःखी जनों की सेवा करने वाले, समाज में होने वाले कलह या शुष्क विवादों को मिटाने वाले, किसी बली द्वारा निर्बल को सताते हुए देखकर उस निर्बल की रक्षा करने वाले, सभी से विनम्रता के साथ मिलने वाले और सभी का कल्याण चाहने वाले दिखलाये गये हैं।[१] इस युग में सबसे

---

१ बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी। छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यन्त प्यार दिखला मिलते सबों से। वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों के।
× × × ×
रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की। सेवा सदैव करते निजहस्त से थे।
ऐसा निकेत ब्रज में न मुझे दिखाया। कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।।
१२।८०-८७

अधिक विश्व-बंधुत्व अथवा विश्व-प्रेम के बारे में सभी संस्थाओं ने प्रचार किया था। सच पूछा जाय तो विश्व-प्रेम का सच्चा आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही 'प्रियप्रवास' का निर्माण हुआ है। यहाँ श्रीकृष्ण स्वकीय कार्यो द्वारा विश्व-प्रेम एवं विश्व-बंधुत्व का ही सच्चा आदर्श उपस्थित करते हैं।[१] राधा जी भी विश्व-प्रेम में लीन होकर संसार के सभी प्राणियों एवं पदार्थों में श्रीकृष्ण के रूप की झाँकी देखती हैं और उन्हें हृदय से प्यार करती हैं।[२] इसके अतिरिक्त इस युग में लोक-हित एवं लोक-सेवा की ओर भी अधिक झुकाव रहा। सभी धार्मिक एवं राजनीतिक संस्थायें लोकहित एवं लोक-सेवा को महत्व देते हुए प्राणियों में समता, एकता, संगठन आदि का प्रचार करती थी। 'प्रियप्रवास' में भी कवि ने सबसे अधिक महत्व इस लोकहित को दिया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण दिन रात जगत-हित में ऐसे लीन रहते है कि उनके सामने समस्त स्वार्थ एवं विपुल सुख भी उन्हें तुच्छ जान पड़ते हैं और वे हृदय की सैकड़ों लिप्साओं से भरी हुई लालसाओं को भी योगियों के समान दमन करके सदैव लोक-सेवा में लगे रहते हैं।[३] यही बात राधा जी के अंतर्गत भी दिखाई देती है। वे भी दिनरात व्रज के संतप्त एवं व्यथित जनों को सांत्वना देने के लिए नाना प्रकार के सेवा-कार्यो में लीन रही आती हैं और अपने सेवा-भाव एवं लोकहित के कारण ही उन्हें समस्त व्रज देवी की तरह पूज्य समझता है।[४]

---

१. वे जी से हैं अवनिजन के प्राणियों के हितैषी।
   प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा। १४।२१

२. पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबों में।
   जो प्यारे को अमित रँग औ रूप में देखती हूँ।
   तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
   यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा। १६।१०५

३. स्वार्थों को औ विपुल सुख को तुच्छ देते बना हैं।
   जो आजाता जगत-हित है सामने लोचनों के।
   हैं योगी सा दमन करते लोक-सेवा निमित्त।
   लिप्साओं से भरित उर की सैकड़ों लालसायें। १४।२२

४. संलग्ना हो विविध कितने सांत्वना कार्य में भी।
   वे सेवा थीं सतत करतीं वृद्ध-रोगी-जनों की।
   दीनों, हीनों, निबल विधवा आदि को मानती थीं।
   पूजी जाती व्रज-अवनि में देवियों सी अतः थीं। १७।४६

इस युग में सबसे अधिक धार्मिक संकीर्णता को दूर करके उदारता, विशालता, सभी धर्मों के प्रति प्रेम एवं सहिष्णुता का प्रचार मिलता है। इस प्रचार के कारण एक ओर तो धार्मिक मान्यताओं में पर्याप्त परिवर्तन हुआ और दूसरी ओर अंधविश्वास एवं अंध-परम्पराओं का उच्छेद करके उनके स्थान पर नवीन युग के नवीन विश्वासों, नई मान्यताओं, पूजा-आराधना के नये-नये साधनों एवं सर्वत्र एक ही ईश्वर के दर्शन की भावना को महत्व देने के प्रयत्न भी हुए। इस प्रकार के प्रचार एवं इन प्रयत्नों के कारण जनसाधारण के विश्वासों में भी एक नवीन क्रान्ति की लहर दौड़ गई थी, व अपनी प्राचीन मान्यताओं को छोड़कर बहुत कुछ अंशों में नवीन विचारों में सहमत होने लग थे और इसी कारण भक्ति-भावना, आराधना, पूजा आदि की पद्धतियों में भी विचारों की दृष्टि से परिवर्तन आने लगा था। 'प्रियप्रवास' में कवि ने युग की इसी धार्मिक मनोवृत्ति की झलक दिखाते हुए पहले तो सर्वत्र व्याप्त एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने का उल्लेख किया है, पुन: नये ढंग से नवधा भक्ति का निरूपण किया है, जिसमें श्रवण, कीर्तन, वंदन, स्मरण आदि भक्ति के प्राचीन साधनों को नया रूप देते हुए सच्छास्त्रों एवं दीन-दुखी प्राणियों की पुकार सुनने को श्रवण, मानवोचित दिव्यगुणों का गायन करना ही कीर्तन, विद्वान् तेजस्वी पुरुषों के सम्मुख नत-मस्तक होना ही वंदन तथा अच्छे अच्छे कार्यों एवं दूसरों के हृदय की पीड़ा को याद करना ही स्मरण नाम की भक्ति बताया है।[1]

इसके साथ ही कवि ने आधुनिक युग के तत्कालीन राजनीतिक जीवन की ओर भी संकेत किया है। इस युग में हिंसा को निंद्य कर्म कहकर अहिंसा को अत्यधिक महत्व दिया गया था और मनुष्य क्या, किसी चींटी तक का वध करना बुरा माना जाता था, परन्तु कवि पूर्णतया इस विचार से सहमत नहीं है। उनकी दृष्टि में अहिंसा का पालन करना वैसे तो ठीक है, परन्तु जब कोई प्राणी समाज को पीड़ा पहुँचाये, धर्म में विघ्न उपस्थित करे, मानवों का द्रोही हो अथवा कुकर्मों द्वारा जनता को कष्ट दे रहा हो तो ऐसे प्राणी को क्षमा न करके उसका वध करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे प्राणी के वध में कोई पाप नहीं लगता, अपितु इससे जनता का कल्याण होता है। इसी कारण कवि ने अहिंसा का पालन करके हाथ पर हाथ रखकर बैठना या चाँटा मारने वाले के सामने अपना दूसरा भी गाल कर देना उचित

---

१. 'प्रियप्रवास' १६।११२-१२६

नहीं समझा है; बल्कि 'शठं शाठ्यं समाचरेत्' के सिद्धान्त को जन-कल्याण-कारी माना है।[1]

उक्त सभी आधारों पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' में तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों, हलचलों एवं मान्यताओं की पर्याप्त झलक विद्यमान है और कवि ने अपने युग के नवीन विचारों को प्राचीन पौराणिक कथा के अंतर्गत भरकर पुरातन चरित्र-नायक एवं नायिका को अलौकिक गुणों एवं दिव्य कार्यों में ओत-प्रोत न दिखाकर मानवीय गुणों से सुशोभित दिखाया है, जिसमें आधुनिक युग की बौद्धिकता, अंध-परम्परा का उच्छेद, प्राचीन रूढ़ियों का विनाश एवं नवीनता के प्रति उत्कट लालसा विद्यमान है। अपने इन युग-परिवर्तनकारी विचारों के कारण ही 'प्रियप्रवास' का हिन्दी-साहित्य में अत्यंत महत्व है। इस महाकाव्य ने ही सर्वप्रथम नवीनता की घोषणा करके हिन्दी के प्रमुख कवियों को युग के परिवर्तनशील विचारों को अपनाकर महाकाव्य के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए आह्वान किया है और अपने इन युगान्तरकारी विचारों को अपनाने के कारण ही 'प्रियप्रवास' कवि का प्रारंभिक प्रयास होते हुए भी महाकाव्यों की श्रेणी में गणना करने योग्य है।

(५) भाव एवं रस-व्यंजना—'प्रियप्रवास' में विप्रलम्भ शृंगार की सबसे अधिक व्यंजना हुई है। साधारणतया शृंगार रस के दो भेद माने गये हैं—विप्रलम्भ और संभोग। विप्रलम्भ शृंगार वह कहलाता है, जहाँ नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ रहता है, किन्तु परस्पर मिलन नहीं हो पाता, इसे वियोग शृंगार भी कहते हैं और संभोग शृंगार वह कहलाता है, जो नायक-नायिका को परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि की अनुभूति प्रदान करता है। इसे संयोग शृंगार भी कहते हैं। विप्रलम्भ शृंगार के मुख्यतया चार भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग-विप्रलम्भ-शृंगार में अभिप्राय रूप-सौंदर्य आदि के श्रवण या दर्शन से परस्पर

---

१. अवश्य हिंसा अति निंद्य कर्म है। तथापि कर्त्तव्य-प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से। वसुंधरा में पनपें न पातकी।
समाज उत्पीड़क धर्म-विप्लवी। स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुंज का। न है क्षमा-योग्य वरंच वध्य है।
१३।७८-८०

अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा से है जो कि उनके समागम के पहले उत्पन्न होती है। इस पूर्वराग को तीन प्रकार का माना गया है—नीलीराग, कुसुम्भ-राग और मंजिष्ठा-राग। जो अनुराग बाहर तो दिखाई देता नहीं, किन्तु हृदय मे कूट-कूट कर भरा रहता है उसे 'नीलीराग' कहते हैं। जिस अनुराग में बाहरी चमक-दमक तो पर्याप्त हो, किन्तु वह हृदय मे न हो, उसे 'कुसुम्भ-राग' कहते हैं और जो राग हृदय म भी हो तथा बाहरी दिखावे मे भी आ जाये उसे मंजिष्ठा राग कहते है। दूसरे मान-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे अकारण कोप से है जो प्रेमी-प्रेमिका के हृदय मे प्रेम के भरे रहने पर भी किसी कारणवश हो जाता है। तीसरे, प्रवास-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे वियोग मे है, जो किसी कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश नायक के देशान्तर-गमन के कारण होता है और चौथे करुण विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय ऐसे वियोग से है, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका मे से किसी एक के मर जाने पर, किन्तु पुन जीवित हो सकने की अवस्था मे, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकपूर्ण रतिभाव की व्यजना होती है।[१] इन चारो प्रकार के विप्रलम्भ शृगारो म से 'प्रियप्रवास' मे प्रमुख रूप से 'प्रवास' नामक तृतीय प्रकार के दर्शन होते हैं, क्योकि यहाँ पर नायक श्रीकृष्ण के गमन पर राधा, गोपी, यशोदा आदि के हृदय मे उत्पन्न वियोग का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य रस एव भाव भी यथास्थान वर्णित हैं।

सयोग शृङ्गार--'प्रियप्रवास' मे हमे सर्वप्रथम सभोग या सयोग शृगार की मनोरम झांकी मिलती है। मध्याह्नकालीन अरुणिमा ने गोकुल ग्राम की जनता के हृदय को अनुराग की जिस लालिमा से अनुरंजित कर दिया है, उसमे सयोग शृगार की अद्भुत छटा विद्यमान है। उस क्षण सारा गोकुल ग्राम कृष्ण के प्रेम मे लीन होकर उनकी झलकती हुई रूप-माधुरी, छिटकती हुई तन की श्याम आभा, रस बहाती हुई मधुवर्षिणी-मुरलिका, अमृतमयी मधुर मुस्कान, हृदयहारिणी लोचनो की रमणीयता आदि मे विमुग्ध दिखाई देता है। गोकुल ग्राम की सम्पूर्ण जन-मडली तृषित चातक की भाँति अपने घनश्याम की अद्भुत छटा निहारने म मग्न दिखाई देती है, उनके नेत्रो पर पलक नही पड़ते ,उनके शरीर का लाम तक नहीं हिलता और सम्पूर्ण गोपियाँ कृष्ण के सौंदर्य मे ऐसी लीन हो जाती हैं कि वे पत्थर की मूर्ति जैसी बनकर

---

१. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद १८६–२०६

एक टक संयोग रस का पान करती हुई जान पड़ती है।[1] इस तरह हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' के प्रारम्भिक सर्ग में संयोग शृंगार की मार्मिक व्यंजना करते हुए मिलन-सुख का एक ऐसा अद्भुत चित्र अंकित किया है, जो आगामी वियोग शृंगार के लिए पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा है और जिसके कारण वियोग का रंग और भी अधिक गहन-गम्भीर हो गया है।

वात्सल्य—साहित्य-शास्त्र में वात्सल्य को रस न कहकर एक भाव मात्र माना गया है, क्योंकि वहाँ नायक-नायिका-सम्बन्धी रति को तो शृङ्गार रस माना गया है, जबकि देवता, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि से सम्बन्धित रतिभाव या प्रीति को केवल भाव माना गया है।[2] इसी पुत्र विषयक रति को वात्सल्य कहते हैं। परन्तु सूरदास ने इसी पुत्र विषयक रति का इतना मर्मभेदी एवं मनमोहक वर्णन किया है कि वहाँ वात्सल्य भाव मात्र से ऊपर उठकर स्थायी रूप धारण करता हुआ रस की कोटि में पहुँच गया है। हरिऔध जी ने भी 'प्रियप्रवास' में संयोग के उपरान्त वियोग का वर्णन दो रूपों में किया है—(१) वात्सल्य के रूप में तथा (२) विप्रलम्भ शृंगार के रूप में। यहाँ पर सर्वप्रथम कवि ने इस वात्सल्य का अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन किया है। तृतीय सर्ग में नन्द और यशोदा की आशंकाओं के वर्णन में पहले तो इस वात्सल्य का सूक्ष्म भावरूप में ही दर्शन होता है, क्योंकि यहाँ माता यशोदा अपने लाड़ले कुँवर के लिए उसी प्रकार सशंकित एवं व्यथित दिखाई दे रही हैं, जिस प्रकार एक माता शत्रु के समीप जाते हुए अपने पुत्र के बारे में सोचकर होती है। परन्तु यह वात्सल्य सप्तम सर्ग में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ नंद बाबा के अकेले ही मथुरा से लौट कर आने पर यशोदा माता अपने प्राण प्यारे पुत्र कृष्ण के लिए अत्यंत व्याकुल होकर विलाप करती हुई दिखाई देती हैं। यशोदा के उस विलाप में कितनी करुणा, कितनी कसक, कितनी वेदना एवं कितनी टीस भरी हुई है कि उसे

---

१. मुदित गोकुल की जनमंडली। जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी।
निरखने मुख की छबि यों लगी। तृषित-चातक ज्यों घन की घटा।
पलक लोचन की पड़ती न थी। हिल नहीं सकता तन-लोम था।
छवि-रता वनिता सब यों बनीं। उपल निर्मित पुत्तलिका यथा।
१।२६–२७

२. रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः।
काव्य प्रकाश ४।३५

सुनकर पाषाण हृदय भी पिघल जाता है।[1] इतना ही नहीं जिस क्षण उस माता की विलाप-कलाप भरी वह मार्मिक ध्वनि सुनाई पडती है, जहाँ वह अपने अतुल धन, वृद्धता के सहारे, प्राणों के परमप्रिय शोभा के सदन और एक मात्र लाडिले बेटे के लिए रोती-रोती मूर्छित हो जाती है, वहाँ उस माता का वात्सल्य करुणा का रूप धारण करके हठात् पाठकों के हृदय मे शोक, विषाद संताप, अधीरता आदि को जागृत करता हुआ हृदयों मे एक सिहरन सी पैदा कर देता है।[2] उसकी अन्तिम पक्ति 'हा! बेटा हा! हृदय धन धन हा! नेत्र तारे हमारे' मे कितना दुलार कितना प्यार एवं कितना स्नेह भरा हुआ है कि मानो माता का हृदय ही शब्दो के रूप मे प्रकट हो गया हो। इस वात्सल्य के मनोहारी रूप का दशम सर्ग म और भी गभीरता क साथ देखा जा सकता है, जहाँ यशोदा माता उद्धव क सम्मुख अपने हृदयोदधि का दिग्दर्शन कराती हुई अपनी व्यथा-कथा सुनाती हैं। अपने लाडले कुँवर का मार्ग देखते-देखते और रोते-रोते इस दुखिया मा की आँखो की ज्योति जाती रही है और सवाद सुनते-सुनते उसके श्रवण-पुट पूर्ण हो चुके हैं, परन्तु फिर भी उसे अपने लाल को देखने की उत्कट अभिलाषा है और उसकी प्यारी-प्यारी मधुर बातें सुनने की तीव्र उत्कंठा है।[3] वह यहाँ अपने प्रिय-पुत्र के स्वभाव की सरलता, क्रीडाओं की मनोहारिता, बोलने की मधुरता, खान-पान की रुचि, राधा एवं गोपियों के प्रेम की सरसता, अपने दुर्भाग्य की कठोरता, कृष्ण के विभिन्न जन हित-कारी कार्यों की कुशलता आदि का वर्णन करती हुई अपने हृदय मे स्थित उस वात्सल्य की सरिता को इस तरह बहा देती है कि उद्धव जैसे ज्ञान के दृढ पर्वत भी उस वात्सल्य सरिता मे बहने लगते हैं और उनके हृदय पर इस वियोगपूर्ण वात्सल्य की छाप सदैव के लिए अकित हो

१ प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है॥
अबतक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है॥७।११

२ हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणों के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे॥
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्यवाले।
हा! बेटा हा! हृदयधन हा! नेत्र तारे हमारे॥ ७।५६

३. प्रियप्रवास १०।१४-१६

जाती है।[1] इस तरह यहाँ कवि ने वात्सल्य भाव का अत्यन्त मार्मिक निरूपण किया है; परन्तु उसमें सूरदास के वात्सल्य-वर्णन जैसी गहनता, विविधता एवं विवरणात्मकता के दर्शन नहीं होते। अतः यहाँवात्सल्य अपना स्वतन्त्र अस्तित्व गँवाकर वियोग की पुष्टि करता हुआ करुणा की सरिता में ही घुलमिल गया है।

विप्रलम्भ शृंगार—विप्रलम्भ शृंगार के बारे में पहले ही बताया जा चुका है कि 'प्रियप्रवास' में प्रवास-जन्य विप्रलम्भ-शृंगार या वियोग के दर्शन होते है। यह विप्रलम्भ-शृंगार यहाँ दो रूपों में वर्णित है—(१) राधा के विरह-निरूपण और (२) गोपियों के विरह-निरूपण में।

(१) राधा का विरह निरूपण—विप्रलम्भ शृंगार का सर्वप्रथम वर्णन चतुर्थ सर्ग में राधा के विरह-निरूपण में मिलता है। कृष्ण के मथुरा गमन की सूचना पाते ही यह प्रफुल्लित बालिका अनायास मलिन एवं खिन्न हो जाती है, उसका अनुपम सौंदर्य फीका पड़ जाता है और उस 'क्रीड़ा-कला पुत्तली' की समस्त रसमयी क्रीड़ायें रुक जाती हैं। अब उसकी कमनीय कान्ति दृष्टि-उन्मेषिनी नहीं रहती, उसकी मंजु-दृगता उन्मत्ताकारिणी नहीं रहती, उसकी मुग्ध मुसकान की मधुरिमा लुप्त हो जाती है और वह आनंद-आंदोलिता युवती सुमना, प्रसन्नवदना न रह कर निरंतर खिन्ना-दीना एवं छिन्नामूला लताकी भाँति सौंदर्यहीना दिखाई देने लगती है। इस क्षण उसके हृदय में न जाने कहाँ से ऐसी कसक, ऐसी पीड़ा अथवा ऐसी वेदना घर कर लेती है कि उसका सारा शरीर प्रतिक्षण काँपता रहता है, उसकी भाग्य-गति पलट जाती है और उसे सारा जगत् शून्य दिखाई देने लगता है। इस समय उसे आकाश में टिमटिमाते तारे भी ठिठककर सोच में पड़े हुए जान पड़ते हैं; टूटते हुये तारे किसी दिल जले के शरीर के पतन के रूप में दिखाई देते हैं और उसे सर्वत्र शोक, विषाद, भय आदि छाये हुए प्रतीत होते हैं।[2] इतना ही नहीं उस विरह-व्यथिता राधा को उषा की लालिमा भी किसी कामिनी के बहते हुए रुधिर के रूप में जान पड़ती है, पक्षियों का कलरव व्यथा-पूर्ण चीत्कार मालुम पड़ता है और वह सूर्य को आग का एक ऐसा गोला समझने

---

१. विबुध ऊधव के गृह-त्याग से। परिसमाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अंकित सी रही। हृदय-मंदिर में हरि-मित्र के॥
१०।६७

२. प्रियप्रवास ४।२२-४८

लगती है, जो अब उदय होकर सम्पूर्ण व्रज-भूमि को जलाकर राख कर देगा।[1] उस दुखिया का मुख-कमल सूख जाता है, होठ नीले पड जाते हैं, दोनो आँखें आँसुओ म डूब जाती है, नाना प्रकार की शकायें उसके कलेजे को कम्पित करने लगती हैं और वह अत्यन्त मलिन एव खिन्न होकर उन्मनी सी हो जाती है।[2] इस प्रकार सर्वप्रथम हमें विरहिणी राधा अत्यत शोक-सतप्त एव विरहाग्नि म झुलसी हुई एक मुरझाई हुई कली के रूप मे दिखाई देती है।

इस विरहिणी राधा का पुन साक्षात्कार षष्ठ सर्ग मे होता है, जहाँ यह पुन रो-रो कर अत्यत चिन्ताओ मे निमग्न होती हुई अपने दिन व्यतीत करती दिखाई देती है। इस समय इसकी वेदना अत्यत बढी हुई है और कृष्ण स मिलने की उत्कठा भी अत्यत तीव्र दिखाई देती है। इसी कारण यह विरहिणी जैसे ही प्रात कालीन मधुर पवन का स्पर्श करती है वैसे ही इसकी वेदना द्विगुणित हो उठती है और यह उस पापिष्ठा पवन की अच्छी तरह भर्त्सना करती है। परन्तु फिर यह विरहिणी बाला उस पवन को ही अपनी दूती बनाकर मथुरा म श्रीकृष्ण के पास अपना सदेश लेकर भेजती है।[3] यहाँ राधा म विरह-व्यथा की अपेक्षा नीति-कौशल एव स्त्रियोचित स्वाभाविक चतुरता, मिलन की युक्तियाँ जानने की क्षमता, वाक्पटुता अथवा युक्ति-निपुणता आदि के दर्शन होते हैं। राधा ने पवन को अपना सदेश सुनाने के लिए जो जो अद्भुत युक्तियाँ सुझाई हैं, उनमें राधा का विरहिणी रूप खो जाता है और वह एक अभिसारिका अथवा चतुर रमणी से अधिक और कुछ नहीं

---

१. क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
वह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि! सकल दिशा मे आग सी क्यों लगी है।
सब समझ गई मैं काल की क्रूरता को।
पल-पल वह मेरा है कलेजा कँपाता।
अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल व्रज-धरा को फूँक देगी जमाना। ४।४६-५०

२ *प्रियप्रवास* ४।२२

३ वही ६।३३-८२

दिखाई देती। उसे हम इस क्षण न तो भ्रान्ता नारी कह सकते है और न व्यथा-वर्द्धिता उद्विग्न विरहिणी, क्योंकि उसकी दशा में उतनी गहराई एवं उतनी कसक नहीं है, जितनी मेघदूत के यक्ष अथवा जायसी की नागमती मे है। इस विरहिणी में वियोग संबंधिनी वे समस्त काम दशायें भी नही दिखाई देती, जिनका आभास सूर की राधा मे मिलता है। यहाँ केवल चिन्ता और गुण-कथन का उल्लेख अवश्य स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण के गुणों का निवेदन करते समय मिल जाता है,[1] परन्तु अन्य अवस्थायें भली प्रकार उभर कर ऊपर नहीं आसकी हैं। इसी से यहाँ पाठकों का हृदय विरह के मर्मस्पर्शी प्रभाव से उद्वेलित नहीं होता तथा उसके स्थायी विरह मे सहृदयों का हृदय भी उतना आन्दोलित नही होता जितना सूर की राधा के विरह-निवेदन मे हो उठता है।

इस विरहिणी नायिका के उज्ज्वल रूप की तृतीय झाँकी उद्धव के साथ वार्त्तालाप करते समय षोडश सर्ग मे होती है, जहाँ वह अपनी अन्य पूर्ववर्ती विरहिणी-नायिकाओं से कहीं अधिक करुणा, उदारता, सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि उदात्त भावों से ओतप्रोत दिखाई देती है और अपने इन दिव्य गुणों के कारण उनसे कहीं अधिक महान एवं श्रेष्ठ जान पड़ती है। यहाँ वह न तो जयदेव एवं विद्यापति की राधा की तरह कुसुमाकर के बाणों से विद्ध होकर विलास-कामना के अपूर्ण रहजाने पर व्यथित एवं बेचैन दिखाई देती है और न सूर, नंददास आदि कृष्णभक्त कवियों की राधा के समान रात दिन आँसू की नदी बहाती हुई "हा कृष्ण ! हा कृष्ण !" की रट लगाती रहती है। इतना ही नही यहाँ वह न तो जायसी की विलासिनी नागमती की तरह अपने प्रियतम से मिलने के लिए प्रत्येक ऋतु में तड़पती हुई दिखाई देती है और न साकेत की उर्मिला की भाँति रात दिन करवटें बदलती हुई अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती है; अपितु यहाँ पर राधा विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री एवं करुणा की उदार मूर्ति के रूप मे दिखाई देती है। वह उद्धव के मुख से अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण का चिर स्नेह, चिर प्रणय एवं चिर प्रेम से भरा हुआ संदेश सुनकर अपने प्रियतम को विश्व के कण-कण में व्याप्त देखने लगती है। उसे नभ के तारों, सरोवर के कमलों, संध्या की लालिमा, प्रभात की उषा, वर्षा के सजल घन, कुंजों के भ्रमर, उपवनों के दाड़िम, बिम्बा, केला आदि मे सर्वत्र श्रीकृष्ण की मनोरम रूप-माधुरी के दर्शन होने लगते हैं और वह प्राणि-मात्र में अपने प्रियतम के स्वरूप को देखने लगती है। वह विरहिणी

---

१. प्रियप्रवास ६।५८-६३

अपने पति को विश्व मे और विश्व को अपने प्रियतम मे व्याप्त देखती हुई उस जगत पति का श्याम मे साक्षात्कार करती है तथा प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगती है।[1]

इस विरहिणी राधा की तुलना नागमती, सीता एव उर्मिला से तो कदापि नही की जा सकती क्योकि ये विरहिणियाँ तो अपने अपने प्रियतम को प्राप्त करके अत मे परम सुख का अनुभव करती हैं। हाँ, यशोधरा या गोपा स अवश्य इसकी तुलना की जा सकती है क्योकि वियोगिनी यशोधरा भी गौतम के चले जाने पर उसी तरह आजीवन विरह-जन्य वेदना, व्यथा एव कसक का अनुभव करती रहती है जिस तरह यहाँ राधा श्रीकृष्ण के चले जाने पर अनुभव करती है। परन्तु यशोधरा से भी 'प्रियप्रवास' की राधा कही अधिक महान् है, क्योकि यशोधरा के विरह-जीवन का जो चित्र राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने अपने 'यशोधरा' काव्य मे अकित किया है, उसमे उस विरहिणी को न तो इतनी उदारता एव सेवा-सुश्रूषा मे लीन दिखाया है और न यशोधरा अपने प्रियतम को कण-कण मे व्याप्त देखकर विश्व-प्रेम म इतनी मग्न दिखाई गई है। यहाँ हरिऔध जो ने राधा को तो विश्व प्रेम म लीन दिखाया है तथा दीन-हीन, आर्त्त एव दुखीजनो की सेवा कीट-पतगों एव पशु-पक्षियो के प्रति सहानुभूति ब्रज के गोप-गोपीजनो के दुःख दूर करने की उत्कट लालसा, नद-यशोदा के शोक-सताप को कम करने का सतत प्रयत्न, गोप-बालकों की चिन्ता दूर करने के लिए लीलाओ का प्रचार, सम्पूर्ण ब्रज मे शान्ति स्थापित करने के लिए कुमारी बालाओ का सगठन आदि ऐसे-ऐसे अभूतपूर्व कर्म करते हुए अकित किया है, जिनके परिणामस्वरूप यह विरहिणी केवल ब्रज की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् की आराध्या देवी बन जाती है और ससार की समस्त विरहिणियो मे शीर्षस्थानीय जान पडती है।

(२) गोपी विरह-निरूपण—इस विप्रलम्भ शृगार की दूसरी झाँकी गोपियों के विरह-निवेदन मे अकित की गई है। यहाँ कवि ने परम्परा का पालन किया है और अन्य कृष्णभक्त कवियो की भाँति गोपियो की विक्षिप्तावस्था का उल्लेख किया है, क्योकि सूर आदि कवियो की भाँति यहाँ भी कवि हरिऔध ने गोपियो को यमुना का नीला जल मधुवन की हरी लतायें, कदम्ब की फूली डालियाँ, कालिदी का मनोहारी तट आदि

---

१ प्रियप्रवास १६।४६-११३

देखकर एवं कृष्ण की पुरानी लीलाओं का स्मरण करके बिलखते-बिसूरते दिखाया है। यहाँ पर भी गोपियाँ उद्धव से यहाँ तक कह डालती हैं कि "यदि यमुना का नीला जल सूख जाय, कुजें जल जायें, हमारी आँखें फूट जायें, हमारे हृदय विध्वंस हो जायें, सारा वृन्दावन उजड़ जाय और कदम्ब के समस्त वृक्ष उजड़ जायें, तो भी हम अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को भला कैसे भूल सकती हैं, उनका भूलना सर्वथा असम्भव है। फिर यहाँ की तो एक-एक वस्तु उनका स्मरण कराती रहती हैं, जिससे हम अत्यंत व्यथित एवं उद्विग्न होकर रात-दिन रोती रहती हैं और हमारे हृदय जलते रहते हैं। हमारी आँखों में कृष्ण की वह माधुरी छवि ऐसी बस गई है कि उसके मारे वे सदैव प्रेमोन्मत्त होकर उन्हें खोजने में ही लगी रहती है और उन्हें एक क्षण भी चैन नहीं मिलता। आज हमें पवन के झोंकों के समान विरह-वेदना झकझोरती रहती है, जिससे हमारा जीवन भँवर में पड़ी हुई नौका के समान विपन्न हो रहा है। हम सब कृष्ण में अनन्य भाव से अनुरक्त हैं और उन्हें इस तरह प्यार करती हैं जैसे समस्त तारिकायें एक चन्द्रमा को और सम्पूर्ण कमल-कलियाँ एक सूर्य को हृदय से प्यार करती है। परन्तु विधाता की क्रूरता के कारण आज न केवल हमारी ही ऐसी संकटापन्न अवस्था है, अपितु सारी ब्रज-भूमि ही महाशोक में डूबी हुई है। अब जैसे बने आप कृष्ण को यहाँ लाकर इस मृतक बनती हुई ब्रज-भूमि को जीवन दान देने का प्रयत्न कीजिये।"[१] गोपियों की यह व्यथाभरी करुण कथा अत्यंत मार्मिक एवं हृदयवेधिनी है। तदनन्तर कवि ने पंचदश सर्ग में एक गोपी की विक्षिप्तावस्था का चित्रण करते हुए उसकी उत्कंठा, उसकी तीव्र वेदना, उसकी गहन पीड़ा एवं उसकी भयंकर भ्रान्तावस्था का जो चित्र अंकित किया है, वहाँ विप्रलम्भ-शृंगार की अनूठी अभिव्यक्ति है। इसमें कवि ने उस गोपी को पहले तो कुंज में खिले हुए विविध पुष्पों के पास जा-जाकर अत्यंत करुणा-सहित वार्तालाप करते हुए दिखाया है, और उनसे यह पूँछते हुए अंकित किया है कि तुम भी मेरी ही भाँति क्यों व्यथित हो रहे हो, तुम्हारी यह गति क्यों हो गई है। अरे! कुछ तो अपनी दशा मुझे सुनाओ।[२] परन्तु जब कोई भी पुष्प उस बाला से कुछ नहीं बोलता तब वह भ्रमर से बातें करने लगती है। परन्तु भ्रमर उसकी व्यथा-कथा

---

१. प्रियप्रवास १४।४१-७४
२. वही १५।४-५७

नहीं सुनता और वह एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर बैठता हुआ उसकी उपेक्षा करता जान पड़ता है। तब वह उसे ढीठ और कौतुकी कहकर उसकी भर्त्सना करती है और उसकी चचलता, उपेक्षा, अनवधानता आदि के लिए उसकी श्यामता को दोषी ठहराती है।[१] तदनन्तर वह मुरली की ध्वनि को अचानक वन मे सुनकर उस मुरली से ही बाते करने लगती है और उसकी प्रवचना, धोकेबाजी अथवा कपट-व्यवहार के लिए उसे भी भला-बुरा कहती हुई उससे अनुरोध करती है कि ठीक है तू अपने तप के कारण कृष्ण के हाथ म सुशोभित हुई है, परन्तु तुझे वृथा ही अबलाजन को नहीं सताना चाहिए और इस तरह मतिहीनता का परिचय नहीं देना चाहिए।[२] फिर अचानक कुज में कोकिल बोल उठती है। उसकी कूक सुनकर उस गोपी को अपनी चित्त-भ्रान्ति के कारण वह कोकिल भी अत्यत विषादिता, सकुचित तथा निपीडिता जान पडती है और वह ऐसा समझती है कि जिस तरह मैं कृष्ण के लिए विरागिनी, पागली एव वियोगिनी बनी हुई हूँ उसी तरह सभवत यह कोकिल भी प्रिय के वियोग के कारण अत्यत कातर एव मलीन बनी हुई है। पहले तो वह उस कोकिल से मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है, परन्तु जब वह उडती नही, तब वह यही कहती है कि ठीक है, वहाँ मत जा, क्योंकि जहाँ उलाहना सुनना भी मना है, ऐसी जगह जाना कदापि उचित नहीं होता।[३] फिर वह गोपी यमुना की रेती मे अकित प्रियतम के चरण-चिह्न को देखकर उसी से बातें करने लगती है और अपनी दशा मे उसकी दशा को मिलाती हुई उसी को अपनी व्यथा-कथा सुनाने लगती है।[४] फिर केलि मे मग्न होकर कल-कल करती हुई तथा प्रतिपल बहती हुई यमुना नदी उसे दिखाई देने लगती है। तब वह यमुना को सम्बोधन करती हुई उससे अपना वियोग भरा सदेश कृष्ण के समीप ले जाने का आग्रह करती है और कहती है कि तेरे तट पर तो मेरे प्रियतम कृष्ण अवश्य ही आते होंगे। इसलिए तू मेरी सम्पूर्ण व्यथाओ को अपनी मधुर ध्वनि के साथ उन्हे सुना देना। यदि भाग्य से मैं तेरी धार मे गिर जाऊँ तो तू मेरे शरीर को व्रज की भूमि मे ही मिला

---

१ प्रियप्रवास १५।५८-७७
२ वही १५।७८-८७
३ वही १५।८८-१०१
४ वही १५।१०२-१११

देना और फिर मेरी उस मिट्टी से अनूठी श्यामता लिए हुए सुंदर पुष्पों को बड़ी सुंदरता के साथ उगा देना।[1] इस तरह कवि हरिऔध ने गोपियों की विरह-जन्य वेदना के बड़े ही अनूठे चित्र अंकित किए हैं, जिनमें उन्हें अत्यंत व्यथित एवं विदग्ध दिखाया है तथा उनकी व्याकुलता एवं बेचैनी को मार्मिकता प्रदान की है।

विप्रलम्भ शृंगार की करुण रस में परिणति—कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' में जिस विप्रलम्भ शृंगार या वियोग का वर्णन किया है, वह इतना गहन, गंभीर एवं तीव्र हो गया है कि वह विप्रलम्भ शृंगार न रहकर करुण रस के स्थायी भाव शोक को पाठकों के हृदय में अभिव्यक्ति करने में पूर्णतया समक्ष दिखाई देता है। यहाँ वियोग की करुणामयी गहन छाया नंद, यशोदा, गोपी, राधा आदि को ही आवृत नहीं करती, अपितु गोपो, गायों, पशु-पक्षियों, यमुना, लता, पुष्पों आदि को भी आत्मसात् कर लेती है और सम्पूर्ण व्रज-भूमि शोक-सागर में निमग्न दिखाई देने लगती है। वैसे तो यशोदा का कारुण्यपूर्ण विलाप तथा राधा के दग्ध हृदय के मार्मिक विरहोद्गार ही शोक की धारा प्रवाहित करने के लिए पर्याप्त हैं, क्योंकि यशोदा माता की उछ्वासपूर्ण बातें सुनकर और उनकी मूर्छित अवस्था को देखकर केवल नंद ही दुखी नहीं होते, अपितु पाठकों के हृदय भी हिल जाते हैं। कवि ने उस वात्सल्यमयी जननी के हृदय की वेदनापूर्ण स्थिति का जो वर्णन किया है, उसमें करुणा की अविरल धारा बहती हुई जान पड़ती है, क्योंकि उसका कलपना, उसका रोना-धोना, उसके प्राणों का कंठ तक आना, उसकी समस्त आशाओं पर पानी फिरना, उन वृद्धा की लकुटि का छिनना, उसके हृदय-धन का चला जाना, उस दुखिया के नेत्र की ज्योति का न रहना आदि भला किसके हृदय में शोक उत्पन्न न करेंगे।[2] यही बात राधा के वियोग-वर्णन में भी है। वह लावण्य-मयी बालिका भी रोते-रोते अत्यंत मलिन हो जाती है। उसकी आँखों के सामने सदैव के लिए अंधकार छाजाता है। उसकी कामना अधूरी रह जाती है, क्योंकि वह कृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थी, परन्तु यह कार्य पूरा न हो सका। अब उसके लिए संसार में कोई आकर्षण नहीं रहता, उसका मुख सूख आता है, होंठ नीले पड़ जाते हैं, रात-दिन कलेजा काँपता रहता है और

---

१. प्रियप्रवास १५।११२-११५

२. वही ७।११-५७

यह सदैव उन्मनी बनी रहती है।[1] उसकी भ्रान्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह पवन के हाथ सँदेशा तक भेजने के लिए तैयार हो जाती है और उसे यह ध्यान तक नहीं आता कि भला पवन मेरी बातें कैसे सुन सकेगी तथा कैसे मेरा कार्य करेगी।

यही बात अन्य आभीरों, गोपों तथा पशु पक्षियों के बारे में भी है। कवि ने हरि-गमन बेला के आते ही ब्रज मे छाई हुई चिन्ता एवं उदासी का जो चित्रण किया है तथा चिन्ता मे डूबी हुई जनता के हृदय की हलचल की जो झाँकी प्रस्तुत की है उसमे भी करुण रस पर्याप्त मात्रा में भरा हुआ है। उस समय आगे बढ़कर जो वृद्ध आभीर अपने हृदय के मार्मिक उद्गार व्यक्त करता है, उनमें कितनी कसक कितनी टीस एवं कितनी व्यथा भरी हुई है, जिसे सुनकर अक्रूर तक रो पड़ते हैं और जैसे-तैसे अपने को सँभाल पाते हैं।[2] यही बात उस क्षण अपनी व्यथापूर्ण कथा सुनाती हुई उस प्राचीना की मर्मभरी वाणी मे है, जिसे सुनते ही कृष्ण भी रो पड़ते हैं और शीघ्र ही लौट आने की बात कहकर उसे सान्त्वना प्रदान करते हैं।[3] उस समय गायों की भी दशा कुछ विचित्र ही हो जाती है, वे न घास खाती है और न बच्चे को दूध पिलाती हैं, अपितु बावली सी होकर जाते हुए कृष्ण की ओर जंगल से भाग कर चली आती हुई दिखाई देती हैं। गृह-द्वार के श्वानातुरा की भी यही दशा होगई है। वह भी व्यथा भरी आवाज मे रुदन करता सा जान पड़ता है।[4] इस तरह जो शोक सिंधु कृष्ण के गमन के समय ब्रज मे उमड़ने लगा था, वह फिर सूख नहीं पाता, अपितु उद्धव आकर भी यही देखते हैं कि वह शोक-सागर सम्पूर्ण ब्रज-भूमि मे लहरा रहा है। उन्हें भी अनन्त सौंदर्यमयी वनस्थली किसी के विरह मे यथातथ्य विमोहती हुई नहीं दिखाई देती, अपितु सर्वत्र एक निगूढ खिन्नता बसी हुई जान पड़ती है, जो आनंद और उल्लास को उत्पन्न करके देखने वाले के हृदय में गुप्त रूप से धीरे-धीरे विरक्ति को उत्पन्न करती हुई सी प्रतीत होती है।[5] इतना ही नहीं उन्हें क्या नंद, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या गोप-

---

१ प्रियप्रवास ४।२८-५२

२ वही ५।२४-२६

३ वही ५।३०-३६

४ वही ५।३७-४०

५ परन्तु वे पादप में प्रसून में। फलों दलों वेलि-लता समूह में।
सरोवरों में सरि में सुमेरु में। खगों मृगों में वन में निकुंज में।

बालक, क्या गोपियाँ और क्या राधा सभी कृष्ण के विरह में व्यथित होकर रुदन करते हुए दिखाई देते हैं और अपनी करुण-कथा से उन्हें भी संतप्त कर देते हैं। उद्धव जब तक व्रज में रहते हैं और जहाँ कहीं भी वे जाते हैं उन्हें सर्वत्र व्रज-भूमि में शोक छाया हुआ दृष्टिगोचर होता है और सभी के हृदय में कृष्ण की भव्य मूर्ति के लिए अटूट प्रेम समाया हुआ जान पड़ता है। यहाँ तक कि राधाजी भी उन्हें विश्व-प्रेम में लीन होकर केवल अपने शोक में उतनी दुखी नहीं दिखाई देतीं, जितनी कि वे व्रजवासियों के दुख में व्यथित रहती हैं और अन्त में वे यही कहती हैं कि "अगर उन्हें कोई बाधा न हो तो एक बार अपने दर्शन यहाँ के निवासियों को दे जायँ और कम से कम अपने माता-पिता की दशा को तो आकर देख जायें, बस यही मेरा संदेश श्रीकृष्ण से कह देना।"[1] इन शब्दों से भी व्रज के शोक का आभास पूर्णरूप से मिल जाता है। इसके उपरान्त कवि ने व्रज की संतप्त अवस्था का चित्र अंकित करते हुए बताया है कि जब कभी व्रज में बसंत का विकास होता था, तब समस्त बालिकायें बावली सी होकर बिलखाती फिरती थीं, कोई कहीं मूर्छित हो जाती थी, तो कोई रात-रात भर रोती रहती थीं। उस समय राधाजी उन्हें सांत्वना देने के विविध उपाय करती रहती थीं। गोप एवं नंद-यशोदा भी सदैव शोक में डूबे रहते थे तथा व्रज में विरह-घटना ऐसी व्याप्त हो गई थी कि फिर वह कभी दूर न हो सकी, व्रज में फिर अच्छे दिन न आ सके और विरह की वह भयंकर वेदना वंशजों में भी व्याप्त हो गई।[2]

इस प्रकार कवि ने 'प्रियप्रवास' में विरह का इतना व्यापक एवं मार्मिक वर्णन किया है, जिसे देखकर ज्ञात होता है कि यहाँ पर प्रवास-जन्य विप्रलम्भ शृंगार अपनी सीमा का अतिक्रमण करके करुण विप्रलम्भ शृंगार से भी आगे बढ़कर करुण रस का रूप धारण कर गया है। वैसे भी विप्रलम्भ शृंगार तो वहीं रहता है जहाँ पुनर्मिलन की आशा रहती है, परन्तु जब फिर मिलने की कोई आशा नहीं रहती और वह कुछ समय का शोक चिरकालीन हो जाता है अथवा स्थायित्व को प्राप्त कर लेता है तब वह शोक करुण रस के

बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता। बिलोकते थे निज-सूक्ष्म-दृष्टि से।
शनैः शनैः जो वह गुप्त रीति से। रही बढ़ाती उर की विरक्ति को।

६।१०७-१०८

१. प्रियप्रवास १६।१३२-१३३
२. वही १७।५२-५४

स्थायी भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। यही 'करुण रस' तथा 'करुण विप्रलम्भ-शृंगार' में अन्तर है।[1] इसके अतिरिक्त भवभूति की भाँति हरिऔध जी भी "एको रस करुण एव निमित्त भेदाद्, भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्" कहते हुए करुण रस को ही एक मात्र रस मानते हैं तथा अन्य सभी रसों को उस करुण के विवर्त बतलाते हैं।[2] इस दृष्टि से भी कवि का अभिप्रेत रस करुण ही है और उसी की पुष्टि के लिए अन्य रसों का वर्णन करते हुए कवि ने विप्रलम्भ शृंगार, वात्सल्य, वीर रौद्र, भयानक आदि रसों का भी उल्लेख किया है। अब हम इन्हीं अंग रूप में आने वाले अन्य रसों की अभिव्यक्ति को देखने की चेष्टा करेंगे। किन्तु यह स्पष्ट है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' में करुण रस को ही अंगीरस के रूप में माना है, क्योंकि यहाँ शोक क्षणिक या किंचित् कालीन न होकर चिरकालीन है और भूमिपतन, क्रदन, उच्छ्वास, प्रलाप आदि अनुभावों तथा निर्वेद, मोह, स्मृति, व्याधि आदि व्यभिचारी भावों के साथ विद्यमान है।

भयानक रस—अन्य रसों के निरूपण में से सर्वप्रथम तृतीय सर्ग में रात्रि के भीषण वातावरण का वर्णन करते हुए कवि ने भयानक रस की सुन्दर अभिव्यञ्जना की है। इस रस का भय स्थायी भाव होता है, इसके आलम्बन भयोत्पादक पदार्थ हैं और उन पदार्थों की भीषण चेष्टायें उद्दीपन विभाव होती है। कम्प, गद्गद् भाषण आदि इसके अनुभाव हैं और आवेग, त्रास, दीनता, शंका आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। यहाँ पर भी विकट-दंत भयंकर प्रेतों, मुख फैलाये हुए भयंकर प्रेतनियों, विकट-दानव से वृक्षों, श्मशान भूमि में पड़ी हुई भयानक खोपड़ियों, शवों आदि के वर्णन द्वारा कवि ने भय स्थायी भाव की सुन्दर व्यंजना की है :—

"विकट दंत दिखाकर खोपड़ी, कर रही अति भैरव हास थी।
विपुल अस्थि-समूह-विभीषिका, भर रही भय थी बन भैरवी ॥ ३।१६

वीर रस—इसका स्थायी भाव उत्साह होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। इसका आलम्बन विभाव विजेतव्य शत्रु आदि होते है और उन शत्रुओं की चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्धादि की

---

१ शोक स्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादय रस ।
विप्रलम्भे रति स्थायी पुन सम्भोगहेतुक ॥ साहित्यदर्पण ३।२२६
२ वैदेही-वनवास, भूमिका, पृ० १
३ प्रियप्रवास ३।१४-१६

सामग्री किंवा अन्यान्य साधनों के अन्वेषण इसके अनुभाव होते हैं और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि इसके व्यभिचारी भाव माने गये हैं। इसके चार भेद होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। 'प्रियप्रवास' में इन सभी रूपों के दर्शन मिल जाते हैं। जैसे :—

दानवीर—ऐसे ऐसे जगत-हित के कार्य हैं चक्षु आगे।
हैं सारे ही विषय जिनके सामने श्याम भूले।
सच्चे जी से परम-व्रत के वे व्रती हो चुके हैं।
निष्कामी से अपर-कृति के कूल-वर्ती अतः हैं।

यहाँ पर उनके सर्वस्व त्याग सहित लोक-सेवा का व्रत ग्रहण करने में एक दानी व्यक्ति के 'त्याग' विषयक 'उत्साह' स्थायी भाव की सुन्दर व्यंजना हो रही है।

धर्मवीर—अतः सवों से यह श्याम ने कहा। स्व-जाति-उद्धार महान धर्म है।
चलो करें पावक में प्रवेश औ। स-धेनु लेवें निज-जाति को बचा।
विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का। सहाय होना अ-सहाय जीव का।
उबारना संकट से स्व-जाति का। मनुष्य का सर्व-प्रधान-धर्म है।

इन पंक्तियों में 'धर्मोत्साह' की बड़ी ही अनूठी अभिव्यंजना हुई है।

युद्धवीर—समाज - उत्पीड़क धर्म - विप्लवी।
स्व-जाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुंज का।
न है क्षमा-योग्य वरंच वध्य है।
क्षमा नहीं है खल के लिए भली।
समाज-उत्सादक दंड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना।
सु-कर्मियों को करना विपन्न है।
अतः अरे पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा रण आज त्राण तू।
सम्हाल तेरा वध वांछनीय है।

व्योमासुर के प्रति प्रकट की गई श्रीकृष्ण की इस ललकार में 'युद्धोत्साह' की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यंजना हुई है।

दयावीर—परम-सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था। गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र-समीर था। पर विराम न था व्रज-बंधु को।

पहुँचते वह थे द्वार वेग से। विपद-संकुल आकुल-लोक में।
तुरत थे करते वह नाश भी। परम-वीर-समान विपत्ति का।

इन पंक्तियों में भयंकर वर्षा के कारण उत्पन्न बाढ़ से पीड़ित ब्रज की रक्षा करने में श्रीकृष्ण के कार्यों का जो उल्लेख हुआ है, उनमें 'दया विषयक उत्साह' की अत्यन्त रमणीक अभिव्यंजना हुई है।

रौद्र रस—*इसका स्थायी भाव क्रोध'* है। इसमें आलम्बन रूप से शत्रु का वर्णन किया जाता है और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन विभाव का काम करती हैं। इसकी उद्दीप्ति भयंकर काटमार, शरीर-विदारण, भूपातन आदि में हुआ करती है। भ्रूभंग, बाहुस्फोटन, गर्जन-तर्जन, क्रूर दृष्टि आदि इसके अनुभाव होते हैं और मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। कालिय नाग के द्वारा अपनी प्रिय गायों एवं स्वजाति की अतीव दुर्दशा देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में जिस क्रोध का संचार होता है वहीं रौद्र रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यथा—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा। विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को। हुए समुत्तेजित वीर-केशरी।
हितैषणा से निज जन्म-भूमि की। अपार आवेश हुआ ब्रजेश को।
बनी महा बंक गँठी हुई भवें। नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये।

अद्भुत रस—*इसका 'विस्मय' स्थायीभाव होता है।* इसमें अलौकिक वस्तु आलम्बन होती है और उस वस्तु के गुणों का वर्णन उद्दीपन विभाव होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गद् स्वर आदि इसके अनुभाव होते हैं और वितर्क, आवेग, संवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। 'प्रियप्रवास' में कवि ने तृणावर्तीय विडम्बना का वर्णन करते हुए कृष्ण के अचानक अदृश्य हो जाने, प्रकृति के अचानक शान्त हो जाने तथा घर के समीप किलकते हुए कृष्ण के मिल आने पर कवि ने इस 'विस्मय' नामक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति की है। यथा—

प्रकृति थी जब यों कुपिता महा। हरि अदृश्य अचानक हो गये।
सदन में जिससे ब्रज-भूप के। अति भयानक क्रन्दन हो उठा।
पर व्यतीत हुए दुघटी टली। यह तृणावर्तीय विडम्बना।
पवन-वेग रुका तम भी हटा। जलद-जाल तिरोहित हो गया।
प्रकृति शान्त हुई वर व्योम में। चमकने रवि की किरणें लगीं।
निकट ही निज सुन्दर सद्म के। किलकते हँसते हरि भी मिले।

अत: कवि ने विभिन्न रसों का वर्णन करते हुए तथा उन्हें करुण रस के अंग बनाकर उनका पोषण करते हुए अंकित किया है। शास्त्रीय दृष्टि से तो यहाँ विप्रलम्भ शृंगार ही दिखाई देता है, किन्तु यह विप्रलम्भ शृंगार स्थायी रूप ग्रहण करता हुआ शोक नामक स्थायीभाव को इतना अधिक जाग्रत कर देता है कि पाठकों के हृदय पर उसकी अमिट छाप अंकित हो जाती है और जिस तरह इष्ट-नाश या अनिष्ट-प्राप्ति के कारण 'शोक' नामक स्थायी भाव करुण रस की अभिव्यंजना किया करता है, उसी तरह यहाँ भी श्रीकृष्ण के सदैव के लिए ब्रज-भूमि छोड़कर चले जाने के कारण गोपियों एवं ब्रज-जनों के इष्ट का नाश हो गया है तथा अनिष्ट की प्राप्ति हो रही है, जिससे वह वियोग-जन्य शोक विप्रलम्भ की सीमा का परित्याग करके करुण-रस का स्थायी भाव बन गया है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' में 'करुणरस' की प्रधानता मानना ही सर्वथा उचित जान पड़ता है तथा विप्रलम्भ शृंगार भी इस करुण रस का एक अंग हो गया है। इस तरह कवि ने विभिन्न भावों के सहित रसों का वर्णन करके अपने काव्य को अत्यंत रुचिर एवं रमणीय बनाया है तथा ऐसे-ऐसे मार्मिक स्थलों की योजना की है, जहाँ सहृदयों के लिए आह्लादकारिणी प्रचुर सामग्री विद्यमान है।

भाव एवं रस-निरूपण में नवीन उद्भावनायें—हरिऔध जी ने प्रायः परम्परागत मानवोचित भावों का निरूपण करते हुए अपने 'प्रियप्रवास' काव्य में रसों का वर्णन किया है। परन्तु उस वर्णन में कवि ने कुछ नवीन उद्भावनायें भी की हैं, जिनके परिणामस्वरूप 'प्रियप्रवास' महाकाव्य में मौलिकता एवं नवीनता के साथ-साथ कुछ विशिष्टता भी आ गई है। इन नवीन उद्भावनाओं के यहाँ तीन रूप दिखाई देते हैं--(१) राधा-कृष्ण का प्रेम, (२) वीर रस में राष्ट्रीय भावना का समावेश तथा (३) मानवता के उदात्त गुणों से युक्त विश्व-प्रेम।

(१) राधा-कृष्ण का प्रेम—कवि ने 'प्रियप्रवास' में राधा और कृष्ण के जिस पवित्र दाम्पत्य प्रेम की झाँकी प्रस्तुत की है, उसमें वासनात्मक लिप्सा, कामना या काम-वासना की तनिक भी गंध नहीं आती। कवि ने राधा को सच्चे हृदय से श्रीकृष्ण की अनन्य प्रेमिका बताया है, जिसके हृदय में यह प्रेम बचपन से ही धीरे-धीरे विकसित हुआ था और युवती होने पर प्रणय के रूप में परिवर्तित हो गया था। उस प्रबल प्रेम के कारण ही यह युवती राधा शयन और भोजन के समय ही क्या, सभी क्षणों में कृष्ण की छवि पर उन्मत्त बनी रहती थी तथा उसके हृदय से कृष्ण के वचनों की सरसता, मुख कमल की रमणीयता, स्वभाव की सरलता, हृदय की अति प्रीति

और सुशीलता कभी चित्त मे उतरती न थी।[१] वह अपना हृदय तो कृष्ण के चरणो मे अर्पित कर ही चुकी थी केवल उसकी कामना यह और थी कि विधिपूर्वक कृष्ण के साथ विवाह हो जाय। परन्तु उसकी यह मनोकामना पूर्ण नही हुई।[२] फिर भी इस कुमारी बालिका ने कृष्ण के चले जाने पर किसी के साथ विवाह नहीं किया और आजीवन कौमार व्रत धारण करके अपने वरणीय प्रियतम के पद चिह्नो पर ही चलती रही। यहाँ जितनी प्रेम की गहनता राधा के हृदय म है, उतनी ही गहनता कृष्ण के हृदय मे भी कवि ने अकित की है। वे भी मथुरा पहुँचकर सबसे अधिक राधा के बारे मे ही चिंतित रहत हैं और उद्धव जी से चलते समय यह कहते भी हैं कि "वृषभानु पुत्री राधा मेरे वियोग-सागर म निमग्न होगी, उसे जैसे सभव हो, वैस त्राण देने की कृपा करना।"[३] इसके अतिरिक्त कृष्ण ने जो सदेश राधा क लिए उद्धव के द्वारा भेजा है, उसमे भी राधा विषयक प्रेम की गम्भीरता एव निष्कपटता पूर्णतया विद्यमान है। वहाँ कहा है कि "न जाने विधाता ने यह कैसी महान् बाधा हम दोनो के बीच मे उपस्थित कर दी है कि आज हमारे मिलने की आशा नित्य प्रति दूर होती चली जा रही है और जो दो प्रेमी नित्य दूध और पानी की तरह मिलते थे उन्ही के बीच म विघ्नो के महान् पवत न जाने कैसे आ पडे है?"[४] परन्तु दाम्पत्य प्रेम की इतनी गहनता, प्रणय की चरमसीमा आदि का चित्रण करके भी कवि ने इन्ह अत्यन्त सयत, मर्यादित एव लोकोत्तर चरित्र से विभूषित अकित किया है। वे दोनो अनन्य प्रेमी यहाँ लोक-सेवा, परोपकार, आत्मत्याग, सर्वभूतहित आदि की भावनाओ से ओतप्रोत दिखाये गये हैं। उनके प्रेम में वैयक्तिक भोगो की मधुर लालसा के लिए कोई स्थान नही है, वे स्वार्थोपरत विलास-वासना को सर्वथा तुच्छ एव हेय मानते हैं और प्रारम्भ से लेकर अत तक पूर्णतया निलिप्तता, सयम एव शुचिता की मूर्ति बनकर सरस-सुख की वासना से सवथा परे आत्म-उत्सर्ग एव निष्काम कर्मयोग मे लीन दिखाई देते हैं। आत्मोत्सर्ग की भावना उनमे इतनी तीव्रता के साथ अकित की गई है कि जिस तरह श्रीकृष्ण जगत-हित के कार्यों मे लीन होकर

---

१. प्रियप्रवास ४।१६-१८

२ वही ४।३५

३ वही ६।११

४ वही १६।३७-३८

आर्त्त-प्राणियों की सुरक्षा, दुष्टात्मा एवं पातकी पुरुषों को उचित दंड, व्यथित व्यक्तियों की व्यथा-निवारण आदि स्वकीय कर्त्तव्यों में निष्काम भाव से लगे रहते है, इसी तरह राधा भी विविध सांत्वना-कार्यों में संलग्न होकर वृद्ध-रोगी-जनों की सतत सेवा मे लगी रहती है। दीन-हीन एवं निर्बल अबलाजनों तथा विधवा आदि का बड़ा ध्यान रखती है, पारस्परिक कलह को दूर करती रहती है, घर-घर में शान्ति धारा बहाती रहती है, चीटियों को आटा, पक्षियों को दाना और पानी देती रहती है, कीटादि के प्रति भी वही सदय दृष्टि रखती है, वृथा पत्ते तक तोड़ना उचित नही समझती और हृदय से प्राणियो की हितकामना करती हुई अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहती है। वास्तव मे यही प्रेमी के आदर्श का अनुसरण है, यही निष्काम भक्ति है, यही अपने प्रियतम के प्रति सच्चे प्रेम का प्रदर्शन है कि उसके आचरण। एवं कर्त्तव्यों को अपनाकर अपना जीवन भी अपने प्रियतम के अनुरूप व्यतीत करे, जिससे कभी वह अपने हृदय से दूर न रहे और सदैव उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति के साथ पुनीत प्रेम बना रहे। हरिऔध जी ने ऐसे ही प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की उद्‌भावना करते हुए 'प्रियप्रवास' को आधुनिक युग का सुंदर महाकाव्य बना दिया है।

(२). **वीर रस में राष्ट्रीय भावना का समावेश**—'प्रियप्रवास' में कवि ने वीर रस के वर्णन में राष्ट्रीय भावों का समावेश करके आधुनिक युग में स्वजाति-प्रेम एवं स्वदेश-प्रेम का अतीव उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण सदैव राष्ट्रीय भावों से ओत-प्रोत दिखाये गये हैं। इसी कारण वे कालिय नाग के द्वारा होने वाली स्वजाति की अतीव दुर्दशा तथा प्राणिमात्र की विगर्हणा देखकर अपने देशवासियों के संकट को दूर करने के लिए तुरन्त तैयार होजाते हैं, जन्मभूमि की ऐसी दुरवस्था देखकर उनकी भौंहें टेढ़ी हो जाती है और वे शीघ्र ही इस आपत्ति के निवारण-हेतु निश्चय कर डालते हैं। साथ ही अपने सभी साथियों से यह कह भी देते हैं कि "मैं अपनी जान हथेली पर रखकर स्वयं इस कार्य को करूँगा और स्वजाति एवं स्व-जन्मभूमि के लिए इस भयंकर नाग से कदापि भयभीत न हूँगा। मैं सदैव अपमृत्यु तक का सामना करूँगा, कभी इन्द्र के वज्र तक से नहीं डरूँगा और मैं धर्म के प्रधान अंग परोपकार की कभी अवहेलना नहीं करूँगा। जब तक मेरे शरीर मे श्वास-प्रवाह शेष रहेगा, नाड़ियों में रक्त-प्रवाहित रहेगा तथा मेरा एक भी रोम सशक्त बना रहेगा, तब तक मैं बराबर

सर्वभूतहित करता रहूँगा।"[1] श्रीकृष्ण के इन वीरोचित उद्गारों मे कितनी ओजस्विता, कितनी कर्त्तव्यपरायणता तथा कितनी जननी-जन्मभूमि के प्रति हितैषणा की भावना भरी हुई है। यही बात कवि ने दावानल मे फँसे हुए ग्वाल-बाल एव गायो की रक्षा के समय व्यक्त की है। ऐसे भयकर काल के उपस्थित होते ही श्रीकृष्ण का हृदय करुणा एव कर्त्तव्य से भर आता है, राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो उठती है और अपने साथियो से कहने लगते है कि "ऐसे महान् सकट के समय प्राणो की चिन्ता न करके अपनी जाति का उद्धार करना ही मानव का महान धर्म है। वैसे भी ससार मे बिना अपने प्राणो की ममता को त्यागे हुए तथा बिना जोखिम को आग मे कूदे हुए न तो कभी ससार मे कोई महान् कार्य होता है और न ससार म जन्म लेना ही सार्थक होता है। इसलिए साथियो! अपने प्रियजनो की रक्षा के हेतु आगे बढो और उनका भला करो। इस कार्य मे हमे दोनो तरह से लाभ है क्योकि यदि हमने अपनी जाति का उद्धार कर लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इस ज्वाला मे भस्म हो गये, तो हमे सुन्दर कीर्ति प्राप्त होगी।"[2] श्रीकृष्ण के इन शब्दो मे उनका राष्ट्रीय प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। यही राष्ट्रीय भावना उन्हे प्राणिमात्र की सेवा और सहायता की प्ररणा देती रहती है, इसी कारण वे सभी से बडी विनम्रता के साथ मिलते हैं, उनके सुख-दुख की बातें बडे चाव से सुनते हैं, रोगी, दुखी एव आपत्ति ग्रस्तो की सेवा करते हैं और सर्वथा निस्वार्थ सर्वभूतहित मे लीन रहे आते हैं।[3] इतना ही नही अपने इन्ही राष्ट्रीय विचारो के कारण उन्हे सभी प्रेम एव श्रद्धा की दृष्टि से देखते है, अपना पूज्य समझते हैं तथा छोटी अवस्था मे ही वे सम्पूर्ण व्रज भूमि के सच्चे नेता बन जाते हैं। इस तरह से कवि ने 'प्रियप्रवास' मे राष्ट्रीय भावो का निरूपण करके श्रीकृष्ण के नररत्न तथा लोकनायक रूप की बडी ही भव्य अभिव्यजना की है।

(३) विश्व-प्रेम—कवि हरिऔध न सबसे अधिक बल यहा मानवता क उदात्त गुणो से युक्त विश्व प्रम की मगल भावना पर दिया है। कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण को विश्व-प्रेम मे लीन दिखाकर ऐसे-ऐसे सर्वजन-हितकारी एवं लोक-कल्याणकारी कार्य करते हुए अकित किया है, जहाँ हम

---

१ प्रियप्रवास ११।२२ २७

२. वही ११।८४ ८७

३. वही १२।७८-९०

उन्हें विश्व-बंधुत्व की साकार प्रतिमा के रूप में देख सकते हैं। उन्हें आगे चलकर स्व-परिवार एवं स्वजाति का मोह भी बंधन में नहीं बांध पाता, अपितु वे एक पग और आगे बढ़कर अपने परिवार एवं अपनी जाति का परित्याग करके सम्पूर्ण विश्व के दुःखों को दूर करने का प्रण करते हैं। उनकी भावनाओं का संकुचित क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और वे जगत-हित के कार्यों में लीन रहने के कारण ही अपनी प्राणप्रिय व्रज-भूमि तक का परित्याग कर देते हैं। अब उनके सामने एकमात्र सर्व-लोकोपकारी कार्यों का समूह ही रह जाता है और वे सच्चे जी से जगत-हित संबंधी व्रत के व्रती बन जाते हैं। इसी कारण वे राधा के पास उद्धव के द्वारा यही संदेश भेजते हैं कि "यह माना कि सुख और भोग की लालसायें अतीव प्यारी और मधुर होती हैं परन्तु जगत-हित की लिप्सा और भी मनोज्ञ होती है और सच्चा आत्म-त्यागी वही कहलाता है जिसे जगत-हित और लोक-सेवा हृदय से प्रिय होती है।"[1] इसी कारण वे पृथ्वी के समस्त प्राणियों के हितैषी बन जाते हैं और उन्हें विश्व का प्रेम प्राणों से भी अधिक प्रिय हो जाता है।[2] इतना ही नहीं श्रीकृष्ण के इस विश्व-प्रेम से प्रभावित होकर चरित्र-नायिका राधा भी "मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा" कहकर प्राणिमात्र की सेवा, जगत-हित एवं लोक-रक्षा में अपना जीवन लगा देती है तथा सम्पूर्ण विश्व में अपने प्रियतम को और प्रियतम में सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त मानती हुई सच्चे हृदय से विश्व-प्रेम एवं विश्व-बंधुत्व के भावों से ओत-प्रोत दिखाई देती है।[3] निस्संदेह कवि ने राधा और कृष्ण को "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भावों से परिपूर्ण अंकित करके अपने युग की सर्वोच्च भावना को काव्य का अतीव सुन्दर रूप प्रदान किया है और प्राणिमात्र की एकरूपता, समता, हृदय की उदारता, अंतःकरण की विशालता आदि से युक्त विश्वप्रेम का ऐसा सजीव चित्रण किया है, जिसे पढ़कर मानव अपने सच्चे स्वरूप का साक्षात्कार कर सकते हैं तथा जिनको अपने जीवन में अपनाकर यथार्थ मानव बन सकते हैं।

सौंदर्य-निरूपण—आजकल सौंदर्य और रस का अटूट सम्बन्ध माना जाता है। वैसे भी सौंदर्य में जो एक अद्भुत आकर्षण होता है, वही रस के

---

१. प्रियप्रवास १६।४१-४२
२. वे जी से हैं अवनि जन के प्राणियों के हितैषी।
प्राणों से है अधिक उनको विश्व का प्रेम प्यारा। १४।२१
३. प्रियप्रवास १६।१०४-११२

लिए अपेक्षित है, क्योंकि उसी आकर्षण के कारण सहृदयों के हृदयों का वर्णित व्यक्ति या पदार्थ के साथ तादात्म्य होकर साधारणीकरण होता है, चित्त में द्रुति उत्पन्न होती है और आतरिक ज्योति फूट पडती है। यही सौंदर्य रसानुभूति में सर्वाधिक सहायक होता है, इसी के कारण पाठकगण सात्विकता से परिपूर्ण होकर योगियो की भाँति मधुमती भूमिका में कुछ क्षणो के लिए पहुँच जाते हैं इसी से अपन-पराय का भेद तिरोहित होकर हम प्रातिभ ज्ञान में लीन हो जाते हैं और रस के आनद-सागर में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। साधारणतया कविजन तीन प्रकार का सौंदर्य-विधान किया करते हैं—(१) रूप-सौंदर्य-विधान, (२) भाव-सौंदर्य विधान और (३) कर्म सौंदर्य विधान। रूप सौंदर्य विधान से तात्पर्य आकृति सबधी सौंदर्य से है इसमें कवियो का ध्यान भाव के विषय या आलम्बन के शारीरिक सौंदर्य की ओर रहता है। भाव-सौंदर्य विधान से तात्पर्य आलम्बन के आन्तरिक भावो या हृदयगत भावनाओ के चित्रण से है। इसमें कवि बाह्य रूप-वर्णन की अपेक्षा आन्तरिक जगत या मानसिक प्रदेश के गूढ रहस्यो का उद्घाटन करता हुआ भावो के अत्यन्त सजीव चित्र अकित किया करता है। तीसरे, कर्म-सौंदर्य से अभिप्राय आलम्बन के उदात्त कार्यों की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करने से है, जिसमे आलम्बन की उन समस्त शारीरिक चेष्टाओ का प्रत्यक्षीकरण कराया जाता है, जो इस जगत मे विभिन्न परिस्थितियो विभिन्न अवस्थाओं एव विभिन्न दशाओ में होती हैं। यह कर्म सौंदर्य, भाव-सौंदर्य का क्रियात्मक रूप है और रूप-सौंदर्य का पोषक है, इसी से किसी व्यक्ति के भाव और रूप की प्रशसा होती है और इसी के कारण वह ससार मे विख्यात होता है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि कवि ने उक्त तीनो सौंदर्यो के कैसे-कैसे चित्र 'प्रियप्रवास' में अकित किए हैं।

(१) रूप सौंदर्य विधान—रूप-सौंदर्य विधान के अन्तर्गत पुरुष एव स्त्री दोनो के रूपो का चित्रण आता है। 'प्रियप्रवास' में इन दोनो रूप-सौंदर्यो को चित्रित करने का प्रयत्न हुआ है। कवि ने प्रमुख रूप से यहाँ श्रीकृष्ण और राधा के रूप सौंदर्य की झाँकी अकित की है। श्रीकृष्ण के शारीरिक स्वरूप का शब्द चित्र अकित करते हुए कवि ने उनके रूप सौंदर्य की झाँकी दो स्थानो पर प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम व जब प्रथम सर्ग में सध्या के समय गायें चराकर लौटते हैं, तब उनके रूप का अत्यंत मनोहारी चित्र अकित किया गया है, जिसमे बताया गया है कि सजल-नीरद के समान तन-कान्ति से युक्त उनका

नवल श्याम शरीर सुकुमारता एवं सरसता से परिपूर्ण है, उनके अंग-प्रत्यंग अत्यंत सुगठित है, उनकी कमर में पीताम्बर तथा सम्पूर्ण शरीर मे रुचिर वस्त्र सुशोभित हैं। उनका वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है। कंधे सुन्दर दुकूल से अलंकृत है। कानो में मकराकृत कुंडल सुशोभित हैं। मुख के समीप विविध भावमयी अलकावली घिरी हुई है। मस्तक पर मधुरिमा से परिपूर्ण मोरमुकुट सुशोभित है, जिसकी श्रेष्ठ चन्द्रिका श्वेत रत्न के समान चमक रही है। उन्नत भाल पर केसर की खौर शोभा देरही है। उनकी मृदुल वाणी, मधुर मुसकान तथा नेत्रों की कमनीयता अत्यंत मोहक है। जघाओं तक लटकने वाली उनकी लम्बी-लम्बी भुजायें हैं। उनका अत्यंत सुपुष्ट तथा समुन्नत वक्षस्थल है। किशोरावस्था के माधुर्य से परिपूर्ण कमल जैसा प्रफुल्लित मुख है और मधुवर्षिणी मुरली हाथ मे शोभा दे रही है। उनके मुख से छवि-समूह छलक रहा है, शरीर से अनुपम छटा पृथ्वी पर छिटक रही है और उनकी श्रेष्ठ दीप्ति सर्वत्र फैल रही है।[1] दूसरा चित्र षष्ठ सर्ग मे अंकित किया गया है, वहाँ पर राधा पवन को श्री कृष्ण के मनोरम रूप को समझाती हुई बताती है कि तू मथुरा मे जाकर बादलों की सी कान्ति वाले शरीर को देखेगी, उनके नेत्रों से अद्भुत ज्योति निकल रही होगी। उनकी मुख-मुद्रा सौम्यता की मूर्ति सी जान पड़ेगी। उनके सीधे-सीधे वचन अमृत से सिंचित होंगे। वे कमर में सुन्दर पीताम्बर धारण किये होंगे। उनके मुख पर पड़ी हुई अलकें उनकी मुख-कान्ति को बढ़ा रही होंगी। उनका सारा शरीर दिव्य सौंदर्य से युक्त होकर साँचे में ढला हुआ सा प्रतीत होगा और दोनो सुन्दर कंधे वृषभ-स्कंध जैसे सजल कान्तिपूर्ण जान पड़ेंगे। उनकी लम्बी-लम्बी भुजायें हाथी के बच्चे की सूँड़ की भाँति-शक्ति संयुक्त होंगी। राजाओं का सा सुन्दर मुकुट उनके सिर पर सुशोभित होगा। कानों में स्वर्ण के कुंडल शोभा दे रहे होंगे। भुजाओं में रत्न-जटित सुन्दर केयूर सुशोभित होंगे। शंख जैसे उठे हुए कंठ मे मोतियों की माला शोभायमान होगी। ऐसे दिव्य एवं भव्य रूप-सौंदर्यशाली श्रीकृष्ण को उनके तेज एवं ओज के कारण सुगमता से पहचाना जा सकेगा।[2]

इन दोनों चित्रों में कवि ने श्रीकृष्ण के शरीर की गठन, एकरूपता, समभात्रा, सुडौलपन, अंगों की सुन्दर रचना आदि का बड़े ही सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। यहाँ कवि ने उस शरीर की साज-सज्जा एवं वेश-रचना

---

१. प्रियप्रवास ११।६–२५

२. वही ६।५६–६०

का वर्णन करके रूप-सौन्दर्य मे चार-चाँद लगा दिये हैं, जिसमे श्रीकृष्ण का दिव्य गुण एव भव्य आभा-सम्पन्न एक सुगठित रूप-चित्र पाठको के सामने आकर प्रस्तुत हो जाता है। यह सारा रूप चित्रण सौंदर्य की भारतीय परम्परा का द्योतक है।

कवि ने नारी के रूप सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए राधा, के शारीरिक सौंदर्य को अकित किया है और लिखा है कि वह रूप के उद्यान की विकसित कली पूर्णिमा के चन्द्र तुल्य मुख वाली थी, अत्यत पतला शरीर था, मुख पर सदैव सुन्दर मुसकान बनी रहती थी, क्रीडा-कला की तो वह मानो पुत्तलिका थी। माधुर्य की मूर्ति थी, उसके कमल जैसे सुन्दर नेत्र थे, उसके शरीर की कान्ति स्वर्ण जैसी थी, लम्बी-लम्बी काली अलकें थीं, वह नाना प्रकार के हाव-भाव से परिपूर्ण थी, उसके कमल जैसे चरण अपनी लालिमा से पृथ्वी को विभूषित करते थे, ओष्ठों की लालिमा बिम्बा और विद्रुम को भी कान्तिहीन कर देती थी, वह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती थी और उसके शरीर की कमनीय कान्ति काम-पत्नी रति को भी मोहित कर देती थी।[1] इस सौंदर्य-चित्र में कवि ने एक प्रसन्नवदना युवती के रूप-माधुर्य की सुन्दर एव सजीव झाँकी अकित की है। इसके अतिरिक्त आगे चलकर इस वियोगिनी युवती के प्रशान्त एव भक्ति भावना से परिपूर्ण रूप की झाँकी दिखाते हुए लिखा है कि जिस समय उद्धव ने जाकर राधा के दर्शन किये, उस समय वह प्रसन्नवदना राधा एक शान्त एव नीरव निकुज मे बैठी हुई थीं। उनके नेत्रों की कान्ति अतीव कोमल बनी हुई थी, परन्तु वहाँ विषादपूर्ण शान्ति छाई हुई थी। मुख-कमल की मुद्रा भी विचित्र दिखाई देती थी, क्योंकि वहाँ आकुलता के सहित प्रफुल्लता विद्यमान थी। इस तरह अत्यत प्रशान्त एव म्लाना युवती राधा एक देवी के समान दिव्यतामयी मूर्ति के रूप मे बैठी हुई दिखाई देती थी।[2] राधा की इन दोनों रूप झाँकियों में कवि ने नारी के उल्लासपूर्ण एव विषादमय शारीरिक सौंदर्य के चित्र अकित किए हैं, जिनमे शारीरिक गठन, अगों का विकास-क्रम, सुडौलपन, समानुपात आदि के साथ-साथ उनमे भावों के अनुकूल मुद्राओं एव मुखाकृतियों आदि की भी सजीव झाँकी मिल जाती है।

भाव-सौंदर्य विधान—यद्यपि भाव सौंदर्य का निरूपण रसों का विवेचन करते समय किया जा चुका है, तथापि किसी एक भाव के चित्रण म कवि ने

---

१. प्रियप्रवास ४।४–८

२ प्रियप्रवास १६।३२-३४

जो अद्भुत चमत्कार दिखाया है, उसे यहाँ दिखाने की चेष्टा की जायेगी। कवि ने 'प्रियप्रवास' में शोक, विषाद, खिन्नता, उदासी आदि के चित्र तो अत्यन्त मार्मिकता के साथ अंकित किये ही हैं, परन्तु उद्धव के आगमन के समय गोकुल में जिस उत्सुकता, उत्कंठा एवं आतुरता की लहर दौड़ गई थी, उसका भी कवि ने बड़ी सजीवता के साथ वर्णन किया है। कवि ने यहाँ बताया है कि जैसे ही उद्धव गोकुल में पधारे, वैसे ही वियोग-दग्धा-जन-मंडली अत्यंत समुत्सुका होकर अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण का आना सोचती हुई उनकी घनश्याम-माधुरी को देखने के लिए अपना-अपना काम छोड़कर रथ के समीप दौड़ी चली आई। जो व्यक्ति पशुओं को बाँध रहे थे, वे बाँधना छोड़कर वहाँ आगये। जो गाय दुह रहे थे, वे दुहना छोड़कर भागे आये। जो पशुओं को खिला रहे थे, वे खिलाना छोड़कर वहाँ आ गये। जो घर में दीपक जला रहे थे, वे दीपक छोड़कर वहाँ भाग कर आगये। जो स्त्री कूये से जल निकाल रही थी वह रस्सी-सहित घड़े को कूये में ही छोड़कर बड़ी आतुरता सहित रथ के समीप दौड़ी चली आई। किसी ने भरा हुआ घड़ा ही कूये पर छोड़ दिया, किसी ने घड़े को सिर से गिरा दिया और रथ में बैठे हुए अपने प्राणवल्लभ को देखने दौड़ी चली आई। यहाँ तक कि समस्त वयस्क, बूढ़े, बालक, बालिका आदि सभी अत्यन्त उत्कंठित एवं अधीर होकर श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए वेगपूर्वक दौड़कर रथ के समीप आगये थे। परन्तु जैसे ही आकर उन्होंने रथ में उद्धव को बैठा देखा उनका सारा उत्साह, उनकी सारी उत्सुकता एवं उनकी सारी उमंग जाती रही और वे हरि-बंधु को देख-देखकर अधीर हो गये।[1] यहाँ तक कवि ने जिस आतुरता एवं अधीरता का वर्णन किया है, वह सर्वथा मार्मिक एवं सजीव है। यद्यपि इस वर्णन पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है, क्योंकि वहाँ पर उद्धव के गोकुल आगमन पर वहाँ के निवासियों की जिस स्थिति का वर्णन किया है, उसको 'प्रियप्रवास' में भी दिखाया गया है,[2] तथापि कवि ने उन प्राणियों में जिस आतुरता एवं अधीरता का समावेश किया है, वह उनकी अपनी उद्भावना है। इसी तरह माता यशोदा के वात्सल्यपूर्ण वियोग[3] गोपियों की विरह-कातरता,[4] राधा की विपन्नावस्था,[5] कृष्ण के जाते

---

१. प्रियप्रवास ६।१२४-१३०
२. श्रीमद्भागवत पुराण, १०।४६।७-१३
३. प्रियप्रवास ७।११-५७
४. वही ११।१-७४
५. वही ४।२८-५३

समय गोकुलवासियों की विषादपूर्ण स्थिति[1] आदि के जो-जो भाव चित्र यहाँ अंकित किए गए हैं, उनमे भाव-सौंदर्य की सजीव झांकी विद्यमान है। परन्तु हरिऔध जी छायावादी कवियों की भांति भावो के वैसे सजीव चित्र अंकित नहीं कर सके हैं, जिनमे भावो की नराकार उद्भावना करते हुए उनके स्वरूप का उदघाटन किया गया हो क्योंकि भावो के चित्रण की यह प्रणाली छायावादी युग की अपनी विशेषता है, फिर भी कवि ने व्यग्य रूप मे भावो का सुन्दर चित्रण किया है।

कर्म सौंदर्य-विधान—कवि का सबसे अधिक ध्यान कर्म-सौंदर्य के विविध चित्र अंकित करने की ओर गया है। यहाँ कवि ने मानवीय कर्मों के विभिन्न रूपो के विभिन्न रगीन शब्द-चित्र अकित किए हैं। कवि ने अपने चरित्र-नायक श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यों की झांकियाँ दिखाते हुए मानवोचित कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलाया है। उसके इन चित्रो मे कही श्रीकृष्ण व्रजवासियो का विनाश करने वाले विभीषणाकार प्रचड कालिय नाग को यमुना जल से भगाते हुए दिखाये गये हैं,[2] कही प्रचड दावानल से अपने साथियों एव गायों का उद्धार करते हुए चित्रित किए गए हैं,[3] कहीं चुने हुए दृढ साहसी वीरो के साथ भयकर जलवृष्टि से बचाने के लिए व्रजवासियों को गोवर्द्धन की कदरायो मे सुरक्षित पहुँचाने का कार्य करते हुए दिखाये गये हैं,[4] कही क्रूरकर्मा एव महा दुरात्मा अघासुर का वध करते हुए दिखाये गये हैं,[5] कहीं केशी नामक विशाल अश्व से व्रजवासियो की रक्षा करते हुए उस महापापी एव बलिष्ठ जीव का वध करते हुए अकित किए गए हैं[6] और कहीं व्योमासुर नामक प्रवचक, महाउत्पाती एव दुरात्मा पशुपाल को मारकर व्रज के सकट को दूर करते हुए चित्रित किए गए हैं।[7] इस तरह कवि ने लोकसेवा, परोपकार, विश्व प्रेम राष्ट्रीयता, जातीय प्रेम आदि से ओत-प्रोत श्रीकृष्ण के कर्म-सौंदर्य को चित्रित करने के लिए उनके विविध लोकोपकारी कार्यों का उल्लेख किया है।

---

१ प्रियप्रवास ५।२०-७८
२ वही ११।१२-५०
३ वही ११।५६-९६
४ वही १२।१८-७१
५ वही १३।३७-५७
६ वही १३।५८-६७
७ वही १३।६८-८३

यही बात राधा के कार्यों मे भी दिखाई गई है। उसके कर्म-सौंदर्य का चित्र अंकित करने के लिए कवि ने उसे अधीर एवं व्यथित गोपियों को धैर्य बंधाते हुए, उनकी व्यथा दूर करते हुए, नंद-यशोदा को सांत्वना बँधाते हुए तथा सम्पूर्ण व्रज में सुख और शान्ति का प्रसार करते हुए अंकित किया है।[४] इसी कारण यहाँ कवि का झुकाव कर्म-सौंदर्य के चित्रण की ओर अधिक दिखाई देता है और इसीलिए 'प्रियप्रवास' काव्य को कर्म-सौंदर्य का रमणीक चित्र-फलक कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं। परन्तु कवि ने श्रीकृष्ण के जिस कर्म-सौंदर्य को यहाँ अंकित किया है, वह केवल कथन रूप मे ही आया है, 'प्रियप्रवास' की रंगभूमि पर वे सब कार्य घटित होते हुए नही दिखाये गए हैं। इसी से यहाँ कर्म-सौंदर्य के चित्रों मे उतनी गतिशीलता एवं प्रभावोत्पादकता नहीं आ सकी है, जितनी कि रामचरितमानस के अन्तर्गत राम के वीरोचित कार्यों मे दिखाई देती है। फिर भी राधा के कर्म-सौंदर्यपूर्ण चित्रों में हमें अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता एवं प्रभावोत्पादकता के दर्शन होते है, परन्तु एक तो ये चित्र अत्यंत अल्प हैं और दूसरे इनमे विविधता एवं संश्लिष्टता का अभाव है। इसलिए कर्म-सौंदर्य के ये चित्र भी अधिक मार्मिक एवं अधिक आह्लादकारी नही बन सके हैं।

6— महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य—महाकवि हरिऔध अपने युग में प्रचलित लोकहित, लोकसेवा, परोपकार, विश्व-बंधुत्व, विश्व-प्रेम आदि भावों से प्रेरित होकर 'प्रियप्रवास' की रचना के लिए अग्रसर हुए जान पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त वे अवतारी पुरुष के चरित्र को मानवोचित कार्यों से परे अलौकिक एवं असंभव कार्यों से युक्त दिखाना उचित नहीं समझते थे, वरन् उसे मानवों के समान कार्य करते हुए तथा मानवों की भाँति ही सुख-दुःख से आन्दोलित होकर स्व-जाति, स्व-देश एवं स्वराष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए उदात्त कार्य करते हुए दिखाना अधिक समीचीन समझते थे। इसी कारण आपने अपने युग की विचार-धारा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण के पौराणिक चरित्र में परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए उसे मानवोचित बनाने की चेष्टा की है तथा उसमें मानवीय आदर्शों की स्थापना की है। मानव-जीवन कैसे उन्नत एवं उत्कृष्ट हो, कैसे आधुनिक मानव अपने कर्त्तव्य की ओर अग्रसर हो, कैसे मानवों के हृदय मे मानवता का संचार हो, कैसे सभी व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति स्नेह एवं सौहार्द्र रखते हुए जीवन-व्यतीत करें और कैसे

---

४. प्रियप्रवास १७।२९-४५

सम्पूर्ण मानवो के हृदय मे विश्व-प्रेम जाग्रत हो आदि, आदि प्रश्न उनके हृदय को आदोलित करते रहते थे और इन सभी प्रश्नो ने ही कवि को 'प्रियप्रवास' लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। कवि की हार्दिक अभिलाषा भी यही थी कि भारत के नर और नारी लोकहित एव विश्व-प्रेम से परिपूर्ण हो। इसी कारण कवि ने यहाँ श्रीकृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम सबधी कार्यों का उल्लेख करते हुए राधा को भी लोकहित एव विश्व-प्रेम मे लीन दिखाया है। हरिऔध जी की दृष्टि मे यह लोकहित एव विश्व-प्रेम ही धर्म अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्ग का प्रदाता है और इसी के कारण मानव अपने यथार्थ रूप को प्राप्त करता है। इसी कारण आपने नवधा भक्ति सबधी विचारो मे भी आमूल परिवर्तन करके वहाँ लोकहित एव विश्व-प्रेम को ही सबसे बडी भक्ति कहा है, इसी को ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन बताया है और इसी को अपनाने के कारण एक साधारण मानव या मानवी को देवता या देवी के पद को प्राप्त करते हुए अकित किया है। अत कवि जितनी महान् प्रेरणा से प्रेरित होकर इस काव्य के निर्माण के लिए अग्रसर हुआ है, उसीके अनुरूप उसने काव्य के कलेवर को भी बदलने की चेष्टा की है। उसका यह परिवर्तन युगानुकूल भले ही हो, किन्तु महान् उद्देश्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने मे अधिक सशक्त नही दिखाई देता। हाँ, यदि कवि महाभारत से श्रीकृष्ण के जीवन-सबधी कोई महान् घटना लेकर अपने इस उद्देश्य को दिखाने की चेष्टा करता, तो उसे अधिक सफलता मिल सकती थी। दूसरे, कवि ने इस उद्देश्य से सबधित घटनाओ को 'प्रियप्रवास' के रगमच पर घटित होते हुए न दिखाकर केवल मौखिक रूप में ही प्रस्तुत किया है इससे भी काव्य की गुरुता, गभीरता एव प्रभावशालीनता मे कमी आ गई है। फिर भी काव्य की प्रेरणा महान् है और काव्य का उद्देश्य भी अत्यत उत्कृष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे काव्य सबधी परम्परागत विचारो के विरुद्ध नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए नये ढग के कथानक, प्रकृति-चित्रण, भाव-रस सबधी सौदर्य आदि को प्रस्तुत किया है और युगानुकूल विचारो को स्थान देते हुए श्रीकृष्ण और राधा के जीवन की आदर्श-झाँकी अकित की है। परन्तु कवि का ध्यान यहाँ पहले तो करुण रस की अविरल धारा प्रवाहित करने की ओर रहा है और आगे चलकर वह लोक-हित एव विश्व-प्रेम से इतना प्रभावित दिखाई देता है कि पग-पग पर इसी की चर्चा करना अधिक समीचीन समझता है। अत भावपक्ष की दृष्टि से सारा काव्य दो भागो मे विभक्त दिखाई देता है उसके प्रथम दस सर्गों में तो शोक एव विषाद

से भरी हुई करुण रस की धारा वह रही है और आगामी सात सर्गों में लोक-हित एवं विश्व-प्रेम का प्रतिपादन मिलता है। इसीलिए कवि को इसका पहला नाम 'व्रजांगना-विलाप' बदलना पड़ा था, क्योंकि यहाँ विलाप के अतिरिक्त लोक-हित एवं विश्व-प्रेम के आदर्श को भी अंकित किया गया है। निस्संदेह कवि का यह आदर्श अत्यन्त महान् है और अपने इसी महान् आदर्श के कारण 'प्रियप्रवास' की गणना महाकाव्यों की कोटि में की जाती है।

प्रकरण ३

प्रियप्रवास का काव्यत्व—कलापक्ष

सर्गबद्धता—साहित्य-शास्त्रों में लिखा है कि *सर्गबन्धात्मक काव्य* महाकाव्य कहलाता है। उसमें कम से कम आठ सर्गों का होना अपेक्षित है और ये सर्ग भी ऐसे होते हैं कि न तो बहुत छोटे और न बहुत बड़े, अपितु *ये किसी एक वृत्त के अनुकूल पद्यों से युक्त होते हैं।* प्रत्येक सर्ग का नाम उसमें वर्णित इतिवृत्त के अनुसार रखा जाता है और प्रत्येक सर्ग के अंत में *उसके अगले सर्ग में आने वाले वृत्त की सूचना दी जाती है।*[1] इस आधार पर विचार करते हुए ज्ञात होता है कि '*प्रियप्रवास*' में भी सर्गबद्धता है। यहाँ सारा काव्य सत्तरह सर्गों में विभक्त है और अधिकांश सर्ग लगभग समान हैं जैसे प्रथम सर्ग में ५१ छंद हैं, द्वितीय में ६४, तृतीय में ८६, चतुर्थ में ५३, पंचम में ८०, षष्ठ में ८३, सप्तम में ६३, अष्टम में ७०, नवम में १३५, दशम में ९७, एकादश में ९६, द्वादश में १०१, त्रयोदश में ११६, चतुर्दश में १४७, पंचदश में १२८, षोडश में १३६ और सप्तदश में ५४ छंद हैं। इनमें से नवम सर्ग से लेकर षोडश सर्ग तक कवि ने कथा-विस्तार के कारण सर्गों में भी कुछ अधिक विस्तार कर दिया है, शेष सभी सर्ग लगभग समान हैं। सर्गों का यह विस्तार एवं संकोच कथावस्तु के विवेचन के आधार पर ही हुआ है और वृत्त के अनुकूल ही समस्त सर्गों की योजना की गई है। जैसे कथा भाग के विस्तृत वर्णन के लिए विस्तृत सर्ग का और किसी एक भाव से संबंधित वृत्त का उल्लेख करने के लिए प्राय छोटे-छोटे सर्गों का प्रयोग किया गया है। यहाँ किसी भी सर्ग के नाम नहीं दिए गए हैं, परन्तु प्रत्येक सर्ग के अंत में आगामी कथा की सूचना देने के लिए योजना बनाई गई है। जैसे प्रथम सर्ग के अंतिम छंदों

---

१ साहित्य दर्पण ६।३१४, ३२०, ३२१

मे ब्रजभूमि में छाये हुए अंधकार और नीरवता का वर्णन करके आगामी सर्ग मे आने वाले कृष्ण गमन संबंधी निराशाप्रद समाचार की ओर संकेत किया गया है तथा ब्रजभूमि की चित्रपटी पर से श्रेष्ठ चित्र के रहित होने का उल्लेख करके कृष्ण के ब्रज छोड़ कर चले जाने की ओर भी सूचित किया गया है।[1] इसी तरह द्वितीय सर्ग के अंत मे "दुख-निशा न हुई सुख की निशा' कहकर जिस भयानक दुख-निशा की ओर संकेत किया है,[2] उसी का वर्णन आगामी तृतीय सर्ग में किया गया है। इसी तरह तृतीय सर्ग के अंत में दुखभरी विभावरी मे यमुना के प्रवाह के रूप मे ब्रज की धरा को रुदन करता हुआ कहकर आगामी सर्ग में ब्रजेश्वरी राधा के रुदन करने की ओर संकेत किया गया है।[3] यही बात अन्य सर्गों में भी विद्यमान है। अतः कवि ने 'प्रियप्रवास' की कथा को उचित सर्गों में विभाजित करके शास्त्रीय नियमानुसार सर्गों का प्रयोग किया है, जिनमे महाकाव्योचित गरिमा, विस्तार एवं रमणीयता के दर्शन होते हैं।

विवरणात्मकता आदि—महाकाव्य के लिए अपेक्षित है कि उसकी कथा विवरण प्रधान होनी चाहिए। उसका आरम्भ मंगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होना चाहिए। उसमे खल-निन्दा तथा सज्जनो की प्रशंसा रहनी चाहिए और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या नायिका अथवा अन्य किसी प्रमुख पात्र या घटना के आधार पर होना चाहिए।[4] इस दृष्टि से भी विचार करने पर पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की कथा पूर्णतया विवरणात्मक है, उसमें स्थान-स्थान पर कवि ने विवरणों को महत्व देते हुए किसी न किसी पात्र के मुख से या अपनी ओर से सारी कथा को कहा है और उसे गतिशीलता प्रदान की है। इतना अवश्य है कि किसी-किसी सर्ग मे कवि विवरण देने मे इतना तल्लीन हो गया है कि कथा-भाग आगे नहीं बढ़ सका है और कवि एक ही स्थल की विविधता का वर्णन करता रहा है। जैसे नवम सर्ग मे कवि वृन्दावन एवं गोवर्द्धन की प्राकृतिक सुषमा का विवरण देने मे इतना संलग्न दिखाई देता है कि वहाँ कथा की गति शिथिल

---

१. प्रियप्रवास २।४८-५१
२. प्रियप्रवास २।६४
३. वही ३।८८-८९
४. साहित्य दर्पण ६।३१६,३२४

हो गई है। इसके अतिरिक्त अन्य सर्गों में भी कथा कहने के लिए एक के बाद दूसरा पात्र रगमच पर आकर ऐसा उपस्थित होता है कि उससे भी कथानक मे त्वरा एव विवरण में गतिशीलता का अभाव खटकने लगा है और सम्पूर्ण घटनायें लम्बे-लम्बे भाषणों के समान पाठकों के हृदय मे ऊब उत्पन्न कर देती हैं। साथ ही य काव्य के वे मार्मिक स्थल भी नही हैं, जहाँ पाठकों का हृदय कुछ क्षण के लिए विराम लेकर रसानुभूति का आनद ले सके। अत कथानक म विवरणात्मकता के होते हुए भी घटना-क्रम-सबधिनी गतिशीलता एव व्यापार प्रदर्शन क अभाव क कारण गुरुता एव गभीरता के साथ साथ कथानक की गत्यात्मकता के दर्शन नही होते और इसीलिए काव्य की यह विवरणात्मकता अधिक आह्लादकारिणी नहीं है।

यद्यपि यहाँ मगलाचरण नही है और आधुनिक युग मे इस नवीनता को प्रारम्भ करने का श्रेय 'प्रियप्रवास को ही है, तथापि विद्वानों ने 'दिवस का अवसान समीप था' इस पक्ति मे आये हुए प्रथम 'दिवस' शब्द की 'दिव्' धातु म बना हुआ द्युतिवाचक अथवा प्रकाशवाचक बतलाकर इसी शब्द को मगला-चरण का द्योतक कहा है।[१] वैसे देखा जाय तो प्रारम्भिक छद मे मगलाचरण भले ही न हो, किन्तु वह वस्तुनिर्देशात्मक अवश्य है, क्योंकि 'प्रियप्रवास' की कथा में व्रज-भूमि के आनन्द और उल्लास के अवसान का जो वर्णन किया गया है, उसकी सूचना 'दिवस का अवसान' कहकर दी गई है, साथ ही 'गगन के लोहित होने' मे स्पष्ट ही रोते रोते व्रजवासियों की आँखों के लोहित हो जाने का सकेत विद्यमान है, क्योंकि नीली अथवा काली आँखे 'गगन' के समान हैं और 'कमलिनी-कुल-वल्लभ' मे समस्त व्रजकुल के प्राणाधार श्रीकृष्ण की ध्वनि विद्यमान है। उनकी प्रभा के चले जाने से व्रजवासियों के जीवन मे पहले रोते-रोते आँखों मे लालिमा छा जाती है और फिर उनके सम्पूर्ण प्रदेश में सदैव के लिए अन्धकार छा जाता है—कवि ने इसी कथा को सकेत रूप मे प्रथम पद्य के अतर्गत कहा है। इसलिए मगलाचरण द्वारा मगलात्मक प्रारम्भ की अपेक्षा यहाँ कवि ने वस्तुनिर्देशात्मक आरम्भ को अपनाया है।

कवि ने सम्पूर्ण ग्रथ मे खल-निंदा एव सज्जन प्रशसा को कितने ही स्थलों पर अकित किया है। द्वितीय सर्ग म ही तृणावर्तीय विडम्बना का

---

१ हरिऔध और उनका प्रियप्रवास, पृ० ४६

उल्लेख करके कवि ने वकासुर, अघासुर, केशी, व्योमासुर आदि दुष्टों के अनर्थकारी कृत्यों का उल्लेख करके 'दुरन्त-नराधिप-कंस' के भयंकर कुचक्र आदि का वर्णन किया है और उनके कुकर्मों की निंदा की है।[१] इसी तरह एकादश सर्ग में श्रीकृष्ण के मानवोचित सत्कार्यों की विवेचना करते हुए उन्हें दिव्य सुगंध से परिपूर्ण सरोज, सुपुष्प से सज्जित पारिजात तथा बिना कलंक का मयंक कहते हुए उनके अपूर्व गुण, रसीली वाणी, विनम्रता, विशेष प्रीति आदि की प्रशंसा की है और व्रज में पीड़ा देने वाले विनाशकारी कालियनाग की निंदा के रूप में खलों की निंदा की है।[२] इसी प्रकार द्वादश सर्ग में भयंकर वर्षा से व्रज-जनों की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण का उल्लेख करके उनकी वाणी की सरसता, लोकहित, विनम्रता, शिष्टता, विश्व-मैत्री, विनोद-प्रियता, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा, विपद्ग्रस्तों की रक्षा आदि गुणों का वर्णन करके सज्जनों के सत्कार्यों की प्रशंसा की है[३] तथा त्रयोदश सर्ग में अघासुर की करालता, उपद्रव-प्रियता एवं निष्ठुर विभीषिका, केशी की प्रवंचना, दुरात्मकता एवं दुरन्तता, व्योमासुर की समाज-उत्पीड़क-प्रवृत्ति, पैशाचिक क्रियायें, पामरता आदि का उल्लेख करके खलों के निंदनीय कार्यों का वर्णन किया है।[४] इस तरह कवि ने स्थान-स्थान पर सज्जनों के सत्कर्मों की प्रशंसा तथा खलों के असत् कार्यों की घोर निंदा की है।

इस काव्य के नामकरण के बारे में पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि पहले कवि ने इसका नाम 'व्रजांगना-विलाप' रखा था, परन्तु फिर इस काव्य में वर्णित प्रमुख घटना के आधार पर 'प्रियप्रवास' नाम रखा, जो सर्वथा समीचीन है।

शब्द-विधान—काव्य में शब्द-विधान ही सबसे महत्वशाली है, क्योंकि कवि अपने हृदयस्थ गूढ़ रहस्यों को शब्दों के द्वारा ही अभिव्यक्त करता है। शब्दों में ही वह शक्ति भरी हुई होती है, जो भावों के बिम्बग्राही चित्र अंकित करती हुई पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जाग्रत कर देती है, जो कि कवि के हृदय में उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए यदि शब्दों में प्रेषणीयता का गुण नहीं है, यदि किसी काव्य में शब्द-विधान शिथिल है अथवा यदि काव्य में भावानुकूल

---

१. प्रियप्रवास २।४६-४९
२. वही ११।६-१७
३. वही १२।७८-९०
४. वही १३।३६-८२

शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है, तो वह काव्य सहृदय-रंजनकारी न होगा, उससे कवि के अभीष्ट की सिद्धि न होगी और वह साहित्य-क्षेत्र में समादृत न होगा। इसी कारण प्रत्येक कवि शब्द-विधान के बारे में अत्यन्त जागरूक रहता है। सम्भवतः इसी कारण शब्द को ब्रह्म भी कहा गया है, क्योंकि यही कवि की 'नियतिकृत नियम रहिताम्' अनन्य परतन्त्राम्' तथा 'आह्लादकारिणीम्' कृति का विधायक होता है और इसी की साधना करके कवि ब्रह्मास्वादसहोदर रस की सिद्धि में सफलता प्राप्त करता है। इस शब्द विधान के बारे में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न राय है।[1] परन्तु इतना सभी मानते हैं कि किसी भी काव्य के लिए भावानुकूल चित्रोपम शब्दों का चयन अपेक्षित होता है। उन शब्दों में यदि लाक्षणिकता हो या वे व्यंग्यात्मक हों तथा लोक-रुचि के विरुद्ध न हों, तो उनसे असाधारण प्रभाव की सृष्टि होती है और यदि वे नादात्मक सौंदर्य एवं ध्वन्यात्मकता से परिपूर्ण होते हैं, तो उनसे सहज ही कोई भाव पाठकों को हृदयंगम करने में सुविधा होती है। किन्तु उनका व्याकरण-सम्मत होना आवश्यक है और यदि उनमें मुहावरे, लोकोक्ति आदि का समावेश हो तो वे और भी रसात्मक हो जाते हैं।

चित्रोपमता—'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने भी पर्याप्त मात्रा में चित्रोपम शब्दों का प्रयोग किया है, जिनमें भावानुकूलता के साथ-साथ कवि की प्रौढ़ अभिव्यक्ति एवं व्यंग्यात्मक रचना शैली विद्यमान है। उदाहरण के लिए तृतीय सर्ग के प्रारम्भ में 'सुनसान निशीथ' का चित्र अंकित करने के लिए कवि ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है, उससे पाठकों के मस्तिष्क में अनायास ही एक चित्र-सा अंकित हो जाता है। जैसे—

अचल पादप नीरव थे खड़े। हिल नहीं सकता एक पत्र था।
च्युत हुए पर भी वह मौन ही। पतित था अवनी पर हो रहा।

अथवा

अवनि तुल्य पड़ा निशि अंक में। अखिल-प्राणि-समूह अवाक था।
तरु-लतादिक बीच प्रसुप्ति की। प्रबलता प्रतिबिम्बित थी हुई।
रुक गया सब कार्य कलाप था। वसुमती-तल भी अति मूक था।
सचलता अपनी तज के मनो। जगत था थिर होकर सो रहा।

---

1 शब्द विधान के लिए देखिए लेखक कृत कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन,' पृ० २१२-२१६

इसी तरह कवि ने शोक एवं करुणा का वातावरण अंकित करने के लिए अत्यंत सशक्त एवं मार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसको पढ़ते ही पाठकों के मस्तिष्क में अनायास ही शोक का चित्र सा अंकित हो जाता है और हृदय में करुणा का सागर उमड़ने लगता है। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणों के परम-प्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।
कैसे होके अलग तुझसे आज भी मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर हैं वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा।

इन पंक्तियों में कवि ने करुणा व्यंजक पदावली का प्रयोग करते हुए यशोदा के हृदय की मार्मिक व्यथा को जो साकार रूप प्रदान किया है, उसमें भावानुकूल शब्दों की योजना होने के कारण चित्रोपमता का गुण विद्यमान है।

वर्ण-मैत्री—कवि ने काव्य को कर्ण-प्रिय एवं पढ़ने में सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए कहीं-कहीं वर्णमैत्री का अत्यंत सुंदर प्रयोग किया है। इस वर्ण-मैत्री के अंतर्गत स्वरमैत्री तथा व्यंजनमैत्री दोनों का विधान आता है अर्थात् जहाँ पर भाव-सूचक एक से स्वरों की योजना की जाती है वहाँ स्वरमैत्री होती है और जहाँ पर भावोद्बोधक अथवा रसानुकूल एक से व्यंजनों की योजना की जाती है, वहाँ व्यंजन-मैत्री होती है। कवि ने उक्त दोनों मैत्रियों का प्रयोग 'प्रियप्रवास' में किया है। स्वर-मैत्री के उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :—

सद्भावाश्रयता अचिन्त्य-दृढ़ता निर्भीकता उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का।

यहाँ कवि ने दीर्घ 'आ' का अधिक प्रयोग करके गिरिराज गोवर्द्धन की दीर्घता, महानता, गुरुता, दृढ़ता आदि की ओर संकेत किया है, जिसकी ध्वनि शब्दों की दीर्घता एवं 'आ' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट सुनाई पड़ रही है। इसी तरह व्यंजन-मैत्री के लिए निम्नलिखित पंक्तियों को लिया जा सकता है :—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति म क्या है न कोई कमी।
पोरो मे कब ईख की विपुलता है ग्रथियो की भली।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नही।

यहाँ पर कवि ने 'क' व्यजन की मैत्री द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए पद को अत्यत सरस एव सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है।

नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मकता—इसी वर्ण-मैत्री का तनिक विकसित रूप नाद-सौंदर्य या ध्वन्यात्मकता के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा शब्दा की ऐसी योजना की जाती है जिससे किसी पदार्थ या व्यापार की विशेष क्रिया स्वय ध्वनित होती है। इस नाद-सौदर्य की सृष्टि के लिए कविजन वस्तु की अभिव्यजना करने वाले विशिष्ट शब्दो की योजना किया करते हैं। अँग्रेजी मे इसे ओनोमैटोपोइया (Onomatopoeia) कहते है। कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे यत्र-तत्र ऐसी शब्द-योजना भी की है, जहाँ नाद-सौंदर्य अथवा ध्वन्यात्मकता विद्यमान है। जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे वर्षाकालीन बादलो के घिरने, बिजली के कड़कने, मेघो के तीव्रता पूर्वक घुमडने आदि की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है .—

अशनि-पात-समान दिगन्त मे। तब महारव था बहुव्यापता।
कर विदारण वायु प्रवाह का। दमकती नभ मे जब दामिनी।
मथित चालित ताडित हो महा। अति प्रचड प्रभजन वेग से।
जलद थे दल के दल आरहे। घुमडते घिरते ब्रज घेरते।

इसी तरह ग्रीष्मकालीन प्रचड लू, सूर्य की महा प्रचडता, पेडों की भयानक प्रकम्पनावस्था, वसुन्धरा की तप्तावस्था, प्राणियो की व्यग्रता आदि से युक्त निदाघ की भयकर ध्वनि निम्नलिखित पक्तियों में सुनी जा सकती है —

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगत मे। ज्वलत था आतप ज्वाल-माल-सा।
पतग की देख महा प्रचडता। प्रकम्पिता पादप-पुज-पक्ति थी।
रजाक्त आकाश दिगन्त को बना। असम्य वृक्षावलि मर्दनोद्यता।
मुहुर्मुहु उद्धत हो निनादिता। प्रवाहिता थी पवनाति भीषणा।
विदग्ध होके कण-धूलि राशि का। हुआ तपे लौह कणा समान था।
प्रतप्त-बालू-इव दग्ध भाड की। भयकरी थी महि-रेणु होगई।
असह्य उत्ताप दुरत था हुआ। महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था।
शरीरियो की प्रिय-शान्ति-नाशिनी। निदाघ की थी अति उग्र ऊष्मता।

लाक्षणिकता तथा व्यंजनात्मकता—हरिऔधजी ने कहीं-कहीं भावों की गहनता, कलात्मकता एवं चमत्कार-प्रदर्शन के लिए लाक्षणिक एवं व्यंजनात्मक शब्दों का भी प्रयोग किया है, वैसे सर्वत्र अभिधा की ही प्रधानता है। इन लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा कवि ने सूक्ष्म मनोभावों एवं विशिष्ट रूप-व्यापारों के अत्यंत हृदयग्राही चित्र अंकित किए हैं। जैसे,

बहु भयंकर थी यह यामिनी। विलपते व्रज-भूतल के लिये।
तिमिर में जिसके उसका शशी। बहु कला-युत होकर खो चला।

इन पंक्तियों में 'व्रजभूतल का विलपना' अर्थात व्रजभूमि पर रहने वाले प्राणियों का विलाप करना, 'तिमिर में उसका शशी खोना' अर्थात् इस दुख के गहन अन्धकार में श्रीकृष्ण का सदैव के लिए व्रज से चले जाना और 'शशी का बहु कला-युक्त होना' अर्थात् व्रज में रहकर श्रीकृष्ण का अनेक मानवोचित गुणों से युक्त होना आदि वर्णित है। अतः यहाँ कवि ने लाक्षणिक पदावली द्वारा कृष्ण-गमन की अत्यंत मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इसी तरह भयंकर दुःख के लिए 'अति-प्रचंड समीरण' का प्रयोग करते हुए कवि ने कंस द्वारा श्रीकृष्ण के लिए भेजे गये निमंत्रण में छिपे हुए भयानक दुःख के बारे में सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग किया है—

परम-कोमल-बालक श्याम ही। कलपते कुल का यक चिह्न है।
पर प्रभो! उसके प्रतिकूल भी। अति-प्रचंड समीरण है उठा।

यही बात व्यंजनात्मक प्रयोगों के बारे में भी है। कवि ने अपनी शब्द योजना द्वारा कहीं-कहीं किसी एक भाव या किसी परिस्थिति की अतीव सुन्दर व्यंजना की है। जैसे कवि ने संध्या की मनोरम झाँकी दिखाकर फिर अचानक सूर्य के तिरोहित हो जाने एवं व्रज में भयंकर अंधकार के घिर जाने का वर्णन करके व्रज के आनंद एवं उल्लासमय जीवन के एकमात्र आधार व्रज के सूर्य श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन एवं उनके जाते ही व्रज में निराशा, शोक, उदासी आदि के घिर जाने की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है :—

"इधर था इस भाँति समा बँधा। उधर व्योम हुआ कुछ और ही।
अब न था उसमें रवि राजता। किरण भी न सुशोभित थी कहीं।
अरुणिमा-जगती-तल-रंजिनी। वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नव-राग-मयी दिशा। अवनि थी तमसावृत हो रही।

यद्यपि इस प्रकार के प्रयोगों की यहाँ भरमार नहीं है, तथापि जो कुछ भी वर्णन मिलते हैं उनमें कवि की कलात्मकता, सूक्ष्मनिरीक्षण की अद्भुत

एव वर्णन कौशल आदि गुण विद्यमान हैं जो काव्य के कला सौष्ठव के परिचायक हैं।

लोकोक्ति एव मुहावरे—कवि हरिऔध लोकोक्ति एव मुहावरे के प्रयोग मे बडे ही सिद्धहस्त हैं। इसके लिए उन्होने एक वृहत ग्रथ 'बोलचाल' के नाम से लिखा है जिसमे नाखून से लेकर चोटी तक जितने भी मुहावरे बन सकते हैं, उनका प्रयोग करते हुए कविता की है। इनके चौखे चौपदे और 'चुभते चौपदे' भी मुहावरो एव लोकोक्तियो स भरे पडे हैं। यहाँ तक कि कवि ने गद्य म भी बडी सरसता सरलता एव सफाई के साथ मुहावरो का प्रयोग किया है। इसमे कोई सदेह नहीं कि लोकोक्तियो एव मुहावरो के कारण कोई भी भाषा अत्यत सशक्त सरस और प्राणवान बन जाती है, उसमे भावो के निरूपण की एक अद्भुत क्षमता आ जाती है और वह उक्ति-सौष्ठव एव अर्थ गाभीर्य से परिपूर्ण होकर पाठक एव श्रोताओ क हृदय को आह्लाद कारिणी प्रतीत होती है। हरिऔध जी ने प्रियप्रवास म भी लोकोक्ति एव मुहावरो का अत्यधिक प्रयोग किया है जिनमे स कतिपय मुहावरे एव लोकोक्तियो के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

मुहावरे—

(१) समा बँधना— इधर था इस भाँति समा बँधा।

(२) दिन खोटे होना— दिन फल जब खोटे हो चुके हैं हमारे।

(३) देखने की ताब न लाना— वह दु ख लखने की ताब क्या हैं न लाते।

(४) लज्जा से मुँह छिपाना— *वह मुख अपना हैं आज मे या छिपाते।*

(५) बातें कान न करना— बातें मेरी कमलिनिपत ! कान को भी न नूने।

(६) पत्थरो को रुलाना— नाना बातें दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।

(७) हृदय पर साँप लोटना— हा! हा! मेरे हृदय पर यो साँप क्या लोटता है।

(८) प्रेम म पगना— पूरा पूरा दिवस पति के प्रेम म तू पगा है।

लोकोक्तियाँ—

(१) अवनि मे ललना जन जन्म को विफल है करती अनपत्यता।

(२) हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं।

(३) वह कब टलता है भाल मे जो लिखा है।

(४) आशा की है अमित महिमा धन्य है दिव्य आशा।
जो छूके है मृतक बनते प्राणियो को जिलाती।

(५) नौका ही है शरण जग मे मग्न होते जनो की।

(६) ऊधो ! माता सदृश ममता अन्य की है न होती ।

(७) जो जी में है सुरसरित सी स्निग्ध धारा बहाता ।
बेटा ही है अवनि-तल में रत्न ऐसा निराला ।

(८) प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ।

(९) कुल-कामिनी को स्वामी बिना सब तमोमय है दिखाता ।

(१०) ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है ।

ब्रजभाषा के शब्द—'प्रियप्रवास' की रचना संस्कृत के तत्सम शब्द-प्रधान विशुद्ध खड़ी बोली में हुई है। खड़ी बोली को संस्कृत-गर्भित लिखने का कारण यह है कि कवि ऐसी ही खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त समझता था, जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता हो, क्योंकि ऐसी भाषा को ही बंगाली, गुजराती, मरहठी, मद्रासी और पंजाबी सुगमता से समझ सकते हैं और ऐसी ही हिन्दी सम्पूर्ण देश में समादर प्राप्त कर सकती है।[1] परन्तु विशुद्ध खड़ी बोली का प्रयोग करते हुए भी कवि ब्रजभाषा के मोह को संवरण नहीं कर सका है और जहाँ आवश्यकता समझी है, तुरंत ब्रजभाषा के शब्द अपना लिए हैं। इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि कवि ने अपनी कविताओं का श्रीगणेश ब्रजभाषा में ही किया था और उस समय तक ब्रजभाषा का ही काव्य-क्षेत्र में एक छत्र राज्य था। इसके साथ ही कवि ने ब्रजभाषा में कितनी ही सुन्दर एवं सरस कविताएँ भी लिखी थी, जिनका संकलन 'रस कलस' के नाम से आज भी प्राप्य है और जो कवि के रचना-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण है। अतः कवि ब्रजभाषा के लालित्य एवं माधुर्य से इतना प्रभावित था कि विशुद्ध खड़ी बोली को अपनाते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इस काव्य में संस्कृत-गर्भित खड़ी बोली में रचना हो रही है, उसने ब्रज-भाषा के अधिकांश शब्दों को अपनाया है तथा स्थान-स्थान पर उन्हें जड़ने का प्रयत्न किया है। यह दूसरी बात है कि वे शब्द ब्रजभाषा में अत्यंत सरस और सुन्दर हों, परन्तु यहाँ खड़ी बोली के मध्य में उनकी रमणीयता एवं सरसता जाती रही है और वे भद्दे एवं ग्रामीण से जान पड़ते हैं। जैसे—ढिग, जुगुत, छन-सुअन, मुंडेरे, थक, लैरू, अकले, ठौरों, याँ, वाँ, लांबी, आगे, बेंटी, ओट, कसर, धौल, फेर आदि।[2] इन शब्दों के प्रयोग द्वारा कविता में कोई विशेष

१, प्रियप्रवास-भूमिका, पृ० ६।

२. देखिए प्रियप्रवास क्रमशः १।३१, ४।४०, ५।५४, ६।४६, ४।१, १०।७०, ८।६०, १०।६२, १२।१, १३।१०६, १३।८३, १४।५८, १४।१५, १५।२, १५।२८, १५।६० १६।६७।

माधुर्य एव सौंदर्य की सृष्टि नहीं हुई है, अपितु ये शब्द वर्णिक वृत्तो की पूर्ति के लिए ही यहाँ अपनाए गए हैं। अत ये काव्य-सौंदर्य मे वृद्धि न करके उसके विघातक से ही जान पडते हैं।

ब्रजभाषा की क्रियायें—हरिऔध जी ने इन शब्दो के अतिरिक्त *ब्रजभाषा की क्रियायें भी अत्यधिक मात्रा मे अपनायी हैं। जैसे—बगराना,* पैन्हना, जतलाना, उलहना, कढना, सवना, पिन्हाना थॅमना, दुरना बिलपना, बघना, लसना, काढ़ना, लोटालना, लखना, जनाना, ऊबना, ताकना, कलपाना, बोधना आदि।[1] इनमे से अधिकांश क्रियाओ का प्रयोग बार-बार हुआ है। यद्यपि ये सभी क्रियायें ब्रजभाषा म अत्यन सरस एव भावोद्बोधक मानी जाती हैं और इनका 'कोमल कान्त वदन' भी अत्यन्त आकर्षक है, तथापि खडी बोली के अतर्गत इनका अनधिकार चेष्टा करना सुन्दर एव सुखद नही जान पडता। यह सम्मिश्रण तो ग्रामीण एव नागरिक स्त्रियो के मिलन जैसा दिखाई देता है, क्योकि जैसे ग्रामीण स्त्रियाँ अपनी बोलचाल और अपनी वेश भूषा के कारण नगर की स्त्रियो मे अलग दिखाई देती हैं तथा उन्हे पहँचानने मे कोई आपत्ति नही होती, वही दशा 'प्रियप्रवास' मे प्रयुक्त ब्रजभाषा की क्रियाओ की है। यहाँ पर भले ही ये क्रियाये अपने कमनीय कलेवर से काव्य के सौंदर्य की वृद्धि करने के लिए प्रयुक्त हुई हो, परन्तु उनके प्रयोग द्वारा सौंदर्य-वृद्धि की अपेक्षा कुछ ह्रास ही हो गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पक्तिया देखिए —

(१) कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कही भी कढे तू।
(२) पीला प्यारा बसन कटि म पैन्हते हैं फबीला।
(३) है पुष्प पल्लव वही ब्रज भी वही है।
ए हैं वही न घनश्याम बिना जनाते।

यहाँ कढे, पैन्हते और जनाते क्रियाओ का प्रयोग कितना अशोभनीय एव अरुचिकर दिखाई देता है, यह सभी काव्य मर्मज्ञ जानते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रवृत्ति एव अपनी गति होती है। यदि उसमे किसी अन्य भाषा के शब्द या क्रियापद आकर बैठ जाते हैं, तो उसकी गति, सरसता एव धारा-वाहिकता में व्याघात उत्पन्न हो जाता है और उसका सौंदर्य भी किसी सीमा

---

१ देखिए प्रियप्रवास क्रमश १।२५, ६।५७, ६।७२, ८।४१, ८।६३, ६।१०४, १०।४४, ११।६४, १२।४, १२।६६, १३।७७, १३।६२, १४।४६, १४।७५, १४।७६, १४।१४२, १४।१४५, १५।७६, १५।११८, १७।१८

तक नष्ट हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि किसी दूसरी भाषा के शब्द या क्रियापद लेने ही नहीं चाहिए। लेने तो अवश्य चाहिए, परन्तु जब अपने पास न हों और उनके लेने से सौदर्य-वृद्धि होती हो, तो ऐसे शब्दों का स्वागत करना अपेक्षित है। फिर भी हरिऔध जी ने उक्त क्रियापद या शब्द इसलिए अपनाये हैं कि यदि उनके स्थान पर खड़ी बोली के शब्दों या क्रियापदों का प्रयोग किया जाता, तो छंद या वृत्त में दोष आजाता। अतः वृत्त या छंद की सीमा एवं उसकी निर्दोषता के विचार से ही आपने व्रजभाषा के शब्द अपनाए हैं। परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इन प्रयोगों की अधिकता ने भाषा-सौंदर्य को कहीं-कहीं अत्यधिक हानि पहुँचायी है।

संस्कृत के शब्द—हरिऔध जी ने संस्कृत के कुछ शब्द तो बिल्कुल वैसे ही अपना लिए है, जैसे कि संस्कृत भाषा में प्रयुक्त होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दी भाषा के भण्डार को संस्कृत के शब्दों ने ही अधिक मात्रा में परिपूर्ण किया है। परन्तु संस्कृत के तत्सम शब्दों की अपेक्षा उसके रूपों का ज्यों का त्यों हिन्दी में प्रयोग करना सर्वथा अनुचित जान पड़ता है। जैसे—यदिच, सच्छास्त्र, मिथः, किम्वा, मुहुर्मुहुः, यहुशः, इस्ततत:, वरंच, किंच, एकदा, स्वीय, स्वल्प, ईदृशी, अत्युज्ज्वला, स्वकीया, प्रायशः, तथैव, मदीय, त्वदीय, स्वभावतः आदि।[1] इन शब्दों को अपनाने के कारण हरिऔध जी का संस्कृत ज्ञान तो अवश्य प्रकट होता है और भाषा को समृद्ध बनाने का प्रयत्न भी दिखाई देता है, परन्तु ऐसे प्रयोग भी अधिकतर भाषा की धारा-वाहिकता में बाधक होते हैं तथा उनसे कोई विशेष रमणीयता एवं सरसता की वृद्धि नहीं होती।

अन्य भाषाओं के शब्द—हरिऔध जी ने कुछ अप्रचलित अन्य भाषाओं के शब्दों का भी अपने काव्य में प्रयोग किया है। जैसे कई स्थानों पर फारसी "जुदा" शब्द को अपनाया गया है,[2] इसके अतिरिक्त एक स्थान पर कवि ने पंजाबी भाषा के 'वेले' शब्द को भी अपनाया है।[3] जो 'समय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु अन्य भाषाओं की भरमार यहाँ नहीं है।

---

१. देखिए प्रियप्रवास क्रमशः ३।७६, ४।८, ६।४, ६।७५, ११।४१, १३।४३, १३।४७, १३।६२, १३।७६, १४।२, १४।२४, १४।३१, १४।७३, १४।९३, १४।४५, १५।१८, १५।५५, १५।८८, १५।९१, १६।२३।

२. देखिए प्रियप्रवास ५।४८, ७।३४

३. वही १४।२६

विकृत शब्द—हरिऔध जी ने वृत्त के आग्रह से अथवा सरसता के अनुरोध से कुछ शब्दो का विकृत रूप में प्रयुक्त करना अधिक समीचीन समझा है। जैसे—छन छन (क्षण क्षण), जुगुत (युक्ति) अकले (अकेले), लाँबी (लम्बी), छिप्रता (क्षिप्रता) तीखी (तीक्ष्ण), गेह (गृह), जसुदा (यशोदा), रतन (रत्न), पै (पर) सरवस (सर्वस्व), मरम (मर्म), माधो (माधव), ढीठ (धृष्ट) थिर (स्थिर), सँदेसा (सदेश), फेर (फिर), आदि।[१]

व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध प्रयोग—'प्रियप्रवास' में कुछ स्थल ऐसे भी मिल जाते हैं, जहाँ पर कवि ने व्याकरण की ओर ध्यान न देकर नवीन ढग से शब्दो का प्रयोग किया है। ये सभी वर्णन च्युति-संस्कृति दोष के अन्तर्गत आते हैं। नीचे इन अशुद्ध प्रयोगों के कतिपय उदाहरण दिये जाते हैं —

(१) दश दिशा अनुरजित हो गई।[२]

यहाँ पर दश शब्द बहुवचन है। अत 'दिशायें तथा होगई' शब्दो का प्रयोग होना चाहिए था परन्तु कवि ने एक वचन का ही प्रयोग किया है।

(२) पलक लोचन की पडती न थी।[३]

कवि ने 'पलक' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है जबकि हिन्दी में यह शब्द प्राय पुल्लिग मे प्रयुक्त होता है।

(३) हा हा खाया बहु विनय की और कहा खिन्न होके।[४]

यहाँ कवि ने 'हा हा खाई' के स्थान पर 'हा हा खाया' प्रयोग किया है जो सर्वथा व्यवहार के विरुद्ध है।

साराश यह है कि कवि ने काव्य की गुरुता, गम्भीरता एव महानता के अनुकूल ही अत्यन्त उत्कृष्ट शब्द विधान किया है। यहाँ संस्कृत के तत्सम शब्दो का ही बाहुल्य है और संस्कृत की प्रणाली का ही प्रयोग सर्वाधिक दिखाई देता है। इसका मूल कारण यह है कि कवि ने संस्कृत के वृत्तो में ही सारा काव्य लिखा है और उन वृत्तों के अनुकूल संस्कृत के ही सज्ञापद एव

---

१ देखिए प्रियप्रवास क्रमश ४।३६, ४।४०, ८।६०, १३।८४, १३।६३, १४।२७, १४।४६, १४।७०, १४।१२७, १५।६, १५।२६, १५।३१, १५।६२, १६।३६, १६।६७।

२ वही १।३

३ वही १।२७

४. वही ५।६६

विशेषणपद अधिक उपयुक्त ठहरते हैं। इसी कारण कवि ने हिन्दी की प्रवृत्ति के विरुद्ध स्त्रीलिंग संज्ञापदों के लिए स्त्रीलिंग विशेषणों का ही प्रयोग किया है। जैसे—"राधा थीं सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा" आदि। इसके अतिरिक्त कवि ने ब्रजभाषा के शब्दों को अधिक इसलिए अपनाया है कि वह ब्रजभाषा को कोई पृथक् भाषा नहीं मानता। उसका मत है—"ब्रजभाषा कोई पृथक् भाषा नहीं है, इसके अतिरिक्त उर्दू-शब्दों से उसके शब्दों का हिन्दी भाषा पर विशेष स्वत्व है। अतएव कोई कारण नहीं है कि उर्दू के शब्द तो निस्संकोच हिन्दी में गृहीत होते रहें और ब्रजभाषा के उपयुक्त और मनोहर शब्दों के लिए भी उसका द्वार बंद कर दिया जावे। मेरा विचार है कि खड़ी बोलचाल का रंग रखते हुए जहाँ तक उपयुक्त एवं मनोहर शब्द ब्रजभाषा के मिलें, उनके लेने में संकोच न करना चाहिए।"[1] यही कारण है कि ब्रजभाषा के शब्द ही नहीं, अपितु क्रियायें भी लेने में कवि ने तनिक भी संकोच नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि वे शब्द या क्रियापद किसी को अच्छे लगें या न लगें, परन्तु कवि ने अपनी धारणा के अनुसार खुले आम उनका प्रयोग किया है।

'प्रियप्रवास' की भाषा का स्वरूप—शब्दों का विवेचन करने के उपरान्त प्रियप्रवास की भाषा का जानना अत्यन्त सुगम एवं सरल हो जाता है। 'प्रियप्रवास' में संस्कृत गर्भित खड़ी बोली को अपनाया गया है। इसलिए कवि का झुकाव बोलचाल की भाषा से सर्वथा दूर संस्कृतमयी पदावली को अपनाने की ओर अधिक रहा है। परन्तु ऐसा नहीं है कि कवि ने सरल एवं सुबोध बोलचाल की खड़ी बोली भाषा का प्रयोग न किया हो। 'प्रियप्रवास' में इसी कारण हमें भाषा के दोनों रूप मिल जाते हैं अर्थात् यहाँ संस्कृत के तत्सम शब्द एवं समास-बहुला-पदावली-युक्त भाषा का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—

> "रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
> तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
> शोभा वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य लीलामयी।
> श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य की मूर्ति थीं।

अथवा—

> नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद-आपूरिता।
> लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भंगिमा-पंडिता।

---

१. प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० ५६

वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणाभूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनन्द-आंदोलिता।

और इसके साथ ही यहाँ अत्यन्त सरल, सरस एवं सुबोध बोलचाल की भाषा भी अपनाई गई है। जैसे —

अहहं दिवस ऐसा हाय! क्यों आज आया।
निज प्रियसुत से जो मैं जुदा हो रही हूँ।
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी।
यह अनुपम थाती मैं तुम्हें सौंपती हूँ।
सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
अब तक न कहीं भी लाडिले हैं पधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे।

उक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि हरिऔध ने खड़ीबोली-हिन्दी का दोनों प्रकार से प्रयोग करते हुए यह दिखाया है कि साहित्यिक हिन्दी के दोनों रूप हो सकते हैं—(१) विशुद्ध संस्कृत गर्भित रूप और (२) बोलचाल का रूप। हरिऔध जी ने यद्यपि बोलचाल की भाषा में फूल पत्ते, बोलचाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे आदि कई ग्रंथ लिखे और वे सदैव मुहावरेदार बोलचाल की भाषा को ही अधिक मार्मिक एवं प्रभावशालिनी मानते रहे, तथापि उनका विशेष झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली की ही ओर रहा। जैसा कि आपने "फूल-पत्ते" की भूमिका में लिखा भी है—"आजकल जिस भाषा में खड़ी बोली की *कविता लिखी जाती है, वह बनावटी है, गढ़ी हुई है, असली बोलचाल की भाषा नहीं है।* इन दिनों गद्य की भाषा भी यही है। यह भाषा अब पढ़े-लिखों में समझ ली जाती है और दूर तक फैल भी गई है। इसमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। इन दिनों इसका लिखना आसान है, इसका अभ्यास *हो गया है,* यह साहित्यिक भाषा बन गई है। संस्कृत भाषा में, उसके शब्दों में, उसके समासों में कैसा बल है, वह कितनी मीठी है, उसमें कितनी लोच है, कितना रस है, कितनी लचक है, कितनी गुंजाइश है, कितना सुभावनापन है, उसमें कितना भाव है, कितना आनन्द है, कितना रंग-रहस्य है, *मैं उसे कैसे* बतलाऊँ। उसमें क्या नहीं, सब कुछ है, उसमें ऐसे ऐसे सामान हैं, ऐसे ऐसे विचार हैं, ऐसे ऐसे साधन हैं, ऐसे ऐसे रत्न हैं, ऐसे ऐसे पदार्थ हैं कि उनके

बिना हम जी नहीं सकते, पनप नहीं सकते, न फूल फल सकते हैं। उससे मुँह मोड़कर हिन्दी भाषा के पास क्या रह जायेगा ? वह कंगाल बन जायेगी।'''......हिन्दी भाषा की चोटी उसी के हाथ में है। ऊँचे-ऊँचे विषय उसी की गोद में पलेंगे, उसी के सहारे हिन्दी भरी पूरी होगी। मैंने जो बोलचाल की ओर ध्यान दिलाया है, उसका इतना ही मतलब है कि एक रूप उसका भी रहे, जिससे वह सब कोर कसर दूर कर अपनी किसी ओर बहनों से पीछे न रहे और इस योग्य बन जाये कि उसे लोग राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर बिठला सकें।"[1]

इस कथन में कवि ने स्पष्ट रूप से यह संकेत कर दिया है कि कवि समय के अनुसार ही संस्कृत पदावली युक्त हिन्दी की ओर झुका है, अन्यथा उसका विचार तो यह है कि बोलचाल की खड़ी बोली हिन्दी ही समृद्ध और सम्पन्न होनी चाहिए। अपने इन्हीं विचारों के कारण कवि प्रियप्रवास-काल से ही दोनों प्रकार की भाषा के प्रयोग करता रहा। 'प्रियप्रवास' सन् १९१३ ई० में लिखा गया था और 'फूल पत्ते' का प्रकाशन सन् १९३५ ई० में हुआ था। इस २२ वर्ष की अवधि में कविका विचार एकदम परिवर्तित हो गया, क्योंकि 'प्रियप्रवास' लिखते समय कवि संस्कृत गर्भित खड़ीबोली को ही राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त समझता था[2] और 'फूलपत्ते' की भूमिका में आकर कवि बोलचाल में प्रयुक्त होने वाली सरल एवं मुहावरेदार खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन करने के बारे में सोचने लगा। अतः 'प्रियप्रवास' की भाषा को कवि के प्रयोगकाल की भाषा कहें तो कोई अनुचित बात नहीं, क्योंकि उस समय कवि यह प्रयोग कर रहा था कि हिन्दी की साहित्यिक भाषा का रूप कैसा होना चाहिए। उसे हिन्दी में शब्द-भंडार की कमी दिखाई दी। इसलिए उसकी दृष्टि उर्दू, ब्रज और संस्कृत भाषाओं की ओर गई और उसने उसकी सजातीय एवं समान प्रकृति वाली भाषाओं से अधिक से अधिक शब्द लेकर उसकी पूर्ति आरम्भ करदी। इस दृष्टि से विचार करें तो कवि हरिऔध का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण दिखाई देता है, क्योंकि हिन्दी भषा के स्वरूप का निर्माण करने के लिए हरिऔध जी ने जो-जो प्रयोग किये, वे व्यर्थ ही नहीं गये, अपितु उनके द्वारा ही एक ऐसी सशक्त एवं समृद्ध खड़ी बोली हिन्दी का निर्माण हुआ, जिसने छायावादी युग में सभी प्रकार के भावों को

---

१. फूल पत्ते-दो चार बातें, पृ० २३-२४
२. देखिए प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ६

निरूपित करने का श्रेय प्राप्त करके आधुनिक युग में राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त कर लिया। अत भाषा की दृष्टि से प्रियप्रवास का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है इसमें कवि के भाषा सबधी प्रयोगों को अच्छी तरह देखा जा सकता है और यह आगामी कवियों के लिए आलोक स्तम्भ बनकर उनका आज भी पथ प्रदर्शन करता हुआ दिखाई देता है।

प्रियप्रवास' मे शब्द शक्तियों का प्रयोग—काव्य मे प्रयुक्त शब्दों का अर्थ जानने के लिए प्राय तीन शक्तियाँ बतलाई गई हैं—अभिधा लक्षणा और व्यजना। इनमें से किसी शब्द के सांकेतिक अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। इसे मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति भी कहा जाता है। जब मुख्यार्थ के समझने में बाधा उत्पन्न होती है तब मुख्य अर्थ से भिन्न परन्तु मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध जिस अर्थ का बोध जो शक्ति कराया करती है उसे लक्षणा कहते हैं और तीसरी व्यजना शक्ति शब्द और अर्थ की वह शक्ति है जो अभिधा और लक्षणा के शान्त हो जाने पर एक ऐसे अर्थ का बोध कराया करती है जो सर्वथा विलक्षण होता है। इनमें से अभिधा शक्ति का कार्य तो सीधा सादा है। वह किसी भी शब्द के अपने मुख्य अर्थ को बताकर शान्त हो जाती है। साधारणतया इसी शक्ति के आधार पर सभी काव्यों के अर्थ साधारण व्यक्ति समझा करते हैं क्योंकि इसके द्वारा किसी चमत्कार या अन्य विलक्षणता का पता नहीं चलता। उनके लिए तो लक्षणा और व्यजना शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। हरिऔध जी के प्रियप्रवास में ऐसे अधिक विलक्षण या चमत्कारपूर्ण अर्थों वाले शब्दों की भरमार नहीं है। इसलिए इस काव्य को समझने के लिए अभिधा का सहारा ही पर्याप्त है। परन्तु कहीं-कहीं कवि ने काव्य कौशल दिखाते हुए ऐसे ऐसे शब्दों पदावलियों एव वाक्यों का प्रयोग भी किया है जिनका केवल अभिधा के द्वारा नहीं समझा जा सकता। उनके लिए अन्य दोनों शक्तियों का आश्रय अपेक्षित है। अत अभिधा शक्ति के निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। उसके द्वारा तो काव्य की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ सुगमता से लगाया ही जाता है क्योंकि जहाँ केवल वाच्यार्थ प्रधान पंक्तियाँ होती हैं वहीं यह अभिधा शक्ति विद्यमान रहती है। जैसे —

अभिधा—दिवस का अवसान समीप था। गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती। कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

उक्त पंक्तियों में संध्या का वर्णन किया गया है और प्रत्येक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ ही यहां अभिप्रेत है। अतः यहां वाच्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अभिधा शक्ति ने इन पंक्तियों को सरलता एवं सुबोधता प्रदान की है।

लक्षणा—जहां तक लक्षणा शक्ति का सम्बन्ध है, इसका प्रयोग प्रायः मुख्यार्थ या वाच्यार्थ में बाधा उत्पन्न होने पर ही होता है। मुख्यार्थ में बाधा उत्पन्न करने वाले कारणों में से कुछ कारण रूढ़िगत होते हैं और कुछ प्रयोजनगत। इसी आधार पर लक्षणा को सर्वप्रथम दो भेदों में विभक्त किया जाता है—रूढ़िलक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। 'प्रियप्रवास' में इन दोनों लक्षणाओं के स्वरूप देखे जा सकते हैं। जैसे :—

रूढ़िलक्षणा—वह-भयंकर थी यह यामिनी।
विलपते व्रज-भूतल के लिये ।२।६१

इन पंक्तियों में 'व्रज-भूतल' से अभिप्राय व्रज के रहने वाले समस्त प्राणियों से है और यहां पर व्रज-निवासियों के शोक-जन्य विलाप एवं रात्रि के कष्ट का ही वर्णन किया गया है। अतः 'व्रज-भूतल' का मुख्यार्थ तो व्रजभूमि ही होता है, परन्तु यहां लक्ष्यार्थ से ही इसका अर्थ व्रज के रहने वाले प्राणी या व्रज के निवासी किया गया है। इस अर्थ-ग्रहण का मूलकारण रूढ़ि है, क्योंकि 'व्रज' कह देने से व्रज के प्राणिसमूह एवं वहां के पदार्थ आदि का बोध हो जाता है। इसी कारण यहां रूढ़िलक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा—प्रिय ! सब नगरों में वे कुबाया मिलेंगी।
न सुजन जिनकी है वामता बूझ पाते।
सकल समय ऐसी सांपिनों से बचाना।
वह निकट हमारे लाड़िलों के न आवें।५।५३

उक्त पंक्तियों में कवि ने कुनारियों अथवा दुश्चरित्र स्त्रियों के लिए "सांपिन" शब्द का प्रयोग किया है। "सांपिन" का मुख्यार्थ सर्पिणी या नागिन होता है, परन्तु एक स्त्री तो नागिन हो नहीं सकती। अतः यहां पर भी मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। परन्तु कवि ने दुष्टा स्त्रियों के बुरे आचरण को बताने के प्रयोजन से "सांपिन" शब्द का प्रयोग किया है, जो नारियों के नागिन के समान विपाक्त होकर भयंकर आचरण करने की व्यंजना कर रहा है। इसी कारण यहां प्रयोजनवती लक्षणा है।

इसके अनन्तर उपादान एवं उपलक्षणा की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किए गए जाते हैं—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। इनमें से जहां

वाक्यार्थ की सगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादान लक्षणा होती है और जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोडकर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते है।[१] 'प्रियप्रवास' मे कवि ने इन दोनो लक्षणाओ का भी प्रयोग किया है।

उपादान लक्षणा—सब परस्पर थे कहते यही।
कमल-नेत्र निमंत्रित क्यो हुए।
कुछ स्वबधु समेत ब्रजेश का।
गमन ही सब भाँति यथेष्ट था।२।२७

इन पक्तियो म कवि न श्रीकृष्ण का नाम न लेकर "कमल-नेत्र" को निमत्रित होना हुआ लिखा है। परन्तु कमल जैसे नेत्र श्रीकृष्ण से अलग नहीं हैं। अत. 'कमल-नेत्र' पद श्रीकृष्ण के कमल जैसे नेत्र का उपादान करता है और यह 'नेत्र' शब्द अपना अर्थ भी नहीं छोडता। इसी कारण 'कमल-नेत्र' पद मे उपादान लक्षणा है।

लक्षणलक्षणा- क्या देखूँगी न अब बढता इदु को आलयो मे।
क्या फूलेगा न अब गृह मे पद्म सौंदर्यशाली।८।६३

उक्त पक्तियो म इदु' तथा 'पद्म' का लक्ष्यार्थ श्रीकृष्ण है, जिसकी व्यजना आलय एव गृह शब्द द्वारा हो रहा है। अत यहाँ 'इदु' और पद्म' शब्द अपना मुख्यार्थ पूर्णतया छोड बैठते हैं। इसी कारण यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

इस लक्षणा को उपमान-उपमेय के आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर पुन दो भागो मे विभक्त किया जाता है—सारोपा लक्षणा और साध्य-वसाना लक्षणा। इनमे से जिस लक्षणा मे विषयी एव विषय की एकरूपता करने के लिए आरोप हो अथवा आरोप्यमाण और आरोप का विषय इन दोनो को शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं और जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दो से प्रकट न किया गया हो और आरोप्यमाण द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[२] इन दोनो लक्षणाओ के स्वरूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' मे विद्यमान है।

---

१ काव्य दर्पण—पृ० ३१-३२
२. वही—पृ० ३५-३६

सारोपा लक्षणा—प्रियपति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है।
अब तक जिसको मैं देखके जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नेत्रतारा कहाँ है। ७।११

उक्त पंक्तियों में कवि ने 'दुःख' में जलधि का और श्रीकृष्ण में क्रमशः 'सहारा', 'हृदय' तथा 'नेत्रतारा' का आरोप किया है। प्रायः रूपक अलंकारों में इसी लक्षणा का प्रयोग होता है। अतः यहाँ सारोपा लक्षणा है।

साध्यवसाना लक्षणा—वह भयंकर थी यह यामिनी।
विलपते ब्रज भूतल के लिए।
तिमिर में जिसके उनका शशी।
बहु कलायुत होकर खो चला। २।६१

इन पंक्तियों में कवि ने "शशि" का तो उल्लेख किया है, जोकि उपमान या आरोप्यमाण है, परन्तु श्रीकृष्ण का उल्लेख नहीं किया है, जो कि उपमेय या आरोप के विषय हैं। अतः केवल आरोप्यमाण या उपमान का वर्णन होने के कारण यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है। प्रायः रूपकातिशयोक्ति अलंकार में इसी लक्षणा का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त सादृश्य और सादृश्येतर के आधार पर प्रयोजनवती लक्षणा को गौणी और शुद्धा इन दो भेदों में भी विभक्त किया जाता है। इनमें से गौणी लक्षणा उसे कहते है जिसमें सादृश्य सम्बन्ध से अर्थात् समान गुण वा धर्म के कारण लक्ष्यार्थ का ग्रहण किया जाता है और शुद्धा लक्षणा वह है जिसमें सादृश्य संबंध के अतिरिक्त अन्य संबंध से लक्ष्यार्थ का बोध होता है।[1] 'प्रियप्रवास' में कवि अरिऔध ने इन दोनों लक्षणाओं का भी प्रयोग किया है। जैसे :—

गौणी लक्षणा—छवी आदौ तिमिरमय था भाग्य-आकाश मेरा।
धीरे-धीरे फिर वह हुआ स्वच्छ सत्कान्तिशाली।
ज्योतिर्माला-वलित उसमें चन्द्रमा एक प्यारा।
राका-श्री ले समुदित हुआ चित्त-उत्फुल्लकारी। १०।५५

यहाँ भाग्य और श्रीकृष्ण को क्रमशः आकाश और चन्द्रमा कहा गया

१. काव्य दर्पण, पृ० ३०

है। दोनो एक नहीं हो सकते। ग्रत यहाँ मुख्यार्थ मे बाधा है। परन्तु दोनों में गुण-साम्य है, क्योंकि जैसे आकाश अंधकारपूर्ण रहता है, उसी तरह यशोदा जी का भाग्य भी श्रीकृष्ण के जन्म से पहले अधकार से भरा हुआ था और जिस तरह अधकारपूर्ण आकाश म चन्द्रमा के उदय होते ही नवीन ज्योति फैल जाती है और वह चन्द्रमा सभी के चित्त को उत्फुल्ल करने वाला जान पड़ता है, उसी तरह श्रीकृष्ण ने भी यशोदा के यहाँ आकर अपने गुणों की ज्योति से सर्वत्र ग्रानद उत्पन्न करते हुए सबके चित्त को उत्फुल्ल बना दिया था। इसलिए यहाँ दो भिन्न पदार्थों मे अत्यत सादृश्य होने से भिन्नता की प्रतीति नही होती। इसमे यहाँ गौडी लक्षणा है।

शुद्धा लक्षणा—यह लक्षणा कही आधार आधेय सबध से तथा कही तात्कर्म्य सबध द्वारा हुआ करती है। आधार आधेय सबध द्वारा जैसे —

> कमल-लोचन कृष्ण-वियोग की। अशनिपात समा यह सूचना।
> परम आकुल गोकुल के लिए। अति अनिष्टकरी घटना हुई।

यहाँ पर कवि ने 'गोकुल' को 'आकुल' कहा है, किन्तु गोकुल ग्राम का आकुल होना सर्वथा असभव है। अत यहाँ आधार-आधेय के सम्बन्ध से गोकुल मे रहने वालो का अर्थ बोध होता है। इसी कारण यहाँ शुद्धा लक्षणा है। इसी तरह तात्कर्म्य सम्बध द्वारा भी शुद्धा लक्षणा का प्रयोग किया जाता है। जैसे—

> श्रीराधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें।
> थोडी सी भी न सुखद हुईं हो गई वैरिणी सी।
> भीनी-भीनी महँक मन की शान्ति को खो रही थी।
> पीडा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी।६।२६

यहाँ प्रात कालीन शीतल एव सुगधित वायु को भी राधा के मन की शान्ति को खोने वाली तथा चित्त को व्यथा देने वाली कहा गया है। अत मुख्यार्थ मे बाधा है, क्योंकि प्रात पवन तो ऐसी होती नही। परन्तु विरहिणियो को प्रात कालीन शीतल एव सुगधित पवन भी सताया करती है, क्योंकि इससे उनके हृदय मे और भी भावो की उद्दीप्ति प्राप्त होती है। इसी कारण तात्कर्म्य या समान कर्म करने के कारण यहाँ उस शीतल एव सुगधित पवन की भीनी-भीनी महँक को भी मन की शान्ति खोने वाली और वायु की स्निग्धता को भी पीडा देने वाली कहा गया है। यहाँ सताप देने के आधिक्य का वर्णन करना ही कवि का प्रयोजन है।

इसी तरह लक्षणा के ऊपर बताए गए चारों भेदों की रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा से सम्बद्ध कर देने पर आठ प्रकार की रूढ़िमूला और आठ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा हो जाती है। फिर प्रयोजनवती लक्षणा को भी गूढ़ और अगूढ़ के भेद से दो भागों में बाँटा जाये तो सोलह प्रकार की लक्षणा होजाती है और धर्मी और धर्म के भेद से इसके बत्तीस भेद हो जाते है तथा पदगत और वाक्यगत होने से चौसठ भेद अकेली प्रयोजनवती लक्षणा के हो जाते हैं। ऐसे ही पदगत और वाक्यगत होने के कारण सोलह भेद रूढ़ि-मूला लक्षणा के माने गये हैं। इस तरह कुल मिलाकर लक्षणा अस्सी प्रकार की हो जाती है। इन सब के उदाहरण खोजने तथा उनका दिग्दर्शन कराने से कोई लाभ नहीं। व्यर्थ ही विस्तार हो जाता है। दूसरे सभी भेदों को 'प्रियप्रवास' मे देखा भी नही जा सकता। अतः थोड़े से उदाहरण देकर ही यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि कवि ने लक्षणा शक्ति का भी प्रयोग किया है, जिससे उसके काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-गांभीर्य की भी सृष्टि हुई है। वैसे उसने अभिधा को अधिक अपनाया है और उसी के आधार पर कथानक मे धारावाहिकता उत्पन्न की है, परन्तु काव्य मे मार्मिक स्थलो को सरस एवं आकर्षक बनाने के लिए कवि ने लक्षणा का सहारा लिया है, जो उसके कला-कौशल का द्योतक है।

व्यंजना—अभिधा और लक्षणा के उपरान्त इस तीसरी व्यंजना शक्ति के सहारे वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे व्यंग्यार्थ का पता लगाया जाता है, जो काव्य मे गूढ़ एवं गम्भीर होकर गुप्तरूप से छिपा रहता है। इस शक्ति के द्वारा काव्य मे निहित सरस एवं आकर्षक गूढ़ार्थों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा इसमें गहन एवं गम्भीर रहस्यों का उद्‌घाटन किया जाता है। इस शक्ति की सबसे बड़ी विशेषता ही यह है कि यह शब्द के बल पर ही नही अर्थ के बल पर भी एक अन्यार्थ को व्यंजित करती है। परन्तु जहाँ शब्द के बल पर यह व्यंग्यार्थ का बोध कराया करती है, वहाँ यह दो प्रकार की होती है—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। इनमें से अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के पंद्रह भेद होते हैं और लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के बत्तीस। साथ ही आर्थी व्यंजना के तीस भेद होते हैं। इस तरह व्यंजना के भी अनेक भेद होते हैं। यदि उन सभी भेदों को 'प्रियप्रवास' में ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जाय, तो मिल सकते है, परन्तु विस्तार-भय से केवल कुछ प्रमुख भेदों के स्वरूप को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करके यह देखने की चेष्टा की जायेगी

कि कवि ने व्यजना-शक्ति का प्रयोग करते हुए काव्य को कितना सरस एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

अभिधा-मूला शाब्दी-व्यजना—सयोग, वियोग, साहचर्य, प्रकरण आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियत्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यजना होती है।[1] जैसे :—

(१) आई वेला हरि गमन की छागई खिन्नता सी।

(२) अब नहीं वह भी अवलोकती, मधुमयी छवि श्री घनश्याम की।

उक्त दोनो उदाहरणो मे हरि और घनश्याम शब्दो के अर्थ क्रमश सूर्य और नीले बादल भी होते हैं, किन्तु 'गमन की वेला' तथा कृष्ण की शोभा का प्रसग रहने के कारण उक्त दोनो शब्द श्रीकृष्ण के ही वाचक हैं। इसलिए यहाँ प्रकरण-सभवा-अभिधा-मूला व्यजना है। एक और उदाहरण लीजिए:—

(१) जिस प्रिय वर को ले ग्राम सूना हुआ है।

इस पक्ति मे 'वर' शब्द के श्रेष्ठ, पति, भेंट, दान, जामाता, केसर आदि कई अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ ग्राम से जाने वाला तथा गोकुल ग्राम को सूना बनाने वाला 'वर' और कोई नहीं श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ही हैं। अत: यहाँ वियोग-सभवा-अभिधा-मूला-शाब्दी-व्यजना है। इसी तरह शाब्दी व्यजना के अन्य भेद भी ढूंढने पर मिल सकते हैं।

लक्षणामूला-शाब्दी व्यजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणमूला शाब्दी व्यजना कहते हैं।[2] यह व्यजना प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा से मिलती-जुलती है। 'प्रियप्रवास' मे इसका भी प्रयोग हुआ है। जैसे —

सखि ! मुख अब तारे क्यो छिपाने लगे हैं।
वह दुख लखने की ताव क्या है न लाते।
परम-विकल होके आपदा टालने मे।
वह मुख अपना है लाज से या छिपाते।

---

१ काव्यदर्पण, पृ० ४२

२ वही, पृ० ४६

क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
वह रुधिर रहा है कौनसी कामिनी का।
विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं।
सखि ! सकल दिशा में आगसी क्यों लगी है ।।

उक्त पंक्तियों में कवि ने तारों के मुख छिपाने, प्राची में रुधिर बहने, पक्षियों के विकल होकर बोलने तथा सभी ओर आग सी लगने का वर्णन करके राधा की विरह-जन्य-आकुलता तथा उसके हृदय की तीव्र वेदना का वर्णन किया है और कवि का प्रयोजन भी यही है कि वह प्रकृति के पदार्थों में मानवीय भावों एवं व्यापारों का आरोप करता हुआ ऐसा वर्णन करके राधा की तीव्र व्यथा का चित्र अंकित करना चाहता है। अतः यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा के साथ-साथ राधा की तीव्र वेदना सम्बन्धिनी अतिशयता व्यंग्य है। इसी से यहाँ लक्षणामूला-शाब्दी व्यंजना है।

आर्थी व्यंजना—जो शब्द-शक्ति वक्ता, बोद्धव्य वाक्य, अन्य संनिधि, वाच्य, प्रकरण, देश, काल, काकु, चेष्टा आदि की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराती है, उसे आर्थी व्यंजना शक्ति कहते है।[1] 'प्रियप्रवास' में आर्थी व्यंजना के द्वारा भी कवि ने चमत्कार के काव्य-कौशल दिखाने की चेष्टा की है। इसके विभिन्न भेदों में से कतिपय भेदों के उदाहरण देकर हम अपनी बात को पुष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य संभवा—

परम सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था। गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र समीर था। पर विराम न था ब्रज-बंधु को।
पहुँचते वह थे शर-वेग से। विपद संकुल आकुल ओक में।
तुरत थे करते वह नाश भी। परम वीर समान विपत्ति का।

यहाँ पर कवि ने एक आभीर के मुख से श्रीकृष्ण के सेवा-कार्यों की प्रशंसा कराते हुए भयंकर वर्षा के समय गोवर्द्धन पर्वत में ले जाकर गोकुल निवासियों की सुरक्षा एवं उनकी विपत्ति-विनाश के लिए जो-जो कार्य किये थे—उनका वर्णन किया है। इस वर्णन द्वारा श्रीकृष्ण की सेवा-भावना, लोक-हित एवं विश्व-प्रेम आदि व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्यार्थ से ही हो रही है। अतः यहाँ वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न-वाच्य संभवा व्यंजना है।

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ४७

देश वैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य संभवा—

प्रशस्त शाखा तरु-वृन्द की उन्हें। प्रतीत होती उस हस्त तुल्य थी।
सकामना जो नभ ओर हो उठा। विपन्न-पाता-परमेश के लिए।
सरोवरों की सुषमा स-कंजता। सु-मेरु औ निर्झर आदि रम्यता।
न थी यथा तथ्य उन्हें विमोहती। अनन्त सौंदर्य-मयी वनस्थली।

इन पंक्तियों में कवि ने वनस्थली के वृक्षों को अपनी अपनी लम्बी-लम्बी डालियों को ऊपर करके अपने हाथ उठाकर ईश्वर से अपनी सुरक्षा के लिए कामना करते हुए दिखाया है और वह रमणीक वनस्थली उद्धव को मोहित न करती हुई दिखाई है। इस वाच्यार्थ द्वारा कवि ने ब्रज के वन प्रदेश में भी व्याप्त गहन शोक की व्यंजना की है, जो देश विशेष के वर्णन द्वारा व्यक्त होरही है। अतः यहाँ देशवैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य संभवा व्यंजना है।

काल-वैशिष्ट्योत्पन्न वाच्य-संभवा—

प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ। पवन में अधिकाधिक गूँजती।
कल प्रलाप सुप्लवित था जहाँ। अब वहाँ पर नीरवता हुई।
विशद चित्रपटी ब्रजभूमि की। रहित आज हुई वर चित्र से।
छवि यहाँ पर अंकित जो हुई। अहह लोप हुई सब काल की।

उक्त पंक्तियों में कवि ने संध्या की मनोरम छटा का वर्णन करके गोकुल ग्राम में सहसा व्याप्त रजनी के घोर अंधकार का वर्णन किया है, जिसके कारण गोकुल की संध्या का वह मनोहर चित्र, जिसमें गाय एवं ग्वाल-बालों के साथ गोकुल के जीवन धन श्रीकृष्ण मुरली बजाते हुए अंकित थे, अनायास उस अंधकार की कालिमा से सदैव के लिए मिट जाता है। इस वर्णन द्वारा कवि ने गोकुल से सदैव के लिए आनन्द के दिवसों का लुप्त हो जाना अथवा वहाँ से सदैव के लिए श्रीकृष्ण के चले जाने की व्यंजना की है। अतः यहाँ काल-वैशिष्ट्य के कारण वाच्योत्पन्न व्यंजना की सुंदर छटा दिखाई देती है।

सारांश यह है कि कवि ने अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना शक्तियों के सहारे काव्य में चमत्कार के साथ साथ सरसता, गंभीरता एवं विचित्रता उत्पन्न करने का सुंदर प्रयास किया है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' में वाच्यार्थ की प्रधानता होते हुए भी यत्र तत्र लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ की छटा भी

विद्यमान है और इसी कारण काव्य में सरसता के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य एवं अर्थ-गांभीर्य की झलक भी मिल जाती है। फिर भी लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ का प्रयोग अधिक नहीं मिलता। इसका एक कारण तो यह है कि यह काव्य कवि की प्रौढ़ कृति नहीं है। दूसरे, इसका निर्माण जिस युग में हुआ था उस समय तक खड़ी बोली इतनी सशक्त एवं सक्षम नहीं हुई थी कि उसमें लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य आसके। इसका पूर्ण विकास आगे चलकर छायावादी युग में हुआ। अतः कवि ने यहाँ अभिधा के सहारे वाच्यार्थ को ही अधिकाधिक रम्य एवं सरस बनाने का प्रयत्न किया है।

'प्रियप्रवास' में गुणों का स्वरूप—गुणों को रस का धर्म कहा गया है। कारण यह है कि विभिन्न रसों का आस्वादन करते समय चित्त के भाव भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसे, शृंगार रस का वर्णन पढ़कर या सुनकर अथवा देखकर हृदय में माधुर्य का संचार होता है और वीर रस के वर्णन द्वारा ओज की दीप्ति रग-रग में फैल जाती है। ये माधुर्य, ओज आदि ही गुण कहलाते है, जो रसों से सम्बद्ध होकर चित्त मे विभिन्न स्थितियों को जाग्रत करते रहते है और हृदय को विस्तृत एवं उदार बनाने में सहायक होते हैं। गुणों की संख्या के बारे में पहले बड़ा विवाद रहा है। भरत मुनि ने दस गुण बतलाए थे। व्यास जी ने उन्नीस गुण कहे। दंडी ने दस गुणों का वर्णन किया। वामन ने उनकी संख्या बीस करदी और भोज ने चौबीस गुणों का निरूपण किया। परन्तु भामह ने केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुणों को ही स्वीकार किया और मम्मटाचार्य ने भी इन तीन गुणों को ही काव्य के लिए सर्वथा उचित समझा। आजकल उक्त तीन गुणों को ही प्रमुखता दी जाती है। वैसे श्लेष, समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि आदि गुण भी माने गए हैं। फिर भी अधिकांश आचार्य तीन गुणों को ही मानते हैं। पं० रामदहिन मिश्र का मत है कि "यद्यपि आचार्यों ने प्रधानतया तीन ही गुण माने है, पर आधुनिक रचना पर दृष्टिपात करने से कुछ अन्यान्य गुणों का मानना आवश्यक प्रतीत होता है। आजकल ऐसी अधिकांश रचनायें दीख पड़ती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण है और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप देख पड़ते हैं।"[१] परन्तु आपने उक्त तीन गुणों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है तथा इनके अतिरिक्त और किसी गुण को प्रमुखता नहीं दी है। इसके अतिरिक्त आचार्य बा० गुलाबराय का मत

---

१. काव्य दर्पण, पृ० ४०६

है कि" मम्मट ने इन दशो को माधुर्य, ओज, प्रसाद—तीन के ही भीतर लाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इस प्रयत्न में उनको आंशिक ही सफलता मिली है। पहली बात तो यह है कि इन दश गुणो की व्याख्या के सम्बन्ध मे धर्म के तत्व की भाँति यही कहा जा सकता है कि "नैको मुनिर्यस्यवच प्रमाणम्" और मम्मट ने यदि वामन के बतलाये हुए दश गुणों की अन्विति तीन मे करदी है तो उसमे और आचार्यों के बतलाये हुए गुणों मे नहीं होती। इसके अतिरिक्त इन दस या बीस गुणो मे हमको शैली के बहुत से तत्व और प्रकार मिल जाते हैं।"[१] इतना मानते हुए भी बाबूजी ने प्रमुखता तीन गुणों को ही दी है।

गुणो की सख्या तीन मानने का प्रमुख कारण यह है कि चित्त की तीन ही प्रमुख वृत्तियाँ होती हैं—कोमल, कठोर तथा मिश्रित। इन तीनो वृत्तियों का सम्बध क्रमश माधुर्य, ओज और प्रसाद से है, क्योकि जो गुण अन्त करण को द्रवित करके अथवा पिघलाकर उसे प्रसन्न कर देता है उसे माधुर्य कहते हैं। यह गुण सभोग शृगार, करुण रस, विप्रलम्भ शृगार और शान्तरस मे रहता है तथा इनमे भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है। इसके लिए ट, ठ, ड, ढ को छोडकर क से म तक के ऐसे वर्ण अपेक्षित होते हैं, जो अपने-अपने अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। इस गुण के लिए समासरहित छोटे-छोटे शब्द अथवा अल्प समास वाली रचना अच्छी होती है। इस तरह मधुर एव कोमल पदो वाली रचना ही माधुर्य गुण के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है,[३] इसी तरह चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण को ओज कहा जाता है।[४] यह गुण वीर, बीभत्स और रौद्र रस मे उत्तरोत्तर प्रकृष्ट रूप से विद्यमान रहता है। इसके लिए ऐसी दीर्घ समासवती एव औद्धत्यपूर्ण पद योजना आवश्यक होती है, जिसमे सयुक्ताक्षर रेफ, सयुक्त अक्षर, द्वित्व वर्ण, टवर्ग, तालव्य शकार, मूर्धन्य षकार आदि रहते हैं।[५], इस गुण का सम्बध चित्त की कठोर वृत्ति स रहता है, जब कि माधुर्य का कोमल वृत्ति से। इसके साथ ही जो गुण 'प्रसाद' कहलाता है वह सहृदय-

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, भाग १, पृ० १६४
२ चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण ८।२
३ साहित्य दर्पण—८।२-३
४ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते। सा० द० ८।४
५. साहित्यदर्पण—८।४-६

हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त में उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकड़ी में आग।[१] यह प्रसाद गुण सभी रसों का धर्म माना जाता है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओं की विशेषता मानी जाती है। सूखे ईंधन में अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपड़े में जल की झलक की भाँति प्रसाद गुण द्वारा चित्त में एक साथ किसी अर्थ का प्रकाश हो जाता है। और वह चित्त को व्याप्त कर लेता है। इनमें से प्रसाद गुण की स्थिति माधुर्य और ओज के साथ भी हो सकती है, परन्तु माधुर्य और ओज दोनों एक साथ नहीं रहते।

माधुर्य—अब यदि 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि हरिऔध जी ने इस काव्य में माधुर्य गुण को अपनाते हुए बड़ी सरस रचना की है। यदि यह कहा जाय कि 'प्रियप्रवास' में माधुर्य का ही प्राधान्य है तो कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि वियोग शृंगार एवं करुणा की अविरल धारा बहाते हुए कवि ने यहाँ अन्तःकरण को द्रवित कर देन वाले अथवा पिघला देने वाले इस गुण का ही सर्वाधिक प्रयोग किया है। यहाँ यशोदा का करुण-क्रंदन, राधा की विरह-कातरता, गोपियों की विक्षिप्तावस्था, गोपों की खिन्नता, व्रज के अन्य प्राणियों की शोकावस्था आदि में सर्वत्र कोमल एवं मधुर पदावली युक्त माधुर्य गुण भरा हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए :—

> हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
> हा ! प्राणों के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
> हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले।
> हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे।
> कैसे होके अलग तुझसे आज भी मैं बची हूँ।
> जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यों बताऊँ।
> हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
> तेरा प्यारा बदन मरती बार मैंने न देखा।[२]

इन पंक्तियों में कवि ने कोमल एवं मधुर पदावली का प्रयोग करते

---

१. चित्त व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च। सा० द० ८।७-८

२. प्रियप्रवास ७।५६-५७

हुए चित्त को पिघलाने के लिए जो मधुर पद-योजना की है, उसमे वियोग एव करुणा के साथ-साथ माधुर्य गुण विद्यमान है। इसे पढते ही अथवा सुनते ही चित्त द्रवित हो जाता है और सारा वर्णन अत्यत हृदयग्राही जान पडता है।

ओज—'प्रियप्रवास' मे यद्यपि माधुर्य की प्रधानता है, तथापि ओज गुण को अपनाते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के शौर्य, पराक्रम एव वीरता का वर्णन किया है। इस गुण के अनुकूल वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस होते हैं, क्योंकि इनके स्थायी भाव उत्साह जुगुप्सा तथा क्रोध के कारण ही हृदय मे दीप्ति उत्पन्न होती है, हृदय का विस्तार होता है और उत्तेजना का सचार होता है। मुख्यतया उत्साह एव क्रोध ही ओज गुण के अधिक अनुकूल होते हैं। 'प्रियप्रवास' मे इसके उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते हैं। जैसे ब्रज को उत्पीडित करने वाले व्योमासुर को एक दिन अपने सामने देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे —

सुधार चेष्टा बहु व्यर्थ हो गई। न त्याग तूने कु-प्रकृति को किया।
अत यही है अब युक्ति उत्तमा। तुझे वधू मैं भव-श्रेय-दृष्टि से।
क्षमा नही है खल के लिए भली। समाज-उत्सादक दण्ड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना। सु-कर्मियो को करता विपन्न है।
अत अरे पामर सावधान हो। समीप तेरे अब काल आगया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू। सम्हाल तेरा बध वांछनीय है।[1]

उक्त पक्तियो मे परुष पदावली युक्त ऐसी रचना की गई है, जिसे सुनकर अथवा पढकर अनायास ही चित्त मे स्फूर्ति आ जाती है, उसमे दीप्ति जाग्रत हो जाती है और आवेग उमड़ आता है। इतना ही नहीं इसमे हृदय मे विस्तार होता है और वह उद्विग्न होकर आवेश युक्त हो जाता है। अत यहाँ ओज गुण विद्यमान है।

प्रसाद—यह गुण तो यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। इसके द्वारा कवि ने अपने काव्य को सरल, सरस तथा सुमधुर बनाने की चेष्टा की है, जिससे उसके अर्थ को समझने मे कोई आपत्ति नही होती। श्रवणमात्र या पठनमात्र से ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

---

१ प्रियप्रवास १३।७७-८२

यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा, है हमें काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन में है भागता सा दिखाता।
सदन रत न जाने कौन क्यों है बुलाता।
गति पलट रही है भाग्य की क्यों हमारे।
उह! कसक समाई जा रही है कहाँ की।
सखि! हृदय हमारा दग्ध क्यों हो रहा है।[१]

उक्त पंक्तियों में कवि ने सरल और सुबोध रचना करते हुए श्रवण-मात्र से अर्थ प्रतीति कराने वाले शब्दों की योजना की है, जो प्रसाद गुण-व्यंजक है।

'प्रियप्रवास' में रीतियों का स्वरूप—रीति शब्द रीङ् गतौ गत्यर्थक रीङ् धातु में क्तिन् प्रत्यय के संयोग से बनता है। अतः रीति का अर्थ है—मार्ग, पंथ, गति, प्रणाली या पद्धति। इसी कारण रीति से किसी लेखक की विशिष्ट रचना-प्रणाली का बोध होता है। साधारणतया प्रत्येक लेखक या कवि के लिखने का ढंग अपना निजी होता है, उसमें कुछ विशिष्टता होती है, जो अन्य कवि या लेखकों में नहीं दिखाई देती और जिसके परिणामस्वरूप हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि अमुक रचना अमुक व्यक्ति की है। यद्यपि यह विशिष्टता या यह भेद अत्यंत सूक्ष्म होता है, क्योंकि एक ही भाषा के कवियों में भाषागत अन्तर तो होता नहीं, केवल उनकी रचना-प्रणाली या भाव-निरूपण की पद्धति में ही अन्तर होता है। इसी कारण काव्य का मर्म समझने के लिए रीति का जानना भी अत्यावश्यक है। अंग्रेजी में इसे स्टाइल (Style) कहकर पुकारते हैं। स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के Stilus, Stylus शब्द से निकला है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'लौह लेखनी' या लोहे की कलम होता है। प्राचीन रोमन काल में पट्टियों के ऊपर मोम जमाकर लोहे की कलम से लिखा जाता था। इसी कारण लिखने के इस ढंग को स्टाइल कहने लगे। अतः स्टाइल भी लिखने या बोलने की विशिष्ट प्रणाली को कहते हैं। इस तरह रीति से अभिप्राय ऐसी पद-संघटना से है जो रसानुकूल शब्दों को अपनाती हुई अपनी विशिष्टता से रसादि का उपकार किया करती है। कालरिज के

१. प्रियप्रवास—४।३२-३३

शब्दों में इसे 'उत्तम शब्दों की उत्तम रचना'[1] कहें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं। रीतियाँ अनेक मानी गई हैं और समयानुसार उनमें परिवर्तन भी होते रहे हैं। परन्तु विद्वानों ने साधारणतया चार रीतियाँ बतलाई हैं—वैदर्भी, गौडी, पाचाली तथा लाटी। ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक रीति का नाम उस देश-विशेष की रचना प्रणाली के आधार पर पड़ा है।

वैदर्भी—प्रायः जहाँ पर माधुर्य-व्यञ्जक वर्णों की ललित योजना होती है, वहाँ वैदर्भी रीति मानी जाती है। इसमें माधुर्य गुण, सुकुमार वर्ण असमास या मध्य समास पदावली तथा सुकुमार रचना का एकत्र योग होता है।[2] 'प्रियप्रवास' में कवि ने इस रीति को अनेक स्थलों पर अपनाया है और ऐसा जान पड़ता है कि सम्पूर्ण काव्य में वैदर्भी रीति की ही प्रधानता है। इस रीति का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त है —

> पूता का यों अवनि-तल में देख के पात होना।
> ऐसी भी थी हृदय-तल में कल्पना आज होती।
> फूले फूले कुसुम अपने अङ्क में से गिरावे।
> वारी वारी सकल तरु भी खिन्नता हैं दिखाते ॥५।१६

यह रचना माधुर्य-गुण व्यंजक है।

गौडी—ओज प्रकाशक वर्णों से युक्त आडम्बर पूर्ण बंध वाली रचना को गौडी रीति कहते हैं। इसमें ओज गुण, कठोर वर्ण, दीर्घ समास, विकट रचना आदि काव्य साधनों का एकत्र समावेश होता है। इसके लिए वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का क्रम से द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण के साथ संयोग किया जाता है, रेफ के साथ किसी वर्ण का आगे या पीछे योग रहता है तथा ट वर्ग युक्त दीर्घ समासों का प्रयोग किया जाता है।[3] 'प्रियप्रवास' में गौडी रीति की बहुलता नहीं है। कहीं-कहीं ऐकाध पद देखने को मिल जाता है :—

> निदाघ का काल महा दुरन्त था। भयावनी थी रवि-रश्मि हो गयी।
> तवा समा थी तपती वसुन्धरा। स्फुलिंग वर्षा रत तप्त व्योम था।
> प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त में। ज्वलन्त था आतप ज्वाल माल सा।
> पतंग की देख महा प्रचण्डता। प्रकम्पिता पादप-पुञ्ज-पंक्ति थी।

---

१ The best words in the best order

२ भारतीय साहित्य शास्त्र, भाग २, पृ० २०६।

३ वही, भाग २, पृ० २०७।

अथवा

सद्भावाश्रयता, अचिन्त्य दृढ़ता, निर्भीकता, उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भंगिमा।
मानों शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का। ६।२३

पांचाली—यह रीति उक्त दोनों रीतियों की अन्तरालवर्तिनी होती है। इसमें पंचम वर्ण वाली, माधुर्य तथा सौकुमार्य गुणों युक्त पदयोजना की जाती है और ओज तथा कान्ति गुणों के अभाव में इसके पद उल्वण (उत्कट) नहीं होते।[1] 'प्रियप्रवास' में इस पांचाली रीति के अनुकूल भी रचना मिल जाती है :—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थी।
फूले कंज समान मंजु-दृगता थी मत्तताकारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि-उन्मेषिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति सी।
काली-कुंचित-लम्बमान अलकें थी मानसोन्मादिनी। ४।४-५

उक्त पंक्तियों में कवि ने पंचम वर्ण वाली अनुनासिक वर्णों से युक्त माधुर्य एवं सौकुमार्य गुण सम्पन्न पदावली का प्रयोग किया है, जिसमें उत्कृष्टता एवं वर्ण-कटुता का सर्वथा अभाव है तथा अधिक लम्बे-लम्बे समास भी नहीं है। अतः उक्त छन्द पांचाली रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

लाटी—रीति के प्रवर्त्तक आचार्य वामन ने तो केवल तीन रीतियाँ ही मानी हैं। रुद्रट ने इस चौथी 'लाटीया' रीति की ओर कल्पना की थी तथा समस्त रीतियों को दो विभागों में बाँटा था अर्थात् पांचाली तथा वैदर्भी रीतियाँ काव्य में माधुर्य की द्योतक बतलाई और गौड़ी तथा लाटी रीतियों को ओजस्विता-प्रदर्शक कहा। रसौचित्य के अनुसार रीतियों के चुनाव की चर्चा सर्वप्रथम रुद्रट ने ही साहित्य-संसार में प्रारम्भ की थी और इसी कारण इन रीतियों का महत्व प्रदर्शित करते हुए रुद्रट ने रसों के अनुकूल इनके प्रयोग

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र पृ० २०८

पर बल दिया था।[1] इस दृष्टि से लाटी रीति में गौडी की भाँति ही ओज प्रकाशक वर्णों की प्रधानता रहती है। गौडी तथा लाटी में अधिक अन्तर न होने के कारण आजकल विद्वान् इस रीति को कोई पृथक् रीति नहीं मानते और गौडी रीति में ही इसका समाहार कर लेते हैं।

इस प्रकार रीति के अनुसार 'प्रियप्रवास' की रचना-पद्धति पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने ओजस्विता एवं तेजस्विता दिखाने के लिए गौडीय तथा लाटीय रीति का प्रयोग यत्किंचित् अवश्य किया है, परन्तु ऐसी योजना अधिक नहीं दिखाई देती। उसका अधिक झुकाव माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों के विवेचन की ओर रहा है और उन्हीं के अनुकूल पांचाली तथा वैदर्भी रीतियों को अधिक अपनाया है। इनमें से भी पांचाली रीति के अनुकूल पंचम वर्णमयी सुकुमार पद-योजना भी अपेक्षाकृत अधिक नहीं है। अतः 'प्रियप्रवास' में कवि सर्वाधिक वैदर्भी रीति को ही अपनाकर चला है। यह रीति प्रायः शृंगार एवं करुण रस के सर्वथा अनुकूल भी होती है और इस काव्य में इन दोनों रसों का ही प्राधान्य है।

'प्रियप्रवास' में वृत्तियों का स्वरूप—वृत्ति शब्द वृत् वर्तने धातु में क्तिन् प्रत्यय करने पर बना है। वर्तन का अर्थ जीवन होता है और वृत्ति उस जीवन की सहायक जीविका को कहते हैं। अतः वृत्ति का साधारण अर्थ है—पुरुषार्थ का साधक व्यापार या जीवन का सहायक व्यापार। काव्य तथा नाटक में इसी सहायक व्यापार द्वारा जो शब्द योजना की जाती है उसे वृत्ति कहते हैं।[2] साधारणतया रीति की सहायक वृत्ति मानी जाती है। ये वृत्तियाँ नाटक तथा काव्य में पृथक्-पृथक् मानी गई हैं। नाटक में चार वृत्तियाँ होती हैं—भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी। परन्तु काव्य में वृत्तियों की अलग कल्पना की गई है। काव्य में मुख्यतया तीन वृत्तियाँ होती हैं—कोमला, उपनागरिका तथा परुषा। इनमें से कोमला वृत्ति का नाम उद्भट ने ग्राम्या भी दिया है।[3]

कोमला—इस वृत्ति के अंतर्गत लकार, ककार, रेफ आदि से युक्त कोमलाक्षरों की बहुलता होती है। इसी वृत्ति के आधार पर कुछ विद्वानों ने

---

१ भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० १६२-१६३

२ वही, पृ० २४६

३. वही, पृ० २४६

अनुप्रास अलंकार का नाम भी कोमलानुप्रास अथवा ग्राम्यानुप्रास दिया है। 'प्रियप्रवास' में इस कोमला वृत्ति के अनुकूल मधुर एवं कोमल रचना भी मिल जाती है, जिसमें कोमलाक्षरों के अंतर्गत सुकुमार भावों का प्रदर्शन हुआ है। जैसे—

> सच्चिन्ता की सरस-लहरी-संकुला-वापिका थी।
> नाना चाहें कलित-कलियाँ थीं लतायें उमंगें।
> धीरे-धीरे मधुर हिलतीं वासना-वेलियाँ थीं।
> सद्वाछा के विहग उनके मंजु-भाषी बड़े थे।
> भोला-भाला-मुख मुत-वधू-भाविनी का सलोना।
> प्रायः होता प्रकट उसमें फुल्ल-अम्भोज-सा था।
> बेटे द्वारा सहज-मुख के लाभ की लालसायें।
> हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी।

उक्त पंक्तियों में कवि ने लकार, ककार तथा रकार युक्त कोमल पदावली का प्रयोग करते हुए कोमला वृत्ति को अपनाया है।

उपनागरिका—इसमें टवर्ग को छोड़कर शेष वर्गों में से उसी वर्ग के अन्तिम वर्ण के संयोग से मधुर शब्दों की योजना की जाती है अर्थात् इसमें ङ्क, ञ्च, न्त, म्प आदि की प्रधानता रहती है। यह वृत्ति नगर की चतुर, सयानी तथा विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने के कारण उपनागरिका कहलाती है।[1] 'प्रियप्रवास' में इस वृत्ति के अनुकूल रचना पर्याप्त मात्रा में मिलती है। जैसे :—

> अतसि - पुष्प - अलंकृतकारिणी। शरद नील-सरोरुह रञ्जिनी।
> नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की। सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी।
> अति-समुत्तम-अङ्ग-समूह था। मुकुट-मंजुल, औ मनभावना।
> सतत थी जिसमें सुकुमारता। सरसता प्रतिबिम्बित हो रही।

अथवा

> जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
> लीची दाड़िम नारिकेल इमिली औ शिंशिपा इंगुदी। आदि

उक्त पदों में अनुस्वार सहित पंचम वर्ण युक्त शब्दों का ही प्राधान्य है। अतः यहाँ माधुर्य व्यंजक सुकुमार वाक्यावली के कारण उपनागरिका वृत्ति है।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० २५७

परुषा—पहले केवल दो ही वृत्तियों का प्रचलन था। परन्तु आचार्य उद्भट ने एक तीसरी परुषा वृत्ति की नवीन उद्भावना की। इसमें स, श, ष वर्णों की टवर्ग या रेफ के साथ मिश्रण होकर संयुक्ताक्षरों की बहुलता पाई जाती है।[1] 'प्रियप्रवास' के कुछ स्थलों पर इस परुषा वृत्ति का भी प्रयोग मिल जाता है। जैसे —

विलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहु।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो।
निपात होता तब भूत-प्राण था।
विभीषिका-गर्त्त नितान्त गूढ़ था।
प्रलम्ब आतंक-प्रसू, उपद्रवी।
अतीव मोटा यम-दीर्घ-दण्ड सा।
कराल आरक्तिम नेत्रवान औ।
विषाक्त फूत्कार-निकेत सर्प था। १३।४०-४१

उक्त पंक्तियों में कवि ने रेफ युक्त संयुक्ताक्षरों का प्रयोग करते हुए सर्प की प्रचण्डता एवं भीषणता का वर्णन करते हुए परुष पदावली का प्रयोग किया है। अतः यहाँ परुषा वृत्ति है।

अतएव कवि ने रसानुकूल रीतियों एवं वृत्तियों का प्रयोग करते हुए अपने रचना-कौशल को प्रकट किया है। जिस तरह 'प्रियप्रवास' में वैदर्भी रीति की बहुलता है, उसी तरह यहाँ उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग भी अधिक मात्रा में किया गया है, क्योंकि माधुर्य-व्यंजक वर्णों की बहुलता उपनागरिका वृत्ति में ही होती है और 'प्रियप्रवास' में ऐसे ही वर्णों की बहुलता है, जो माधुर्य, सौकुमार्य एवं सारल्य के द्योतक हैं।

'प्रियप्रवास' में वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति शब्द 'वक्र' और 'उक्ति' इन दो शब्दों के योग से बना है अर्थात् जहाँ उक्ति की वक्रता हो वही वक्रोक्ति होती है। आचार्य कुंतक ने अपने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगीभणितिरुच्यते।" इनमें से कवि कर्म की कुशलता का नाम है वैदग्ध्य या विदग्धता। भङ्गी का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता और भणिति का अर्थ है कथन प्रकार। इस प्रकार इन तीनों का समन्वित अर्थ यह हुआ कि कवि के कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होने

वाले कथन के प्रकार को वक्रोक्ति कहते हैं।[१] वक्रोक्ति एक अलंकार भी होता है, जो श्लेष वक्रोक्ति तथा काकु वक्रोक्ति के नाम से दो प्रकार का होता है। परन्तु वक्रोक्ति के प्रवर्तक कुंतक ने इसे केवल एक अलंकार न मानकर काव्य में विचित्रता या चमत्कार उत्पन्न करने वाली एक विशिष्ट कथन-प्रणाली माना है, जिसके छै प्रमुख भेद बतलाये है—(१) वर्णविन्यास वक्रता, (२) पद-पूर्वार्ध वक्रता, (३) पद-परार्ध-वक्रता, (४) वाक्य-वक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता और (६) प्रबंध-वक्रता। इस तरह कुंतक ने प्रबन्ध की छोटी से छोटी इकाई वर्ण या अक्षर से आरम्भ करके प्रबंध तक की वक्रता का विवेचन अपने ग्रंथ में किया है, जो पूर्णतया वैज्ञानिक है।[२]

(१) वर्ण-विन्यास वक्रता—इस वक्रता के अन्तर्गत वर्ण के सौंदर्य विषयक सभी प्रकारों का उल्लेख किया गया है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार इसी के अन्तर्गत आ जाते है। वर्ण-मैत्री एवं वर्ण-युग्मों की योजना भी इसी के अन्दर आ जाती है। कुंतक ने बिना प्रयास के ही अनुप्रास के प्रयोग पर बल दिया है और बताया है कि अनुप्रास पर आग्रह रखने से अर्थ का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। अतः ऐसे वर्णों की योजना होनी चाहिए, जो समता तो रखते हों, परन्तु अर्थ-सौंदर्य को ध्यान में रखकर प्रयुक्त हों। अतः शब्दों की झंकार पैर में बजने वाले नूपुरों की झंकार का अनुरणन तो करे, परन्तु उसमें हृदय के लिए आह्लादकारी अर्थ भी रहना चाहिए। 'प्रियप्रवास' में कवि ने यथास्थान अनुरणन का ध्यान रखते हुए इस वर्ण-विन्यास-वक्रता का प्रयोग किया है। जैसे :—

कमल-लोचन क्या कल आ गये।
पलट क्या कु-कपाल-क्रिया गई।
मुरलिका फिर क्यों बन में बजी।
बन रसा तरसा बरसा सुधा। १५।७८

यहाँ पर 'क', 'ल', 'र', 'व' और 'स' की झंकार ने वर्ण-विन्यास की वक्रता उपस्थित करते हुए अपूर्व चमत्कार उत्पन्न किया है, जिससे न तो अर्थ ही विच्छिन्न हुआ है और न अन्य कोई व्याघात उपस्थित हुआ है, अपितु समस्त पदावली पूर्णतया रसात्मक है।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३०१
२. वही, पृ० ३७२–३७३

(२) **पद-पूर्वार्ध-वक्रता**—इस वक्रता का प्रयोग पद के पूर्वार्ध मे वहाँ होता है जहाँ कवि यह चाहता है कि किसी वस्तु का अलौकिक ढग से तिरस्कार किया जाय अथवा अलौकिक रूप मे उत्कर्ष दिखलाया जाय। इसके अनेक भेद होते हैं जैसे—रूढि-वैचित्र्य वक्रता, पर्याय वक्रता, उपचार-वक्रता, विशेषण-वक्रता, सवृत्ति-वक्रता प्रत्यय वक्रता आदि।[1] इनमे से उपचार वक्रता प्रमुख है। इसमे प्राय कवि घन पदार्थों मे द्रव का, अमूर्त पदार्थों मे मूर्त पदार्थ के धर्म का, अचेतन मे चेतन धर्म का आरोप करता हुआ एक विचित्र सरसता उत्पन्न किया करता है।[2] प्रियप्रवास' मे इस उपचार-वक्रता के भी उदाहरण मिल जाते हैं। जैसे —

उपचार-वक्रता—

ब्रज धरा-जन के उर मध्य जो, विरह जात लगी यह कालिमा।
तनिक धो न सका उसको कभी, नयन का बहु वारि प्रवाह भी।

यहाँ पर कवि ने 'शोक' के लिए जिस कालिमा' शब्द का प्रयोग किया है, वह कालिमा तो मूर्त है दिखाई देती है, परन्तु शोक कभी मूर्त नही होता। अत अमूर्त के लिए मूर्त पदार्थ का प्रयोग करके कवि ने यहाँ उपचार-वक्रता का प्रयोग किया है।

पर्याय-वक्रता—इस वक्रता के अन्तगत उचित स्थान पर उचित पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता है जिससे काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ रसात्मकता आ जाती है।[3] प्रियप्रवास मे पर्याय वक्रता का पर्याप्त प्रयोग हुआ है। जैसे —

कालिन्दी सी कलित-सरिता दर्शनीया निकुजें।
प्यारा वृन्दा विपिन विटपी चारु न्यारी लतायें।
शोभा वाले विहग जिसने हैं दिये हा! उसीने।
कैसे माधो-रहित ब्रज की मेदिनी को बनाया। १५।३६

यहाँ कवि ने 'माधो' शब्द का अत्यन्त वक्रता के साथ प्रयोग किया है, क्योकि इसका अर्थ श्रीकृष्ण तथा वसन्त दोनो होता है और जिस तरह

---

१ भारतीय साहित्य शास्त्र भाग २, पृ० ३७६
२ वही, पृ० ३८३
३ वही, पृ० ३८१

वसंत ऋतु के अभाव में सुंदर नदी, दर्शनीय कुंज, सुंदर वन, दिव्य वृक्ष-लतायें, शोभाशाली विहंग आदि का कोई महत्व नहीं, क्योंकि वसंत ऋतु में ही इन सबका सौंदर्य आह्लादकारी हो जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के बिना भी उक्त सभी पदार्थों का होना व्यर्थ है। अतः कवि ने पर्याय-वक्रता के चमत्कार द्वारा 'माधो' शब्द का प्रयोग करते हुए यहाँ अत्यंत मार्मिकता एवं सरसता का संचार किया है। इसी प्रकार पद-पूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेद भी 'प्रियप्रवास' में मिल सकते हैं। परन्तु विस्तारभय से सबका विवेचन न करके उक्त दो उदाहरणों से ही कवि के कौशल का पता लगा सकते हैं।

(३) पदपरार्ध-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग पदों के उत्तरार्द्ध में होता है। इसके भी काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, संख्या-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता आदि कई भेद होते हैं। इनमें से कारक-वक्रता के अंतर्गत कविजन किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारकों में विपर्यय कर देते हैं, जिससे काव्य में समधिक रुचिरता आ जाती है। विशेषतया जहाँ कवि अचेतन पदार्थ में चेतनत्व का आरोप करके उसमें चेतन की सी क्रिया का निवेश कर देते हैं, वहाँ रस का परिपोष होने के कारण कारक-वक्रता होती है।[1] 'प्रियप्रवास' में इस कारक-वक्रता के उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। जैसे—

> ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
> या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प में।
> या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
> मैं हूँ सुंदर मानदंड व्रज की शोभामयी भूमि का।९।१५

यहाँ कवि ने गोवर्द्धन पर्वत का वर्णन एक अत्यंत गर्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में किया है, जो अपने घमंड में चूर होकर सिर ऊपर उठाकर सदैव देखता हो। अतः अचेतन गोवर्द्धन पर्वत में एक चेतन व्यक्ति के गुणों का आरोप करके यहाँ कारक-वक्रता का प्रयोग किया गया है। यह पदपरार्ध-वक्रता का ही एक भेद है। इसके अन्य भेदों को भी 'प्रियप्रवास' में देखा जा सकता है।

(४) वाक्य-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग वाक्य में होता है। इसके असंख्य भेद हैं। सारे अलंकार इसी वाक्य-वक्रता के अंतर्गत आते हैं।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३६८-३६९

वैसे भी कवियों की प्रतिभा अनंत होती है। अतः जिस वाक्य को एक कवि एक प्रकार से कहता है, उसे दूसरा दूसरे ढंग से प्रस्तुत करता है। इसी कारण कवि प्रतिभा की अनंतता के कारण इस वाक्य-वक्रता के भेद भी अनंत हो गये हैं। कुंतक ने इसी वक्रता के अन्तर्गत रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारों का भी विवेचन किया है।[1] इस वाक्य-वक्रता में वस्तु-वक्रता भी आ जाती है और इसी वस्तु वक्रता के अंतर्गत कुंतक ने स्वभावोक्ति अलंकार को मान लिया है, क्योंकि जिस वस्तु का वर्णन स्वभाविक रूप में किया जाय वही स्वभावोक्ति अलंकार होता है। परन्तु कुंतक ने स्वभाविक वर्णन की अपेक्षा रसात्मक वर्णन को अधिक महत्व दिया है। इस वाक्य-वक्रता का रूप 'प्रियप्रवास' में तो पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, क्योंकि अलंकारों के प्रयोग में सर्वत्र वाक्य-वक्रता का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण आगे चलकर अलंकार विधान के अंतर्गत देखे जा सकते हैं। यहाँ अनावश्यक विस्तार के भय से उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

(५) प्रकरण-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग प्रकरण में होता है। प्रकरण प्रबंध के एक देश को कहते हैं और प्रकरणों के पारस्परिक सहयोग से ही प्रबंध की उत्कृष्टता सम्पन्न होती है। यदि प्रकरण में ही किसी प्रकार का दोष होता है, तो सम्पूर्ण प्रबंध भी दोषयुक्त कहलाता है। अतः कविजन प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुंदर बनाने का प्रयत्न करते हैं और उसमें ऐसे-ऐसे प्रसंगों की योजना की जाती है, जिससे सम्पूर्ण काव्य में चारुता आ जाती है। इसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक माना गया है कि नायक के चरित्र में ऐसी दीप्ति उत्पन्न की जाती है, जिससे सौंदर्य का उन्मीलन होता है और लालित्य का विकास होता है इसे प्रकरण-वक्रता का अन्यतम प्रकार स्वीकार किया गया है।[2] इस अन्यतम प्रकार के आधार पर यदि 'प्रियप्रवास' के नायक अथवा नायिका पर दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा कि कवि ने इन दोनों के चरित्र में एक ऐसी अद्भुत वक्रता अथवा चमत्कार की सृष्टि की है, जो 'प्रियप्रवास' में पूर्ववर्ती काव्यों में नहीं दिखाई देती। यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा राधा के जीवन को लोकोपकार, विश्व-प्रेम, स्वजाति-सेवा, लोक-कल्याण, आर्त्तजनों के प्रति उदारता, अनाथों की रक्षा आदि से परिपूर्ण दिखाकर प्रकरण-वक्रता के अन्यतम प्रकार का प्रयोग किया

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३७३-३७४

२ वही, पृ० ४१५

है, जिसके परिणामस्वरूप सारा काव्य भारतीय संस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक बन गया है और आधुनिक युग की प्रारम्भिक सरल कृति होकर भी उत्कृष्ट स्थान का अधिकारी हो गया है।

इस प्रकरण-वक्रता का दूसरा प्रकार यह बताया गया है कि कविजन काव्य की कथावस्तु में अपनी ओर से नवीन कल्पना करके प्रबंध की चारुता बढ़ाया करते हैं : वह नवीन कल्पना भी रस- निर्भर होती है।[1] इस द्वितीय प्रकार का रूप भी 'प्रियप्रवास' में विद्यमान है, क्योंकि कवि हरिऔध ने श्रीकृष्ण की लोक-प्रचलित कथा को बुद्धि-संगत बनाने के लिए कालिय नाग, गोवर्द्धन पर्वत को उँगली पर उठाने, दावानल का पान करने आदि से संबंधित प्रसंगों को प्रतीकात्मक रूप मानकर उनका संबंध मानव-जीवन के व्यावहारिक कार्यों से जोड़ दिया है। जैसे कालिय नाग की कथा को एक प्रपीड़क जाति का कृष्ण द्वारा निष्कासन मान लिया गया है। गोवर्द्धन पर्वत की विशाल कंदराओं में श्रीकृष्ण ने समस्त व्रजवासियों के सुरक्षित रहने की सम्पूर्ण व्यवस्था करदी थी और सर्वत्र श्रीकृष्ण का प्रसार था। इसलिये उसे उँगली पर उठा लिया कहा जाता है। इसी तरह दावानल में शीघ्र घुसकर श्रीकृष्ण ने समस्त गोप एवं गायों को बचा लिया था, इसी को देखकर यह कहा जाने लगा कि श्रीकृष्ण, दावानल को पी गये। इस तरह अलौकिक कथाओं को मानवीय रूप देकर नवीन उद्भावनायें की गई हैं। भले ही ऐसा करने से काव्य में सरसता का संचार न हुआ हो, परन्तु इतना अवश्य है कि इन नवीन कल्पनाओं से काव्य में चमत्कार की सृष्टि हुई है। ऐसे ही इस वक्रता के अन्य भेद भी है। इस प्रकार 'प्रियप्रवास' में प्रकरण-वक्रता को भी अपनाकर कवि ने अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है।

(६) **प्रबंध-वक्रता**—यह वक्रता काव्य की सबसे अधिक व्यापक वक्रोक्ति मानी गई है। इसका आश्रय न तो अक्षर होता है, न पद, न वाक्य और न वाक्यार्थ, वरन् आदि से लेकर अंत तक सम्पूर्ण काव्य ही इस वक्रोक्ति का आधार होता है। इसके भी विभिन्न भेद होते हैं। उनमें से प्रथम भेद यह है कि जहाँ कवि मूल कथानक के रस को बदल कर नवीन चमत्कारी रस का अविर्भाव करता है, जिसमें कथामूर्ति आमूल रसस्निग्ध हो जाती है तथा

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र पृ० ४१६

श्रोताओं का विशेष अनुरजन होता है।[1] दूसरा भेद यह है कि कभी-कभी कथानक का समग्र भाग रसमय नही होता। आदि अश अधिक सरस तथा हृदयग्राही होता है और उत्तर अश अधिक सरस नहीं होता, तो कवि विरस अश को छोडकर केवल सरस अंश को लेकर अपने काव्य की सृष्टि करता है। तीसरा भेद यह है कि कविजन एक ही कमनीय फल की प्राप्ति के उद्देश्य से कथानक आरभ करते हैं परन्तु नायक अपने बुद्धि-वैभव से अन्य फलो को भी प्राप्त कर लेता है। चौथा भेद काव्य के नाम मे चमत्कार या वक्रता का होना बतलाया गया है और पाँचवा भेद वहाँ माना गया है जहाँ एक ही प्रसिद्ध कथानक को भिन्न-भिन्न रूप में अकित करते हुए कविजन विलक्षणता उत्पन्न किया करते हैं।[2] उक्त भेदो के आधार पर जब 'प्रियप्रवास' पर दृष्टि डाली जाती है तब पता चलता है कि यहाँ प्रबध-वक्रता के प्रथम भेद को पूर्णतया तो अपनाया नही गया है क्योकि प्राय कृष्ण-गमन एव व्रज के विलाप आदि मे जिस रस का वर्णन अन्य काव्यो मे है, उसी रस को कवि ने भी अपनाया है, परन्तु हाँ कवि ने उस विप्रलम्भ शृगार के शोक का वर्णन यहाँ इतना गहन एव स्थायी रूप देते हुआ किया है, जिससे वह शोक सचारी भाव न रहकर स्थायी भाव बन गया है और करुण रस का आविर्भाव हो गया है।

प्रबध वक्रता के दूसरे भेद को भी कवि ने अपनाया है, क्योकि प्राय उसने कृष्ण गमन, व्रजवासियो के विलाप, कालिय नाग, दावानल, गोवर्द्धन-पर्वत का उँगली पर उठाना, उद्धव-गोपी सवाद, उद्धव राधा सम्वाद आदि उन्हीं प्रसगो को यहाँ स्थान दिया है जो सरस हैं तथा हृदयग्राही हैं और अन्य नीरस प्रसगो को नहीं अपनाया है, उनके केवल नाम देकर ही छोड दिये हैं, जैसे पूतना की कथा, चाणूर मल्ल कस आदि के बध की कथा इत्यादि। उक्त प्रसग कवि के अभिप्रेत रस के अनुकूल नहीं हैं। अत यहाँ उन्हे न अपनाकर केवल विरह-वर्णन एव राधा-कृष्ण के विश्व प्रेम से सबधित प्रसगों को ही सगुम्फित किया गया है। इस वक्रता का तृतीय भेद यहाँ नहीं अपनाया गया है। हां चतुर्थ भेद अवश्य विद्यमान है, क्योंकि कवि ने पहले इस काव्य का नाम 'व्रजांगना-विलाप' रखा था, परन्तु फिर 'प्रियप्रवास' कर दिया। इस नाम मे एक विशिष्ट वक्रता एव चमत्कार विद्यमान

---

१ भारतीय साहित्य शास्त्र ४२१-४२२

२ वही, पृ० ४२३-४२४

है, क्योंकि काव्य में केवल गोपियों का विलाप ही विलाप नहीं है, यहाँ गोप, गोपी, नंद, यशोदा, राधा आदि भी विलाप करती हैं। दूसरे, विलाप को ही यहाँ महत्व प्रदान नहीं किया गया है, अपितु श्रीकृष्ण के चले जाने पर राधा के हृदय में किस तरह विश्व-प्रेम जाग्रत होता है, इसको प्रमुख रूप से दिखाने की चेष्टा की गई है। अतः ये बातें 'ब्रजांगना-विलाप' नाम से सिद्ध न होती, जबकि 'प्रियप्रवास' अर्थात् 'प्रिय के गमन' द्वारा पूर्णतया सिद्ध हो रही हैं। इसी कारण यहाँ प्रबंध-वक्रता के चतुर्थ प्रकार के दर्शन होते हैं। प्रबंध-वक्रता का पांचवां भेद भी किसी न किसी प्रकार से यहाँ मिल जाता है, क्योंकि कवि ने लोक-प्रसिद्ध श्रीकृष्ण की कथा को एक नया मोड़ एवं नया रूप प्रदान करते हुए ही यहाँ प्रस्तुत किया है, जिससे कथानक में चारुता आगई है और प्रबंध काव्य में नवीनता के साथ-साथ मार्मिकता आगई है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' में वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों एवं भेद-प्रभेदों का प्रयोग करते हुए काव्य को सरस एवं मार्मिक बनाने की चेष्टा की है और चमत्कार उत्पन्न करते हुए कौतूहल की भी सृष्टि की है। परन्तु ऐसा नहीं है कि सारा काव्य वक्रोक्ति से ही परिपूर्ण हो। वक्रोक्ति के ये भेद तो यत्र-तत्र ही मिलते हैं और जहाँ तक प्रबंध-वक्रता का प्रश्न है, वह भी काव्य को अधिक विशिष्टता प्रदान नहीं करती, अपितु उसके द्वारा कहीं-कहीं तो कथा हास्यास्पद भी हो गई है। जैसे कवि ने प्रायः अंधविश्वास एवं रूढ़ि परम्परा को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, परन्तु तृतीय सर्ग के अंतर्गत नीरव निशीथ में विकट-दंत दिखाकर प्रेतों एवं मुख-फैलाए हुए प्रेतिनियों का वर्णन करके कवि स्वयं अंधविश्वास में लीन हो गया है। इसी तरह कालीदह में कृष्ण के पेड़ पर चढ़कर कूदने, यमुना में लापता हो जाने तथा उस कालीनाग के सिर पर खड़े होकर वंशी बजाने का वर्णन करके कवि ने अलौकिकता को ही अपना लिया है और वह किसी प्रकार भी इस घटना को मानवीय रूप नहीं दे सका है। यही बात गोवर्द्धन पर्वत के उँगली पर उठाने की है। हरिऔध जी ने लिखा है कि भयंकर वर्षा के समय श्रीकृष्ण ने समस्त व्रजजनों को प्रेरणा देकर या अपनी वाणी से उत्तेजित करके या उठाकर गोवर्द्धन पर्वत की कंदराओं में सुरक्षित भेज दिया था और श्रीकृष्ण में इतनी स्फूर्ति थी कि वे समस्त व्रजवासियों के पास तुरन्त पहुँच जाते थे तथा जो कुछ वे कहते थे सभी लोग उसे करने लिए तुरन्त तैयार हो जाते थे। बस इसी बात को मुहावरे के रूप में "उँगली पर उठाना"

कहते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन के आस-पास रहने वालों को बस इसी तरह उंगली पर उठा लिया था। कवि के इस निरूपण में भी कोई विशेष वक्रता नहीं आ पाई है। ऐसी ही अन्य बातें भी हैं। अतः प्रबंध-वक्रता का कोई उत्कृष्ट रूप यहाँ दिखाई नहीं देता। इसी कारण यहाँ वक्रोक्ति को तो अपनाया गया है, परन्तु उसका कोई विशिष्ट रूप इस काव्य में *चित्रित नहीं* हुआ है।

अलंकार-विधान—"अलंकरोतीति अलंकार" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो अलम् अर्थात् भूषित करे वह अलंकार कहलाता है। वामनाचार्य ने "सौंदर्यमलङ्कार" कहकर अलंकार को शब्द और अर्थ में सौंदर्य उत्पन्न करने वाला माना है। परन्तु अधिकांश विद्वान् गुणों को काव्य का स्थायी धर्म और अलंकारों को अस्थायी धर्म मानते हैं। वैसे भी अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं हो सकते। इसलिए दंडी की यह परिभाषा उचित ही है कि "काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" अर्थात् अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं। परन्तु चन्द्रालोककार जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जो कोई काव्य को अलंकार से रहित मानता है, वह विद्वान् अग्नि को उष्णता से रहित क्यों नहीं मानता।[1] इससे अलंकारों की अनिवार्यता पर जोर दिया गया दिखाई देता है। परन्तु आगे चलकर आपने "हारादिवदलंकार सन्निवेशो मनोहर" कहकर अलंकारों को हार आदि आभूषणों की भाँति काव्य-शरीर को सजाने वाला माना है। अब जिस तरह बिना आभूषणों के भी शरीर की शोभा हो सकती है, उसी तरह बिना अलंकारों के भी काव्य सुशोभित एवं मनोहर बन सकता है। परन्तु भामह ने लिखा है—"न कान्तमपिनिर्भूषं विभाति वनिता-मुखम्" अर्थात् सुन्दर होकर भी स्त्री का मुख बिना आभूषणों के शोभा नहीं देता और इसी बात को आचार्य केशव ने इस तरह लिखा है कि भले ही कोई स्त्री सुन्दर जाति की हो, सुलक्षणी हो, सुन्दर वर्ण की हो, सरस हो और सुन्दर वृत्त की हो, परन्तु जैसे वह बिना आभूषण के शोभा नहीं देती, वैसे ही कविता भी उक्त सभी लक्षणों से युक्त होकर भी बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाती।[2] अतः इन आचार्यों के मतानुसार कविता में अलंकारों का होना

---

१ अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्माद् अनुष्णमनलं कृती। —चन्द्रालोक १।८

२. जदपि सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त।

सौंदर्य के लिए सर्वथा अपेक्षित है। यही कारण है कि सभी कवि किसी न किसी सीमा तक अपने काव्य में अलंकारों को अपनाते आये हैं और अलंकारों से कोई भी अपना पल्ला नहीं छुड़ा पाया है। परन्तु अलंकारों की अधिकता कभी रुचिकर नहीं होती।

'प्रियप्रवास' में कवि हरिऔध ने भी अलंकारों को अपनाया है और भाव-निरूपण में उनका उचित उपयोग किया है। साधारणतया अलंकार कथन के विभिन्न ढंग हैं। इसलिए काव्य में उनका प्रयोग सर्वथा अनिवार्य सा हो जाता है। जब कथन-प्रणाली ही अलंकार है, तब काव्य इनसे कैसे मुक्त हो सकता है? 'प्रियप्रवास' में इसी कारण अलंकारों के विभिन्न रूप विद्यमान हैं और कवि ने चमत्कार एवं सौंदर्य की सृष्टि के लिए उनका उचित उपयोग किया है। परन्तु हरिऔध जी के अलंकार-विधान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें परम्परागत उपमानों की अधिकता होने पर भी उनके प्रयोग में नवीनता दिखाई देती है और अलंकारों के कारण कहीं भी रस या भाव-निरूपण में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ है। वैसे हरिऔध जी ने अलंकारों के बहुत से भेदों को अपने काव्य में स्थान दिया है। परन्तु विस्तारभय से केवल थोड़े से अलंकारों के उदाहरण देकर ही उनके अलंकार-विधान की विशेषताओं को जानने का प्रयत्न किया जायेगा।

'प्रियप्रवास' में अलंकारों का स्वरूप—अलंकारों को मुख्यतया तीन भागों में विभक्त किया जाता है—शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा उभयालंकार। जहाँ शब्द के कारण कुछ चमत्कार होता है वहाँ शब्दालंकार होता है, जहाँ अर्थ में कविजन कुछ चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं वहाँ अर्थालंकार होता है और जहाँ दोनों अलंकार साथ होते हैं वहाँ उभयालंकार होता है। परन्तु प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के ही अलंकार होते हैं। शब्दालंकार में से अनुप्रास अलंकार प्रमुख है। इस अलंकार द्वारा वर्ण-मैत्री का प्रयोग करते हुए एकसी झंकार वाले शब्दों का एक साथ प्रयोग किया जाता है। इसके पांच भेद माने गये है, परन्तु उनमें से प्रमुख भेदों के स्वरूप 'प्रियप्रवास' में इस तरह विद्यमान हैं:—

छेकानुप्रास—

> फूली फैली लसित लतिका वायु में मंद डोली।
> प्यारी-प्यारी ललित-लहरें भानुजा में विराजी।
> सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
> कूलों कुंजों कुसुमित वनों में जगी ज्योति फैली

यहाँ पर 'फूली-फली' में 'फ' और 'ल' की, 'लसित-लतिका' में 'ल' और 'त' की, 'ललित-लहरें' में 'ल' की, 'कलित-किरणें' में 'क' की, 'कूली-कुजों' में 'क' की और 'जगी-ज्योति' में 'ज' की एक-एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास अलंकार है।

वृत्यनुप्रास—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति में क्या है न कोई कमी।

यहाँ 'क' की अनेक बार आवृत्ति हुई है, इसलिए वृत्यनुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

किस तपोवन किस काल में सच बता मुरली कल नादिनी।
अवनि में तुझको इतनी मिली, मधुरता, मृदुता, मनहारिता।

यहाँ अन्तिम शब्दों में दन्त्य-वर्णों की समता होने से श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास—यह अनुप्रास वहीं होता है, जहाँ तुकांत छन्द लिये जाते हैं। परन्तु 'प्रियप्रवास' तो अतुकान्त छन्दों में लिखा गया है। अत. यहाँ इस अलंकार का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। फिर भी कहीं-कहीं इसकी झलक विद्यमान है। जैसे,

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि-निमग्ना का सहारा कहाँ है।

यमक—

विलसित उर में है जो सदा देवता सा।
वह द्विज उर में है ठौर भी क्यों न देता।
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यों।
जिस बिन कल पाते हैं नहीं प्राण मेरे।

यहाँ 'कलपाता' और 'कलपाते' शब्द एक से होकर भी अलग-अलग अर्थ के द्योतक हैं।

पुनरुक्ति—

पुत्र-प्रिया-सहित मंजुल राग गा-गा।
ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।
ले-ले अनेक उर-वेधक-चारु तानें।
की श्याम ने परम मुग्धकरी क्रियायें।

यहाँ 'गा-गा' 'ला-ला' और 'ले-ले' में एक ही बात को बार-बार कहकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

श्लेष—

> विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
> प्रियतम ! बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
> अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
> मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो।

यहाँ 'लाल' शब्द पुत्र और रत्न का वाचक होने के कारण अत्यन्त चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इसीलिए यहाँ श्लेष अलंकार है।

अर्थालंकार—इन शब्दालंकारों के अतिरिक्त कवि ने विभिन्न अर्थालंकारों को भी अत्यन्त सुन्दरता एवं सजीवता के साथ अपने काव्य में अपनाया है। जिनमें से कुछ प्रमुख अर्थालंकारों का स्वरूप इस प्रकार है :—

उपमा—सादृश्यमूलक अलंकारों में उपमा का स्थान सर्वोपरि है। इस अलंकार का प्रयोग विभिन्न सादृश्यों के आधार पर होता है, जिनमें से आकृति-सादृश्य तथा भाव या गुण-सादृश्य तथा रंग-सादृश्य प्रमुख हैं। इसके साथ ही यह अलंकार अनेक प्रकार से काव्य में प्रयुक्त होता है। कहीं अमूर्त के लिए मूर्त्त वस्तु का साम्य, कहीं मूर्त्त वस्तु के लिए अमूर्त्त-साम्य, कहीं अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त-साम्य और कहीं मूर्त्त के लिए मूर्त्त-साम्य की योजना की जाती है। 'प्रियप्रवास' में इस अलंकार का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

आकृति-सादृश्य—

> (१) मकर-केतन के कल-केतु-से।
> लसित थे वर-कुंडल कान में।
> (२) विकट दर्शन कज्जल मेरु-सा, सुर गजेन्द्र समान पराक्रमी।
> द्विरद क्या जननी उपयुक्त है, यक पयोमुख बालक के लिए।

भाव या गुण-सादृश्य—

> फूले कंज समान मंजु-दृगता थी मत्तता-कारिणी।
> सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी।
> राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति सी।
> काली-कुंचित-लम्बमान-अलकें थीं मानसोन्मादिनी।

रंग-सादृश्य—

गगन साध्य समान सु-ओष्ठ थे।
दसन थे मुगतारक-से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनंदिनी।

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान—

बेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता-सी।

यहाँ कवि ने 'लालसा' जैसे अमूर्त भाव के लिए 'पुष्पिता माधवी लता' जैसे मूर्त उपमान का प्रयोग करके समता दी है।

मूर्त वस्तु के लिए अमूर्त उपमान—

हरीतिमा का सु विशाल-सिंधु-सा।
मनोज्ञता की रमणीय-भूमि-सा।
विचित्रता का शुभ-सिद्ध-पीठ-सा।
प्रशान्त-वृन्दावन दर्शनीय था।

यहाँ पर 'वृन्दावन' जैसे मूर्त पदार्थ की समता हरीतिमा के सिंधु, मनोज्ञता की भूमि, विचित्रता के सिद्ध पीठ आदि अमूर्त पदार्थों से की गई है।

अमूर्त के लिए अमूर्त उपमान—

विलोकनीया नभ नीलिमा समा, नवाम्बुदों की कल-कालिमोपमा।
नवीनलीलो कुसुमोपमेय थी, कलिंदजा की कमनीय श्यामता।

यहाँ कवि ने यमुना की श्यामता की समता आकाश की नीलिमा तथा बादलों की कालिमा से दी है और दोनों ही अमूर्त हैं।

मूर्त के लिए मूर्त उपमान—

दोनों कंधे वृषभ-वर-से हैं बड़े ही सजीले।
लम्बी बाँहें कलभ-कर-सी शक्ति की पेटिका हैं।

यहाँ पर श्रीकृष्ण के कंधे जैसे मूर्त पदार्थ हैं, वैसे ही उनके उपमान वृषभ-स्कंध भी मूर्त उपमान हैं उसी तरह उनकी भुजायें भी मूर्त पदार्थ हैं और हाथी के बच्चे की सूँड़ भी मूर्त उपमान है।

मालोपमा—कहीं-कहीं कवि ने चमत्कार उत्पन्न करते हुए एक ही वस्तु के लिए विभिन्न उपमाएँ देकर इस मालोपमा अलंकार का भी प्रयोग किया है, जिससे काव्य में रुचिरता, प्रभावोत्पादकता और सरसता भी आगई है और एक बिम्बग्राही चित्र भी पाठकों के सम्मुख उपस्थित हो गया है। जैसे श्रीकृष्ण के हृदय की समता करने के लिए कवि ने विभिन्न उपमानों की योजना करते हुए इस अलंकार का इस तरह प्रयोग किया है :—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किशलय सा है स्नेह के उत्स सा है।

पूर्णोपमा—कवि ने प्रायः पूर्णोपमाओं का ही अधिक प्रयोग किया है। उक्त उदाहरणों में से कई स्थानों पर पूर्णोपमा अलंकार विद्यमान है। परन्तु फिर भी जहाँ उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द सभी विद्यमान हों, ऐसा एक और उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

'नीले फूले कमल-दल सी गात की श्यामता है।'

यहाँ 'गात' उपमेय है, 'कमल दल' उपमान है, 'श्यामता' साधारण धर्म है और 'सी' वाचक शब्द है। अतः यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

उत्प्रेक्षा—सादृश्यमूलक अलंकारों में उत्प्रेक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा कविजन बड़ी-बड़ी उन्नत एवं असंभावित कल्पनायें करते हुए अपने विचार प्रकट किया करते हैं। इसके तीन प्रमुख भेद होते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनमें से 'प्रियप्रवास' में वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार को अधिक अपनाया गया है। परन्तु अन्य दोनों उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा—

विपुल सुन्दर वंदनवार से, सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते व्रज-सद्म-समूह के, वदन में दसनावलि थी लसी।
नव-रसाल-सुपल्लव के बने, अजिर में वर तोरण थे बँधे।
विपुल-जीह विभूषित था हुआ, वह मनो रस-लेहन के लिये।

हेतूत्प्रेक्षा—

सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया-पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।

मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना।

फलोत्प्रेक्षा—

धीरे-धीरे पवन ढिग जा फूल वाले द्रुमों के।
शाखाओं से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानो यों थी हरण करती फुल्लता पादपों की।
जो थी प्यारी न ब्रज जन को आज न्यारी व्यथा से।

रूपक—कवि हरिऔध ने जिस तरह उपमा एवं उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्य-मूलक अलंकारों द्वारा भावों के मार्मिक चित्र अंकित किये हैं, उसी तरह रूपक अलंकार के प्रयोग द्वारा भी काव्य में सरसता एवं सजीवता की सृष्टि की है। यह रूपक अलंकार प्रमुख रूप से तीन प्रकार का कहलाता है—निरंग-रूपक, सांगरूपक और परम्परित रूपक। इन तीनों रूपकों के उदाहरण 'प्रियप्रवास' में इस तरह विद्यमान हैं।

निरंगरूपक—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली।

सांगरूपक—

ऊधो मेरे हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमें कल्पना-क्यारियाँ थीं।
न्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेकों।
उत्साहों के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी।
सच्चिन्ता की सरस लहरी-संकुला-वापिका थी।
नाना चाहें कलित कलियाँ थीं लतायें उमंगें।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-बेलियाँ थीं।
सद्वाछा के विहग उसके मंजु-भाषी बड़े थे।

परंपरितरूपक— •

होगी हा ! वह मग्नभूत अति ही मेरे वियोगाब्धि में।
जो हो संभव तात पोत बन के तो त्राण देना उसे।

उक्त सादृश्यमूलक अलंकारों के अतिरिक्त कवि ने अन्य बहुत से सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, तर्कन्यायमूल, गूढार्थ-प्रतीतिमूल, अध्यवसायमूल, लोक-

व्यवहारमूल तथा विशेषणवैचित्र्यमूल अलंकारों का भी प्रयोग किया है। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

रूपकातिशयोक्ति—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल ब्रजधरा को फूँक देता जलाता।

विरोधाभास—

जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उजाला।
तेरा होना उदय ब्रज में तो अँधेरा करेगा।

शुद्धापह्नुति—

अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है।

व्यतिरेक—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बड़ा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नहीं है।

संदेह—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प में।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद संसार में।
मैं हूं सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमि का।

कैतवापह्नुति—

विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता बहु वारि था।
विपुल नीर बहाकर नेत्र से मिष कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती ब्रज की धरा।

स्मरण—

मैं पाती हूं मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहनी वंशिका की।

प्रतीप—

है दाँतो की झलक मुझको दीखती दाडिमो मे।
बिम्बाग्रो मे वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों मे जघन युग की मजुता देखती हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलो में दिखानी।

भ्रान्तिमान—

अति सशकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता।
ब्रज समूह विनाशन को खडे यह निशाचर हैं नृप कस के।

परिकर—

स्वसुत रक्षण औ पर पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना।
बहुत सभव है यदि यों कहूँ सुन नही सकती 'जगदम्बिका'।

परिकरांकुर—

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी।
समझ था पडता बरसात मे उदक का रस नाम यथार्थ है।

विषम—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नहीं काम था।
कॉटे से कमनीय कज कृति में क्या है न कोई कमी।
पोरों म कब ईख की विपुलता है ग्रंथियों की भली।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं।

दृष्टान्त—

कमल का दल भी हिमपात से दलित हो पडता सब काल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी निगलता करता बहु क्लान्त है।
कुसुम सो सुप्रफुल्लित बालिका हृदय भी न रहा प्रफुल्ल ही।
वह मलीन सकरमष हो गया प्रिय मुकुन्द प्रवास प्रसग से।

निदर्शना—

मुखगजो की बहु कष्टदायिता बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्वकटको से स्वयमेव सर्वदा विदारिता हो वदरी द्रुमावली

अर्थान्तरन्यास—

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है।

विभावना—

स्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोयी।
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनों।
ज्यों-ज्यों लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते।

मानवीकरण—

आविर्भूता गगन-तल में हो रही है निराशा।
आशाओं में प्रकट दुख की मूर्तियाँ हो रही हैं।
ऐसा जी में ब्रज-दुख-दशा देख के था समाता।
भू-छिद्रों से विपुल करुणा-धार है फूटती सी।

निष्कर्ष यह है कि हरिऔध जी का अलंकार-विधान अत्यंत पुष्ट एवं समृद्ध है और उन्होंने अधिकांश प्राचीन अलंकारों को अपनाते हुए अपने काव्य-कौशल को प्रकट किया है, जिसमें कहीं भी भावों के निरूपण में व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ है। हरिऔध जी ने प्रायः भावानुरूप अलंकारों का प्रयोग किया है और कहीं-कहीं तो अलंकारों के कारण भावों में उत्कृष्टता एवं मार्मिकता भी आ गई है। जैसे श्लेष अलंकार का उदाहरण देते हुए ऊपर जिस 'लाल' शब्द का उल्लेख किया गया है, इस शब्द द्वारा कवि ने वहाँ कितनी मार्मिकता एवं प्रभावोत्पादकता भरदी है। ऐसे ही अन्य स्थल भी हैं, जहाँ कवि ने अलंकारों के सहारे भावों में तीव्रता लाने का प्रयत्न किया है। इतना ही नहीं कवि ने सांगरूपकों के बनाने में भी बड़ा ही कौशल दिखाया है। परन्तु कहीं-कहीं ये सांगरूपक इतने लम्बे और अरुचिकर हो गये हैं कि काव्य का आनंद जाता रहा है। जैसे, दशम सर्ग में कवि ने जो हृदय में उद्यान का आरोप करके सांगरूपक बनाया है, वह कला-कौशल की दृष्टि से अत्यंत मार्मिक है तथा यहाँ रूपक का निर्वाह भी सुंदर है, परन्तु सरसता एवं धारा-प्रवाह की दृष्टि से उतना रुचिकर नहीं है। इतने लम्बे-लम्बे सांगरूपक अधिक आनंदप्रद नहीं होते। फिर भी कवि ने अलंकारों के प्रयोग में

स्वाभाविकता एवं सरसता का अधिक ध्यान रखा है और बहुत कम स्थलों पर अलंकारों को जान बूझकर ठूंसने का प्रयत्न किया है। निस्सदेह कवि अलंकार-योजना मे पर्याप्त सफल रहा है और उसने अलंकारों के द्वारा भाव व्यंजना मे भी अपूर्व चमत्कार एवं अद्भुत काव्य-कौशल प्रकट किया है।

छन्द-विधान—काव्य में श्रवणशीलता एवं श्रुतिप्रियता की सृष्टि के लिए किसी न किसी प्रकार के छंद की आवश्यकता का अनुभव आरम्भ से ही हुआ था। यही कारण है कि ऋग्वेदादि प्राचीन काव्य ग्रंथो मे भी लय, गति एवं एक व्यवस्थित क्रमानुसार छंदों का प्रयोग हुआ है। भारतीय साहित्याचार्यों मे से भामह तथा रुद्रट ने तो महाकाव्य की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए छंद के बारे मे कुछ नही लिखा है। परन्तु सर्वप्रथम दंडी ने महाकाव्य में पढने एवं सुनने मे मधुर एवं रमणीक छन्दों की आवश्यकता का उल्लेख किया है तथा बतलाया है कि प्रत्येक सर्ग मे एक ही छंद का प्रयोग करना चाहिए तथा सर्ग के अंत मे भिन्न छंद का प्रयोग अपेक्षित है।[1] आचार्य हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने भी छंद के बारे मे दंडी की ही बात का समर्थन किया है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इतना और जोड़ दिया है कि महाकाव्य मे एक सर्ग ऐसा भी हो सकता है, जिसमे नाना प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया जा सकता है। इन आचार्यों में से हेमचन्द्र ने एक बड़ी ही महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है। आपने लिखा है कि "अर्थानुरूप छन्दस्त्वम्" अर्थात् सदैव अर्थ के अनुरूप छंद-योजना होनी चाहिए।[2] पाश्चात्य विद्वानों मे से अरस्तू ने भी वीर-महाकाव्य (Epic) के लिए आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही छंद हैक्सामीटर का प्रयोग आवश्यक माना है, यह हेक्सामीटर षट्पदी छंद होता है।[3] परन्तु पाश्चात्य विकसनशील महाकाव्यो मे सर्वत्र छंदों का प्रयोग दिखाई नही देता और न उनमें सर्ग के अंत मे छंद बदलते ही हैं, वरन् बीच-बीच मे गद्यांश के प्रयोग भी मिलते हैं। वैसे ये महाकाव्य जनता के मध्य म राज-दरबारो के बीच वाद्य-यन्त्रों के साथ गाये जाते थे तथा सस्वर सुनाये जाते थे। अत. इनमें गेय एवं सुपाठ्य छंदों का प्रयोग हुआ है, जिससे भावानुरूप प्रभाव की सृष्टि मे अत्यंत सहायता मिली है। परन्तु छंद का होना

---

१ काव्यादर्श १।१८-१९
२ उपमर्दविश्य यथा रसानुरूपसन्दर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्"—इत्यादि
—हेमचन्द्र काव्यानुशासन, अध्याय ८
३ Aristotles Poetics--Part III—of the Epic Poem

कोई आवश्यक तत्व नहीं माना गया है। फिर भी प्रभावात्मकता एवं भाव-प्रेषणीयता के लिए छंदों की सहायता जितनी अपेक्षित है उतनी अन्य किसी की नहीं। इसी कारण काव्य में छन्दों की प्रशंसा करते हुए पाश्चात्य कवि कॉलरिज ने लिखा है कि छंद साधारण मनोवेगों और ध्यान संबंधी चेतना एवं संवेदनशीलता की वृद्धि में बड़ी सहायता पहुँचाते हैं।[१] यही बात कविवर यीट्स ने दुहराई है कि छंद मस्तिष्क को जाग्रत-मूर्छा की स्थिति में सुलाने का कार्य करता है।[२] अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स भी काव्य की प्रभावोत्पादक शक्ति के लिए छन्दों का होना आवश्यक मानते हैं।[३]

भारतीय मनीषियों में से आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'छंद के बंधन के सर्वथा त्याग में हमें तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखलाई पड़ता है।'[४] प्रसादजी ने भी छंदों की प्रभावशालीनता पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'प्रायः संक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नहीं। इसी स्थान में हम संगीत की भी योजना कर सकते हैं। सद्य प्रभावोत्पादक जैसा संगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नहीं।'[५] कविवर पंत ने तो यहाँ तक लिखा है कि "कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होता है।"[६]

भारतीय साहित्य में ये छंद दो प्रकार के प्रचलित हैं—वर्णिक तथा मात्रिक। वर्णों की गणना और वर्ण-क्रम के आधार पर जिन छंदों की रचना होती है उन्हें वर्णिक छंद कहते हैं और जिन छंदों में वर्णों के ऊपर ध्यान न देकर केवल मात्राओं की गणना की जाती है, उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं। संस्कृत काव्य में प्रायः वर्णिक छंदों का ही प्रचार रहा है और अधिकांश कवितायें वर्णों के क्रम से ही निर्मित छंदों में लिखी गई हैं, जबकि हिन्दी की

---

१. Principles of Literary Criticism—p. 143.
२. वही, पृ० १४३
३. वही, पृ० १३६
४. चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५६
५. इन्दु, कला २, किरण १, श्रवण शुक्ला २, सं० १९६७, पृ० २०
६. पल्लव की भूमिका, पृ० २१

अधिकांश कवितायें मात्रिक छदों में ही निर्मित हुई हैं। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस मे थोड़े से वर्णिक छदों में भी अपनी रचना की थी, तथापि वर्णिक छदों की ओर सबसे अधिक ध्यान आधुनिक युग मे ही दिया गया। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम हिन्दी के कवियों से मात्रिक छदों के अतिरिक्त सस्कृत के वर्णिक छदों को अपनाने का आग्रह किया और स्वय ने भी वर्णिक छदों में कवितायें लिखी। इनके आग्रह एव अनुरोध का ही यह परिणाम था कि हरिऔध जी ने अपना सारा 'प्रियप्रवास' काव्य वर्णिक छदों मे ही लिखा।

'प्रियप्रवास' की छद-योजना—'प्रियप्रवास' मे सर्वत्र वर्णिक छदों का ही प्रयोग हुआ है। सस्कृत साहित्य मे इन वर्णिक छदों मे लिखी हुई रचनायें प्राय. अतुकान्त हैं। इसी तरह 'प्रियप्रवास' में भी सर्वत्र अतुकान्त एव अन्त्यानुप्रास-हीन कविता है। यहाँ पर कवि ने द्रुतविलम्बित, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, वशस्थ और शिखरणी नामक सात छदों को अपनाया है, जिनमे से सर्वाधिक द्रुतविलम्बित, मालिनी, मन्दाक्रान्ता और वशस्थ छदों का प्रयोग किया गया है। साधारणतया वर्णनात्मकता एव शीघ्रतापूर्वक कथा के कहने मे द्रुतविलम्बित छद सर्वथा उपयुक्त होता है। इसी कारण कवि ने जहाँ-जहाँ कथा को शीघ्रतापूर्वक किसी के मुख से या स्वय कहना आवश्यक समझा है, वहाँ-वहाँ द्रुतविलम्बित छद का प्रयोग किया है। ऐसे ही वसततिलका, मालिनी तथा मन्दाक्रान्ता छद सदैव वियोग या विलाप के वर्णन में सर्वथा उपयोगी होते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' की रचना मन्दाक्रान्ता छद मे की है तथा भवभूति ने वसततिलका तथा मालिनी छद मे राम के विलाप का वर्णन करते हुए उत्तररामचरित नाटक मे करुण रस की अभिव्यक्ति की है। अत वियोग-जन्य खिन्नता, उदासी, अवसाद या विलाप आदि का वर्णन करने के लिए कवि ने यहाँ सर्वत्र वसततिलका, मन्दाक्रान्ता तथा मालिनी छद अपनाये हैं, जिनमे इन वियोग-जन्य भावों की मद-मद गति से उठने की प्रक्रिया, उनके प्रसार एव उनके प्रभाव का अत्यत प्रभावशाली वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य छदों को भी कवि ने सर्वथा भावानुकूल प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। इन समस्त छदों के लक्षण एव उदाहरण इस प्रकार हैं :—

द्रुतविलम्बित—इस छद का लक्षण यह है—"द्रुतविलम्बितमाह नभौ

भरो"[1] अर्थात् इसमें नगण, भगण, भगण, और रगण नामक चार गण होते हैं और १२ वर्ण होते है। जैसे :—

दिवस—का अव—सान स—मीपथा=१२ वर्ण
। । ।—S । ।—S । ।—S । S
नगण — भगण — भगण — रगण

मालिनी—इस छंद का लक्षण यह है—"ननमययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः"[2] अर्थात् मालिनी छंद में नगण, नगण, मगण, यगण और यगण नामक ५ गण होते है और १५ वर्ण होते हैं। जैसे :—

प्रमुदि—त मधु—रा के मा—नवों को—वनाके=१५ वर्ण
। । ।—। । ।—S S S—। S S —। S S
नगण—नगण — मगण — भगण —यगण

शार्दूल विक्रीडित—इस छंद का लक्षण यह है—"सूर्याश्वैर्मसजस्तता: सगुरव : शार्दूलविक्रीडितम्"[3] अर्थात् इस छंद के अंतर्गत मगण, सगण, जगण, सगण, तगण, तगण और एक गुरु (S) होता है। इस तरह कुल मिलाकर १९ वर्ण होते हैं। जैसे :—

ज्यों ज्यों थीं—रजनी —व्यतीत—करती—औदेख—तींव्योम—को=१९ वर्ण
S S S — । । S— । S । — । । S— S S । — S S । — S
मगण — सगण — जगण — सगण— तगण— तगण —गुरु

मन्दाक्रान्ता—इस छंद का लक्षण इस प्रकार है—"मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद् गुरु चेत्"[4] अर्थात् इस छंद में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और अन्त में दो गुरु वर्ण होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर १७ वर्ण होते हैं। जैसे :—

ऐसी रो—ई सक—ल जन—ता खो व—ची धीर—ता को=१७ वर्ण
S S S —S । । — । । । — S S । — S S । —S, S
मगण —भगण —नगण — तगण — तगण —दो गुरु

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।४६
२. वही ३।८७
३. वही ३।१०१
४. वही ३।९७

वसततिलका—इस छद का लक्षण यह है—"उक्ता वसततिलका तभजाजगौग"[1] अर्थात् इस छद मे तगण, भगण, जगण, सगण और अन्त मे दो गुरु वर्ण होते हैं। इस तरह कुल मिलाकर १४ वर्ण होते हैं। जैसे—

सू ने स—भी म द—न गो कु—ल के हु—ए थे=१४ वर्ण

ऽऽ।—ऽ।।—।ऽ।—।ऽ।—ऽ,ऽ

तगण — भगण — जगण — सगण — दो गुरु

वशस्थ—इस छद का लक्षण यह है—"जतौ तु वशस्थ मुदीरित जरौ"[2] अर्थात् यहाँ जगण, तगण, जगण और रगण नामक ४ गण तदनुसार १२ वर्ण होते हैं। जैसे —

गिरीन्द्र—मे व्याप—विलोक—नीय थी=१२ वर्ण

।ऽ।—ऽऽ।—।ऽ।—ऽ।ऽ

जगण — तगण — जगण — रगण

शिखरिणी—इस छद का लक्षण यह है—"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला ग. शिखरिणी।"[3] अर्थात् इस छंद मे यगण, मगण, नगण, सगण, भगण तथा अन्त मे एक लघु और एक गुरु वर्ण होता है। इस तरह कुल मिलाकर १७ वर्ण होते हैं। जैसे—

अनूठी — आभा से — सरस — सुषमा — से सुर —स से=१७ वर्ण

।ऽऽ— ऽऽऽ —।।।—।।ऽ—ऽ।।—।ऽ

यगण — मगण — नगण — सगण — भगण — लघु, गुरु

उक्त छदो के समझने के लिए "यमाताराजभानसलगा" नामक एक सूत्र प्रचलित हैं, जिसमे समस्त गणो के नाम तथा लक्षण भी आ जाते हैं। जैसे सस्कृत छदो मे आठ गण होते हैं—यगण, मगण, तगण, रगण, जगण, भगण, नगण और सगण। उक्त सूत्र मे प्रत्येक गण का प्रथम शब्द आठ गणो को सूचित करता है और अंतिम 'ल' और 'गा' क्रमशः लघु और गुरु वर्ण के द्योतक हैं। इन गणो के लक्षण भी उक्त सूत्र मे इस तरह आगये हैं जैसे—

---

१. वृत्तरत्नाकर ३।६६

२ वही ३।४६

३ वही ३।६३

गण	वर्ण	सूत्र	संकेत
१–यगण	=एक लघु दो गुरु	= यमाता	= ।ऽऽ
२–मगण	=तीनों गुरु	= मातारा	= ऽऽऽ
३–तगण	=दो गुरु एक लघु	= ताराज	= ऽऽ।
४–रगण	=पहला गुरु, दूसरा लघु तथा तीसरा गुरु	= राजभा	= ऽ।ऽ
५–जगण	=पहला लघु, दूसरा गुरु और तीसरा लघु	= जभान	= ।ऽ।
६–भगण	=पहला गुरु दोनों लघु	= भानस	= ऽ।।
७–नगण	=तीनों लघु	= नसल	= ।।।
८–सगण	=पहले दोनों लघु तीसरा गुरु	= सलगा	= ।।ऽ

इस तरह हरिऔध जी ने हिन्दी-काव्य में नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए जहाँ कथानक के अंतर्गत नवीन उद्भावना की थी, वहाँ परम्परागत छंदों के अंतर्गत भी नवीन परम्परा का उद्घोष किया था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत के वर्णिक छंदों का प्रयोग अत्यंत दुरूह तथा दुष्कर होता है और मात्रिक छंदों के प्रयोग में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं होती। इसी कारण हिन्दी-कविता में मात्रिक छंदों की ओर अधिक झुकाव रहा और वर्णिक छंदों की दुरूहता में फँसने का प्रयत्न अधिक नहीं किया गया। फिर भी आधुनिक युग में इस ओर भी सराहनीय प्रयत्न हुए, उनमें से हरिऔध जी का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशंसनीय है। परन्तु जैसाकि कविवर पंत ने लिखा है कि "हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छंदों ही में अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छन्दों में नहीं"[१] इस आधार पर प्रतीत होता है कि हरिऔध जी वर्णिक वृत्तों के प्रयोग में तो सर्वथा सफल हुए हैं और पर्याप्त परिश्रम करके उनका भावानुकूल प्रयोग भी किया है, परन्तु छंदों के द्वारा जो श्रुतिसुखमता, श्रुतिमधुरता एवं संगीतात्मकता का सृजन होता है उनके लिए हरिऔध जी के ये छंद अधिक सफल नहीं दिखाई देते। संस्कृत कविता में तो उक्त तीनों गुण विद्यमान हैं, परन्तु हरिऔध जी की

---

१. पल्लव की भूमिका, पृ० २३

इस कविता मे ये गुण क्यो नही आ सके हैं—इसका प्रमुख कारण यह है कि सस्कृत भाषा विभक्ति प्रत्यय-विभूषित तथा समास एव सधि-प्रधान भाषा है। उसमे सश्लिष्टात्मक पदो की प्रधानता रहती है, जबकि हिन्दी विश्लेषणात्मक भाषा है, इसमे विभक्ति-प्रत्यय लगकर भी जटिलता नही होती और इसके प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् ही लिखे जाते हैं, जिससे यहाँ समास एव सधि की प्रधानता नहीं होती। इसीलिए उक्त वर्णिक छद सश्लिष्टता-प्रधान सस्कृत-भाषा मे तो श्रुतिसुगमता श्रुतिमधुरता, एव सगीतात्मकता की सृष्टि मे अत्यन्त सफल होते हैं परन्तु हिन्दी जैसी विश्लेषणात्मक एव सधि समास विहीन भाषा मे इन वर्णिक छदो के कारण कृत्रिमता, आडम्बर एव अस्वाभाविकता आ जाती है। यही कारण है कि कवि हरिऔध पर्याप्त परिश्रम करने के उपरान्त भी 'प्रियप्रवास' की कविता मे उतनी सरसता, श्रुतिमधुरता एव सगीतात्मकता की सृष्टि नहीं कर सके हैं, जितनी कि उनके 'रसकलस' मे विद्यमान है। यहाँ भाव एव रस के अनुकूल छदो का प्रयोग होते हुए भी वे कृत्रिमता एव अस्वाभाविकता से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, उनमे भावो की धारावाहिकता नष्ट हो गई है और उनसे हिन्दी-कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अत्यन्त आघात पहुँचा है। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य क्षेत्र मे आगे चलकर इस परम्परा का पालन नहीं हुआ और किसी भी महाकवि ने सस्कृत वृत्तो मे अपने महाकाव्य का सृजन नही किया। अत हरिऔध जी के इन छदो मे उनकी प्रयोग करने वाली प्रवृत्ति के दर्शन तो होते हैं और उनके परिश्रम एव कार्य-कुशलता की भी जानकारी प्राप्त होती है, परन्तु ये छद काव्य का स्थायी प्रभाव डालने मे सर्वथा असफल सिद्ध हुए हैं।

'प्रियप्रवास' मे औचित्य—काव्य मे औचित्य से तात्पर्य यह है कि काव्य के समस्त उपकरणो का उपयुक्त, अनुरूप तथा अनुकूल प्रयोग हो। साधारणतया जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे 'उचित' कहा जाता है और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। काव्य मे औचित्य की सर्वाधिक व्यवस्था आचार्य क्षेमेन्द्र ने की है। वैसे सर्वप्रथम इस औचित्य का प्रतिपादन भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में किया है, क्योंकि वहाँ पर नाटक के प्रसग मे पात्र, प्रकृति, वेश-भूषा, भाषा आदि के औचित्य पर भरत मुनि ने अपने विचार प्रकट किये हैं। इस औचित्य के अनेक भेद माने गये हैं, क्योकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार चर्चा' मे पद, वाक्य, प्रबधार्थ, गुण, अलकार आदि से सबधित २७ प्रकार के औचित्य सबधी भेद बतलाये हैं, जिनके आधार पर किसी भी काव्य के गुण दोषो पर विचार

किया जाता है।[1] उनमें से प्रबंधौचित्य, गुणौचित्य, अलंकारौचित्य, रसौचित्य, लिंगौचित्य, नामौचित्य आदि प्रमुख हैं, जिनके आधार पर हम 'प्रियप्रवास' में औचित्य के देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रबंधौचित्य—इस औचित्य से तात्पर्य यह है कि समग्र प्रबंध तात्पर्य के अनुरूप होना चाहिए। ऐसा होने से उसमें सहृदयों के चित्त को आवर्जन करने वाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है।[2] 'प्रियप्रवास' में कवि ने श्रीकृष्ण तथा राधा को लोकोपकार, समाज-सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण दिखाने के लिए सम्पूर्ण प्रबंध की योजना की है। यहाँ पहले श्रीकृष्ण को लोकोपकार-निरत दिखाकर त्याग, तपस्या, समाज-सेवा, स्वजाति-उद्धार आदि में लीन दिखाया है और विश्वप्रेम में ओत-प्रोत होकर अपने प्रियजन एवं प्रियजन्य-भूमि तक का परित्याग करते हुए अंकित किया है। तदुपरान्त श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व मानने वाली राधा को भी उनके चरण-चिह्नों पर चलते हुए त्याग, तपस्या सेवा, एवं विश्व-प्रेम की सजीव मूर्ति के रूप में अंकित किया गया है। सारी कथा उक्त भावों के सर्वथा अनुकूल तथा कवि के तात्पर्य के सर्वथा अनुरूप ही विकसित हुई है। इससे 'प्रियप्रवास' में प्रबंधौचित्य पूर्णतया विद्यमान दिखाई देता है। परन्तु कवि के सम्मुख एक उद्देश्य यह भी रहा है कि श्रीकृष्ण के समस्त अलौकिक एवं अद्भुत कार्यों को लौकिक एवं मानवीय रूप दिया जाय और इसके लिये उसने जहाँ-तहाँ परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए प्रबंध की मूल कथा में अनोखी उद्भावनायें की हैं। जैसे—कालियनाग के नाथने की कथा, गोवर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने की कथा, दावानल की कथा आदि। परन्तु इनमें कवि अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुआ है और न इन प्रसंगों को वह अपने तात्पर्य के अनुरूप ढाल सका है। अतः 'प्रियप्रवास' में प्रबंध-सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है।

गुणौचित्य—जहाँ कवि ओज, प्रसाद एवं माधुर्य नामक गुणों का सन्निवेश प्रस्तुत अर्थ के सर्वथा अनुरूप करता है, वहाँ गुणौचित्य के दर्शन होते हैं। 'प्रियप्रवास' में प्रसाद और माधुर्य की ही प्रधानता है और यशोदा, नंद, गोप, गोपियों एवं राधा के प्रसंगों में सर्वत्र उक्त दोनों गुणों का समावेश अर्थ के अनुरूप ही हुआ है। परन्तु बीच-बीच में कवि ने श्रीकृष्ण के वीरतापूर्ण, समाज-सेवा एवं जाति-उद्धार के कार्यों का वर्णन करते हुए ओज गुण की

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ९७।

२. वही, पृ० ९७

योजना की है, यहाँ ओजगुण का सन्निवेश भी ओजस्वी उक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा प्रशंसाली है। जैसे —

> विपद से वर-वीर समान जो, समर-अर्थ समुद्यत हो सका।
> विजय भूति उसे सब काल ही, वरण है करती सु-प्रसन्न हो।
> पर विपत्ति विलोक स-शंक हो, शिथिल जो करता पग-हस्त है।
> अवनि में अवमानित शीघ्र हो, कवल है बनता वह काल का।

अत यही कहा जायेगा कि 'प्रियप्रवास' मे गुणौचित्य का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है।

अलकारौचित्य—औचित्य विचार-चर्चा मे लिखा है कि "प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है, जिस प्रकार पीन स्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुंदरी।"[1] इस तरह जहाँ प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकारो की योजना होती है, वहाँ निस्सदेह वे प्रस्तुत अर्थ के साथ साथ इसके भी पोषक होते हैं। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने यही भरसक प्रयत्न किया है कि सर्वत्र अलकारो की योजना अर्थानुरूप हो। जैसे कवि ने 'लाल' शब्द मे श्लेष का चमत्कार उत्पन्न करते हुए तथा अन्य रत्नो से उसे उत्कृष्ट घोषित करते हुए यशोदा के मुख से अत्यन्त उचित पदावली का उच्चारण कराया है —

> "विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
> प्रियतम ! बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
> अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
> मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो। ७।४१

परन्तु कहीं-कहीं अनौचित्य के भी दर्शन हो जाते हैं। जैसे कवि का श्रीकृष्ण से रहित यशोदा की तुलना करते हुए उसे मछली के समान कहना तो सर्वथा उचित है, परन्तु निम्नलिखित पक्तियो मे उसे सर्प के समान कहा है और श्रीकृष्ण को मणि के तुल्य कहा है जबकि यशोदा स्त्री है उसकी समता सर्प से ठीक नही और श्रीकृष्ण पुरुष हैं, इसलिए उनकी समता स्त्रीलिंग हृदय मणि से ठीक नही है। अत यहाँ अलकार सम्बन्धी अनौचित्य भी है —

---

१ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।
—औचित्य-विचार-चर्चा, श्लोक १५।

निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है।
तड़प तड़प के तो प्राण है त्याग देता।
मम सदृश मही में कौन पापीयसी है।
हृदय-मणि गँवा के नाथ जो जीविता हूँ। ७।४८

इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि कवि ने राधा की समता देते हुए "शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी" कहकर मणि की समता स्त्रीलिंग राधा से दी है, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण है। इसी तरह निम्नलिखित पंक्ति में भी अलंकार सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है :—

"फूले कंज समान मंजु दृगता थी मत्तता कारिणी।"

यहाँ पर 'दृगों' को नहीं अपितु 'दृगता' को 'फूले कंजों के समान कहा है। पहले तो लिंगौचित्य ही नहीं है। दूसरे, प्रायः नेत्र या दृग ही कंज के समान होते है, कहीं 'दृगता' कंज के समान नहीं होती। यदि कहना ही था तो दृगता को 'कंजता' के समान कहना चाहिए था। परन्तु कवि ने इस औचित्य की ओर ध्यान नहीं दिया है। इसलिए यत्र-तत्र अलंकार सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है।

रसौचित्य—प्रत्येक काव्य में रसौचित्य पर सर्वाधिक ध्यान रखा जाता है। क्योंकि रस ही काव्य की आत्मा है और यदि रसौचित्य पर ही ध्यान नहीं रखा जायगा तो सारा काव्य ही निर्जीव एवं नीरस हो जायगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रियप्रवास' में 'विप्रलम्भ शृंगार' को प्रमुखता दी गई है तथा अन्य सभी रस उसके अगरूप में वर्णित हैं। परन्तु कवि ने विप्रलम्भ शृंगार को इतनी गहनता, गंभीरता एवं स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया है, जिससे वह करुण रस की कोटि मे पहुँच गया है, क्योंकि शोक नामक भाव जो पहले संचारी भाव के रूप मे था, आगे चलकर स्थायी भाव बन जाता है। वैसे सभी वर्णन पूर्णतया रसौचित्य की कोटि में ही आते हैं। परन्तु 'पवन दूतीप्रसंग' में राधा ने पवन से वार्तालाप करते हुए उसे अपना संदेश कृष्ण तक पहुँचाने के लिए जो नानाप्रकार की युक्तियाँ बताई हैं, वह वर्णन पूर्णतया औचित्य की सीमा को पार कर गया है, क्योंकि एक भ्रान्ता विरहिणी इस तरह कुशलतापूर्वक युक्तियाँ नहीं बता सकती। अतः वहाँ रस सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है। यही बात कालीनाग की कथा के वर्णन में भी है। वहाँ कवि का झुकाव श्रीकृष्ण के ओजपूर्ण कार्यों की व्याख्या करते हुए वीर-रस के वर्णन की ओर है और इसीलिए श्रीकृष्ण के मुख से यह भी कहलवाया है :—

"अत करूँगा यह कार्य मे स्वय, स्वहस्त मे दुर्लभ प्राण को लिये।
स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं, न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

परन्तु कुछ ही क्षणो उपरान्त हम उन्ही श्रीकृष्ण को उस महाव्याल से युद्ध आदि न करके केवल उसके फणो पर खडे होकर मधुर मुरली बजाते हुए देखते हैं और इस अदभुत दृश्य को देखकर वीर रस का अनुभव न करके अदभुत रस मे डुबकियाँ लगाने लगते हैं। अत वीर रस का वर्णन न करके कवि यहाँ अदभुत रस के वर्णन मे लीन हो जाता है। इसी कारण यहाँ रसौचित्य का ध्यान नहीं रखा गया है।

लिंगौचित्य—प्राय प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिंग वाले शब्दो की योजना ही लिंगौचित्य के अतर्गत आती है। 'प्रियप्रवास' में कवि ने प्राय लिंगौचित्य का बहुत ध्यान रखा है। परन्तु फिर भी कही-कही जाने या अनजाने लिंग सम्बन्धी अनौचित्य हो गया है। अभी अलकार औचित्य के अतर्गत हम कुछ उदाहरण ऐसे दे चुके हैं, जहाँ स्त्रीलिंग उपमेय के लिए पुल्लिग उपमान तथा पुल्लिग उपमेय के लिए स्त्रीलिंग उपमान आगये हैं। इनके अतिरिक्त सागरूपक बनाते समय भी कवि इस लिंग सम्बन्धी औचित्य की परवा न करके पुल्लिग विहग' का आरोप स्त्रीलिंग 'मदवाञ्छा' मे,[1] स्त्रीलिंग 'कलाओ' का आरोप पुल्लिग सरस-सुख' मे[2] तथा स्त्रीलिंग 'वेलि' का आरोप पुल्लिग पुष्प मे[3] कर बैठा है। इसी तरह सप्तम सर्ग मे कवि ने यशोदा के विलाप का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के लिए सजल जलद, सुधा का स्रोत, दिनकर, स्वच्छ सोना चित्रो का चितेरा आदि कहकर लिंगौचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा है, परन्तु वही पर शुको के समान घर को मुखरित करने वाला तथा खगो के समान वनो मे कलरव करने वाला कहकर कवि ने पिक के समान वाटिका को ध्वनित करने वाला बताया है।[4] यहाँ पुल्लिग श्रीकृष्ण के लिए स्त्रीलिंग 'पिक' का प्रयोग सर्वथा अनौचित्य का द्योतक है। इस तरह कही-कही लिंग सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान हैं, परन्तु 'प्रियप्रवास' मे अधिकतर लिंगौचित्य की ही रमणीकता दर्शनीय है।

---

१ प्रियप्रवास १०।४६
२ वही १०।५२
३ वही १०।६२
४ वही ७।२१

नामौचित्य—जहाँ पर प्रकृत अर्थ के अनुरूप नामों की योजना की जाती है, वहाँ नामौचित्य होता है। साधारणतया सार्थक नामों की योजना से ही काव्य में रमणीयता एवं मार्मिकता आती है। जैसाकि आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है कि "कवि मनुष्यों के नामों के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण में योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारी, दीनबंधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दों को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हों। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण ! हे वृन्दावन विहारी !" आदि न कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कंसनिकंदन !' आदि संबोधनों से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कंस आदि दुष्टों का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन में गोपियों के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसंगत है।"[१] इस कथन से स्पष्ट है कि कवि को काव्य में अर्थसंगत नामों का प्रयोग करना चाहिए तथा अनुपयुक्त नामों के प्रयोग से बचना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि हरिऔध ने भी 'प्रियप्रवास' में प्रायः सार्थक एवं अर्थसंगत नामों का ही प्रयोग किया है। जैसे :—

(१) आई वेला हरि-गमन की छागई खिन्नता सी।५।२०

यहाँ पर कवि ने श्रीकृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है। हरि का एक अर्थ सूर्य भी होता है और जिस तरह सूर्य के छिपने का समय आते ही सर्वत्र अंधकार छा जाता है, उसी तरह ब्रज में भी श्रीकृष्ण के गमन का समय आते ही सर्वत्र अंधकार जैसा विषाद (खिन्नता) छा गया था। अतः यहाँ 'हरि' शब्द सर्वथा सार्थक है।

(२) बोली सशोक अपरा यक गोपिका यों।
ऊधो अवश्य कृपया ब्रज को जिलाओ।

---

१. चिन्तामणि, भाग १. प्रथम संस्करणपृ०, २४६

जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ।
लौटाल श्याम घन को ब्रज मध्य लाओ।।१४।७५

यहाँ पर कवि मृतप्राय ब्रज क लिए जिस 'श्याम घन' के लौटाने की बात कही है, उसमे श्याम घन नाम अत्यन्त साथक है क्योकि मरे हुए एव जल हुए पेड पौधो तथा मृतप्राय प्राणियो को जलवाले काले बादल ही जीवन प्रदान किया करते हैं।

(३) कालिंदी सी कलित सरिता दर्शनीया निकुज।
प्यारा वृन्दा विपिन विटपी चारु न्यारी लतायें।
शोभावाले विहग जिनके हैं दिये रा' उसीने।
कैसे माधव-रहित ब्रज की मेदनी को बनाया।।१५।३६

यहाँ कवि ने माधो शब्द का अत्यत साथक प्रयोग किया है क्योकि माघव का अर्थ वसत भी होता है और वसत के बिना जैसे नदी कुज, वन, लता, पक्षी आदि मे कोई शोभा नही आती, उसी तरह कृष्ण के बिना भी यमुना, कुजो, वृन्दावन आदि मे कोई शोभा नही रही है। अत 'माधो शब्द दोनो ओर सकेत करता हुआ अपनी सार्थकता एव उपयुक्तता सूचित कर रहा है।

इस तरह कवि ने 'प्रियप्रवास' मे विभिन्न औचित्यो का समावेश करके अपने काव्य को सरस एव सुन्दर बनाने की चेष्टा की है और अपने काव्य-कौशल को भी व्यक्त किया है, परन्तु जहाँ-तहाँ अनौचित्य आगये हैं, जिनसे काव्य मे कुछ दोष दिखाई देते हैं, फिर भी वे दोष इतने नही हैं जो सर्व-साधारण की दृष्टि मे आसकें, अपितु वे चन्द्रमा के कलक की भाँति कवि के कला-कौशल की ज्योत्स्ना मे छिप जाते हैं और उनकी ओर अनायास ही ध्यान नही जाता। अत यह मानना पडेगा कि 'प्रियप्रवास' मे औचित्य के उत्कृष्ट रूप की ही अभिव्यजना हुई है।

'प्रियप्रवास' मे काव्य शैलियों का स्वरूप—शैली भावाभिव्यक्ति का ढग है। यही वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपने हृदयस्थ भावो को पाठको एव श्रोताओ तक पहुँचाता है। इसके लिए कभी वह सरल पद्धति का प्रयोग करता है, कभी शुद्ध साहित्यिक एव क्लिष्ट पद्धति को अपनाता है और कभी अत्यत अलकृत पद्धति का प्रयोग करता है। सभी प्रकार की पद्धतियो द्वारा वह अपने विचार दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इसी कारण शैली मे सबसे बडा गुण प्रेषणीयता का होता है। जहाँ कवि अपनी भाषा को समास एव व्यजना-शक्ति से इतना बोझिल बना देता है कि श्रोता एव पाठक उसके

मूल-भाव तक बड़ी कठिनाई से पहुँच पाते हैं, वहाँ इस प्रेषणीयता के गुण का ह्रास हो जाता है और कविता सर्वजनसुलभ नहीं रहती, परन्तु जहाँ कवि सरल एवं सरस पदावली के साथ अपने विचारों को व्यक्त करता है, वहाँ यह प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक देखा जाता है। इस शैली के द्वारा ही किसी कवि का पता सुगमता से चल जाता है, क्योंकि प्रत्येक कवि की अपनी एक प्रमुख शैली होती है। साधारणतया शैली के पाँच गुण प्रमुख रूप से माने गये है—(१) ओजस्विता, (२) सजीवता, (३) प्रौढ़ता, (४) प्रभावशालीनता और (५) प्रेषणीयता। अतः वही शैली सर्वश्रेष्ठ होती है, जिसमें शब्दों का चयन इतना सुन्दर एवं सुष्ठु हो, कि उसमें उक्त सभी गुणों का समावेश पूर्णरूपेण हो सके और जो रोचकता, व्यंजकता एवं धारावाहिकता के कारण अत्यंत सुस्पष्ट एवं सजीव हो। साधारणतया काव्य की शैलियाँ चार प्रकार की होती हैं—(१) सरल शैली, (२) अलंकृत शैली, (३) गुम्फित या क्लिष्ट शैली और (४) गूढ़ या सांकेतिक शैली। 'प्रियप्रवास' में केवल प्रथम तीन शैलियों का स्वरूप ही मिलता है। चौथी गूढ़ या सांकेतिक शैली के दर्शन यहाँ नहीं होते।

सरल शैली—इस शैली के अंतर्गत सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है, प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है और अत्यंत सरलतापूर्वक भावों की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रियप्रवास' में इस शैली का प्रयोग अधिकांश स्थलों पर हुआ है। जैसे—

> फूले नीले वनज-दल-सा गात का रंग प्यारा।
> मीठी-मीठी मनिन मन की मोहिनी मंजु-बातें।
> सोंधे-डूबी-अलक यदि है श्याम की याद आती।
> ऊधो मेरे हृदय पर तो साँप है लोट जाता। १०।५७

अलंकृत शैली—इस शैली के अंतर्गत अलंकार-प्रधान भाषा का प्रयोग किया जाता है और सुमधुर शब्दों द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए भावों को व्यक्त किया जाता है। 'प्रियप्रवास' में इस शैली के भी यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं। जैसे—

> मेरी आशा नवल-लतिका थी बड़ी ही मनोज्ञा।
> नीले पत्ते सकल उसके नीलमों के बने थे।
> हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदकों के।
> पन्नों द्वारा रचित उसकी सुंदरी डंठियाँ थीं। १०।७६

गुम्फित एवं क्लिष्ट शैली—इस शैली के अंतर्गत परस्पर सगुम्फित लम्बे-लम्बे समास बहुल शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग होता है तथा कभी-कभी एक ही वाक्य में कितने ही अन्य वाक्य भी सम्मिलित रहते हैं और पदावली भी अत्यंत क्लिष्ट एवं सगुम्फित होती है। 'प्रियप्रवास' में इस क्लिष्ट शैली का प्रयोग अधिक तो नहीं हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं कवि का झुकाव इसकी ओर अवश्य रहा है। जैसे—

नाना भाव विभाव हाव-कुशला आमोद आपूरिता।
लीला लोल कटाक्ष-पात निपुणा भ्रू भंगिमा-पंडिता।
वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता।
राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनंद आन्दोलिता।
सद्वस्त्रा सदलंकृता गुणयुता सर्वत्र-सम्मानिता।
रोगी वृद्ध-जनोपकार-निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा।
सद्भावातिरता अनन्य हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्री जाति रत्नोपमा। ४।६-८

इनके अतिरिक्त गूढ़ एवं सांकेतिक शैली का प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है, परन्तु उक्त तीनों शैलियों में से भी प्रथम सरल शैली को ही कवि ने यहाँ सर्वाधिक अपनाया है। अतः शैली की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक विद्यमान है। परन्तु जहाँ जहाँ गुम्फित एवं गूढ़ शैली का प्रयोग हुआ है, वहाँ कवि की कविता अत्यंत कोमिल एवं कृत्रिम बन गई है और उसकी स्वाभाविकता पूर्णतया नष्ट हो गई है। उसके लिए कवि ने भले ही यह दलील दी हो कि "क्या रामचरितमानस, रामचंद्रिका और विनय पत्रिका में भी 'प्रियप्रवास' अधिक संस्कृत-गर्भित है।"[१] परन्तु यह बात स्पष्ट है कि रामचरितमानस, रामचंद्रिका या विनयपत्रिका के भी वे पद या वे पद्य भाग अधिक सजीव एवं अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है, जहाँ पर कवियों ने क्लिष्ट एवं गुम्फित शैली का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका के प्रारम्भिक स्तोत्रों को देखा जा सकता है। वे उतने प्रभावशाली नहीं है, जितने कि शेष पद दिखाई देते हैं। यही बात 'प्रियप्रवास' के बारे में भी है। यहाँ पर भी कवि का झुकाव जहाँ-जहाँ क्लिष्टतापूर्ण संस्कृत-गर्भित

१ प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० १०

शैली की ओर रहा है, वहाँ-वहाँ काव्य की सरसता, सजीवता एवं सुस्पष्टता नष्ट हो गई है और प्रेषणीयता का गुण भी नष्ट हो गया है, परन्तु जहाँ कवि ने सरस एवं मुहावरेदार पदावली युक्त सरल शैली या अलंकृत शैली का प्रयोग किया है, वहाँ सजीवता एवं प्रभावशालीनता पूर्णतया विद्यमान है।

निष्कर्ष—इस प्रकार कला के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भले ही 'प्रियप्रवास' की भाषा में संस्कृत के छंदों को अपनाने के कारण दुरुहता, कृत्रिमता एवं क्लिष्टता आगई हो और भले ही कहीं-कहीं उसमें अस्वाभाविकता भी विद्यमान हो, फिर भी अन्यान्य त्रुटियों के रहते हुए वह अत्यंत परिष्कृत एवं भावानुकूल है, उसमें विभिन्न मनोभावों एवं परिस्थितियों के चित्रण की अपूर्व क्षमता है तथा अनेक स्थलों पर कवि को विविध भावों के चित्रण में पर्याप्त सफलता भी मिली है। इसी तरह कवि के अलंकार-विधान एवं छंद-विधान भी अत्यंत प्रौढ़ एवं परिमार्जित हैं तथा उनमें सर्वत्र कलात्मकता, चमत्कार-प्रियता तथा रूढ़िवादिता के साथ-साथ सरसता, कोमलता एवं वर्णन की नवीनता भी विद्यमान है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि ने भावपक्ष की तरह कलापक्ष में भी क्रान्ति उपस्थित करते हुए नवीनता का श्रीगणेश किया है और अपनी भावाभिव्यक्ति को भी युगानुकूल बनाने की चेष्टा की है। परन्तु कवि के समय तक भाषा इतनी सशक्त एवं व्यंजना-प्रधान नहीं बन सकी थी, जिससे कवि अपनी अनूठी अभिव्यक्ति को प्रकट कर पाता। फिर भी कवि ने जिस नवीन दिशा की ओर संकेत करते हुए अपने काव्य का निर्माण किया है, उसमें गुरुता, गंभीरता एवं अभिव्यंजना की उत्कृष्टता विद्यमान है और अर्थ-सौष्ठव के साथ-साथ सरसता भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाती है इतना ही नहीं प्राचीन रुढ़िवादिता का भी कवि ने विरोध किया है। इसी कारण मंगलाचरण, प्रस्तावना, खल-निंदा, सज्जन प्रशंसा आदि विभिन्न परम्परागत बातों को प्रारम्भ में स्थान नहीं दिया है और न कथानक की पिटी-पिटाई लीक पर ही चलने का प्रयत्न किया है, अपितु कथा-योजना में नवीन प्रणाली का श्रीगणेश करते हुए विभिन्न पात्रों के मुख से ही सम्पूर्ण कथा को कहलवाने का प्रयत्न किया है। भले ही कथानक की सुसंगठित योजना की दृष्टि से यह कार्य त्रुटिपूर्ण हो, परन्तु यह कवि की कलात्मकता एवं गवेषणा-पूर्ण रचना-कौशल का परिचायक है और कवि के पुष्ट कला-पक्ष का द्योतक है। इन सभी विशेषताओं के कारण विभिन्न त्रुटियों को देखते हुए भी प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने लिखा था—"खड़ी हिन्दी 'प्रियप्रवास' के बल से सचमुच अपने पाँवों खड़ी हो

गई। उसको मानो अपने मे सोना मिल गया और वह सोना जाग्रतावस्था मे में भी सोना बना रहा। आज भी खड़ी हिन्दी मे महाकाव्यो की सख्या इनी गिनी है और उनमे 'प्रियप्रवास' का स्थान अग्रगण्यता की दृष्टि से आदरणीय है।"[1] इसी तरह हरिऔध जी के रचना-चातुर्य की प्रशसा करते हुए प० रामशकर शुक्ल 'रसाल' ने यहाँ तक लिखा है—"हम इस खड़ी बोली के कृष्णकाव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते हैं। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है। वर्णन शैली बड़ी ही चोखी और चुटीली है, भावानुभावादि का भी अच्छा मार्मिक तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कला-कौशल और अलकार-वैचित्र्य भी स्तुत्य है। इसी एक काव्य से उपाध्याय जी खड़ी बोली के कवि सम्राट् होकर अमर हो गये हैं।"[2] इसी कारण 'प्रियप्रवास' की भाषा के स्वाभाविक प्रवाह, सगीत, लालित्य, भावो के व्यक्त करने की क्षमता आदि की प्रशसा करते हुए तथा अलकार-निरूपण प्रकृति-चित्रण के विशद वर्णन पर दृष्टिपात करते हुए डा० प्रतिपाल सिंह ने लिखा है कि "यह काव्य महाकाव्यो की श्रेणी में स्थान पाने का अधिकारी हो जाता है।"[3] और इसीलिए डा० गोविंदराम शर्मा ने भी लिखा है कि "सस्कृत की महाकाव्य-शैली का अनुकरण करते हुए हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' की रचना उस समय की थी जब कि खड़ी बोली कविता के क्षेत्र मे प्रौढता नहीं पा सकी थी। इसलिए कतिपय त्रुटियो के अस्तित्व मे भी 'प्रियप्रवास' को हम हिन्दी के वर्तमान महाकाव्यो का अग्रदूत स्वीकार करते हैं।"[4]

इस तरह उक्त विचारो से पूर्णतया सहमत होकर हम भी यही मानते हैं कि 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली के महाकाव्यो का प्रथम प्रयास है। उसमे उच्चकोटि के महाकाव्यो की सम्पूर्ण विशेषताओं को ढूँढना तो सर्वथा असम्भव है, परन्तु उसे महाकाव्यो की श्रेणी मे से किसी भाँति हटाया नहीं जा सकता। हो सकता है कि वह पद्मावत, रामचरितमानस, कामायनी आदि की भाँति गुरुत्व, गाभीर्य एव महत्व से परिपूर्ण न हो और उसमे एक उच्चकोटि के महाकाव्य का सा गम्भीर जीवन-दर्शन, आदर्शोद्भूत महानता तथा लोक-कल्याणमयी दृष्टि न हो, परन्तु उसके भावो की गहनता, विचारो की

---

१ महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० २०
२ महाकवि हरिऔध, पृ० ३६१
३. बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० १०१
४. हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० १३५

प्रभविष्णुता, उद्देश्य की महानता एवं काव्य-कला की प्रौढता को देखकर भी हम आँखें मीचलें और उसे महाकाव्य न मानें यह दूसरी बात है। वैसे 'प्रियप्रवास' निस्संदेह अपनी कोटि का एक अनुपम महाकाव्य है तथा आधुनिक युग के सभी महाकाव्यों का पथ-प्रदर्शक है।

प्रकरण ५

प्रियप्रवास में संस्कृतिक निरूपण

भारतीय संस्कृति—भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा वैदिक काल से लेकर आज तक प्रवाहित है और इसमें न जाने कितनी अन्य संस्कृतियों का भी सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु इसके अपने प्रवाह में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ है और न इसकी धारा क्षीण ही हुई है। इस संस्कृति को स्वरूप देने में निगम, आगम, बौद्ध जैन, द्रविड, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि कितनी ही संस्कृतियों का हाथ रहा है और इसी कारण इसे सामासिक संस्कृति भी कहा जाता है, फिर भी यह सांस्कृतिक धारा अन्यान्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण पर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण बनाये हुए है। भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इसके विभिन्न रूप हैं। जैसे प्राचीन ग्रंथों के आधार पर देवसृष्टि का प्रथम उल्लेख मिलने के कारण हम इसे दो रूपों में देखते हैं—देव-संस्कृति और मानव संस्कृति। आगे चलकर यह देव-संस्कृति पूर्णतया मानव-संस्कृति में विलीन हो गई और मानव संस्कृति फिर दो रूपों में दिखाई देने लगी—<u>वैदिक संस्कृति और अवैदिक संस्कृति</u>। इनमें से जो संस्कृति वैदिक ग्रंथों के आधार पर पल्लवित हुई वह वैदिक संस्कृति है और जो वैदिक साहित्य से परे वेद-बाह्य विचारों के आधार पर विकसित हुई उसे अवैदिक संस्कृति माना जा सकता है। इनमें से वैदिक संस्कृति भी पुनः दो रूपों में विकसित हुई—निगम संस्कृति और आगम संस्कृति। निगम संस्कृति तो पूर्णतया वैदिक विचारों के आधार पर विकसित हुई थी परन्तु आगम संस्कृति वैदिक विचारों को ही लेकर विकसित तन्त्रों या आगमों के आधार पर पल्लवित हुई। ऐसे ही अवैदिक संस्कृति में कितनी ही अन्य संस्कृतियाँ सम्मिलित हैं। जैसे आग्नेय संस्कृति द्रविड संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति तथा अन्य विदेशी संस्कृतियाँ, जिनमें यूनानी, शक, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि संस्कृतियाँ सम्मिलित हैं। इस तरह भारतीय संस्कृति इन

विभिन्न रूपों में विभक्त दिखाई देती है और यह शंका होती है कि इतने सम्मिश्रण के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति का अपना स्वरूप कैसे अक्षुण्ण बना रहा ? इसके लिए सबसे सुंदर उदाहरण गंगाजी का दिया जाता है। जैसे, गंगा नदी में अनेक नदी और नाले मिलते हैं, फिर भी गंगा की पावनी धारा अक्षुण्ण रूप से बहती चली जाती है और सर्वत्र गंगा की धारा के नाम से ही प्रसिद्ध है। यही बात भारतीय संस्कृति के बारे में भी है। इसमें भी अनेकानेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु वे सभी संस्कृतियाँ इसमें आकर इस तरह घुलमिल गई हैं कि आज उनका अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता, अपितु वे सभी मिलकर भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा के नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही इतनी संस्कृतियों के मिलने के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति की कुछ अपनी ऐसी विशेषतायें रही हैं, जिनके कारण यह संस्कृति सबका समन्वय करती हुई आज तक विद्यमान है तथा बाह्य संस्कृतियों से प्रभावित होकर भी इसकी अन्तरात्मा में तनिक भी परिवर्तन नहीं हुआ है। इतना ही नहीं इसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल है कि बरसाती नालों के रूप में मिली हुई अन्य संस्कृतियों को भी इसने पवित्र करके अपना रूप प्रदान कर दिया है और आज वे सभी बाह्य संस्कृतियाँ घुलमिल कर भारतीय संस्कृति के रूप में एकाकार हो गई हैं।

'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति का स्वरूप—भारतीय संस्कृति का स्वरूप एक रसायन के रूप में तैयार हुआ है। इसी कारण इसमें विभिन्न विशेषतायें विद्यमान हैं और वे सब अपना-अपना निजी गुण रखते हुए भी एक सामूहिक गुण के रूप में परिणत हो गई हैं। 'प्रियप्रवास' का निर्माण आधुनिक युग के द्वितीय चरण में हुआ था। उस समय वैदिक एवं अवैदिक विचारों का प्रचार एवं प्रसार करने के लिये भारत में कितनी ही सांस्कृतिक संस्थायें कार्य कर रही थीं, जिनमें से ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन, प्रार्थनासमाज, राधास्वामी सम्प्रदाय, आदि प्रसिद्ध हैं। इनके विचारों से सभी प्रभावित हुये थे। प्रभावित होने का प्रमुख कारण यह था कि ये सभी सांस्कृतिक संस्थायें लोकोपकार, देश-सेवा, समाज-सेवा, एकता, समता, विश्व-प्रेम, लोक-हित आदि के विचारों को प्रमुखरूप से लेकर चली थीं, कोई भी संस्था भारतीय संस्कृति के मूल सिद्धान्तों से विमुख न थी और सभी के अंतर्गत अधिक से अधिक भारतीय सांस्कृतिक परम्परा विद्यमान थी। अतः उक्त संस्थाओं और भारतीय परम्परा से पूर्णतया प्रभावित होकर हरिऔध जी ने भारतीय संस्कृति के उन सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं प्रमुख विचारों

को 'प्रियप्रवास' मे स्थान दिया, जो पूर्णतया युग के अनुकूल थे और जिनसे राष्ट्रीय नव जागरण एव देशोन्नति मे पूरी-पूरी सहायता मिल सकती थी। अब हम भारतीय सस्कृति के उन्ही विचारो को क्रमश प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

आदर्श परिवार—भारतीय सस्कृति मे परिवार का अत्यधिक महत्व है। यहाँ की सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली इतनी उत्कृष्ट एव उपादेय है कि उसी के कारण मानव के सुदर चरित्र एव उन्नत विचारो का निर्माण होता है। इस परिवार की पाठशाला मे ही वह जीवन के सम्पूर्ण रहस्यो की शिक्षा सुगमता से ग्रहण कर लेता है और अपने आदर्शो को अपनाकर जीवन क्षेत्र मे पदार्पण करने के लिए सुयोग्य हो जाता है। हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे ऐसे ही सुदर एव आदर्श परिवार की झाँकी अकित की है, जिसमें माता यशोदा, पिता नद तथा परम लाडिला पुत्र कृष्ण तीन सदस्य हैं और उनमें परस्पर कितना स्नेह, कितना दुलार एव कितना आदर भाव है कि वे भारतीय कुटुम्ब का आदर्श बने हुए हैं। यहाँ माता यशोदा एक आदर्श माता के रूप मे अकित हैं, जो अपने पुत्र के लालन-पालन मे बडी ही कुशल हैं। 'वे अपने पुत्र को प्रभात होते ही बडी उत्कठा के साथ मीठी मेवा, मृदुल नवनी और पक्वान्न खिलाया करती थी तथा कजरी गाय का दूध पिलाया करती थी। उनका पुत्र कृष्ण बडा ही सकोची था। अत वे उसे गोद मे लेकर बडी रुचि के साथ खिलाया-पिलाया करती थीं। यदि पुत्र का मुख तनिक भी म्लान हो जाता, तो उनका हृदय भी व्यथित हो उठता था और वे पुत्र का मुख देखते-देखते ही अपना सारा दिन व्यतीत करती थी। यदि पुत्र के खाने पीने का समय तनिक भी टल जाता था, तो माता को बडी व्यथा होती थी। वे पुत्र के खेलने-कूदने का भी बडा ही ध्यान रखती थीं। रग बिरगे मुग्धकारी खिलौने तथा नट आदि के खेलों से पुत्र को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थीं।'[1] वही उनका लाडिला पुत्र जब कस के निमत्रण पर मथुरा जाने लगा तब भला ऐसी स्नेहमयी जननी का हृदय क्यो न विदीर्ण होता। पुत्र के जाते ही उनकी वेदना एव व्यथा असह्य हो गई और जब वह पुत्र लौटकर ही न आया, तब तो उस माता के दुख की कोई सीमा न रही। इस तरह एक आदर्श माँ के जीवन की सुदर झाँकी 'प्रियप्रवास' में अकित है।

---

१. प्रियप्रवास १०।२४-३०

जैसी आदर्श माँ यहाँ चित्रित है वैसा ही आदर्श पुत्र भी यहाँ विद्यमान है। एक पुत्र के रूप में अंकित 'श्रीकृष्ण अपनी माता यशोदा तथा पिता नंद को अत्यंत स्नेह करते थे। अपनी मधुर क्रीड़ाओं से सबका मन मोहित करते रहते थे। वे बड़ी ही सरस बातें किया करते थे। सदैव छोटे और बड़े सभी की भलाई के कार्य करते रहते थे। बचपन से ही उन्हें दूसरों के हित का बड़ा ध्यान रहता था। सभी से अत्यंत प्यार के साथ मिलते थे। दुख के दिनों में सभी की सहायता करते थे। बड़ों से बड़ी विनम्रता के साथ मिलते थे और बड़ी शिष्टता के साथ बातचीत किया करते थे। वे कभी किसी से विरोध की बातें नहीं करते थे। बड़े प्रेम के साथ समस्त बालकों के साथ खेला करते थे और अपूर्व फल-फूल खिला-खिला कर स्वयं भी प्रसन्न होते तथा अपने साथियों को भी प्रसन्न रखते थे। यदि वे देखते कि कहीं मित्रों में कलह हो गया है तो वे तुरन्त उसे शान्त कर देते थे। यदि कोई बली निर्बल को सताता था तो वे उसे तिरस्कृत करते थे और यदि कोई व्यक्ति बड़े प्रेम के साथ अपना कार्य करता था तो यह देखकर उन्हें प्रसन्नता होती थी। माता, पिता तथा गुरुजन आदि किसी भी बड़े व्यक्ति का कोई छोटा व्यक्ति निरादर करता था तो वे बड़े ही खिन्न और दुखी होकर उन छोटे व्यक्तियों या पुत्रों को समझाते हुए सदुपदेश दिया करते थे। वे सदैव सेवा और उपकार में लीन रहते थे। इसी कारण वे अकेले नंद-यशोदा के ही पुत्र न थे, अपितु सारा ब्रज उन्हें अपना समझता था, संतानहीन व्यक्ति उनको ही अपनी संतान मानते थे और संतानवान व्यक्ति अपनी संतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। इस तरह थोड़ी अवस्था में ही वे अत्यंत सम्मान एवं आदर के पात्र बन गये थे।'[1]

भारतीय संस्कृति में गमन के समय प्रायः छोटे व्यक्ति अपने से बड़ों के चरण छूते हैं और बड़े व्यक्ति आशीर्वाद देते हैं। परिवार के इस उज्ज्वल रूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' में अत्यंत रमणीयता के साथ अंकित है। श्रीकृष्ण तथा बलराम मथुरा चलते समय अपनी माता यशोदा के चरण छूते हैं और माता यशोदा उन्हें आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—"हे जीवनाधार जाओ और दोनों भैया शीघ्र लौटकर मुझे अपना चन्द्रमुख दिखाना। तुम्हारे मार्ग में धीरे-धीरे सुंदर पवन बहे, सूर्य अपनी तीव्रता न दिखावें, वृक्ष प्यारी छाया प्रदान करें, वनों में शान्ति फैले, मार्ग की समस्त बाधायें शान्त हों,

---

१. प्रियप्रवास १२।८०–९०

आपत्तियाँ दूर हो, तुम्हारी यात्रा सफल हो और तुम कुशलतापूर्वक घर लौट कर आओ।"[१] यहाँ पर स्पष्ट ही "गच्छ पुनरागमनाय" वाली भारतीय संस्कृति की आदर्शात्मक वाणी गूँजती हुई सुनाई पडती है।

पिता के रूप मे नद का जीवन भी अत्यत स्नेह, दुलार एव कर्त्तव्य-परायणता से परिपूर्ण दिखलाया गया है। कस का निमत्रण पाकर उनका पितृ-हृदय भी अपने लाडले पुत्र के लिए दहल जाता है। उनकी रात बडी कठिनाई से कटती है[२] और जब मथुरा से अकेले ही लौट कर आते हैं तो वे अपना मुख तक दिखाना अच्छा नही समझते तथा घर आने मे उनके पैर मन-मन भर के हो जाते हैं। उनका मुख उदास हो आता है और वे एक विक्षिप्त की भाँति घर लौटते हैं।[३] कारण स्पष्ट ही है कि वे अपने सर्वस्व तथा प्राणप्रिय पुत्र को मथुरा छोड कर अकेले ही चले आये थे। इतना ही नही उनकी वेदना उद्धव के सम्मुख और भी शतधा होकर फूट पडती है तथा वे अपने यमुना मे डूबने पर कृष्ण द्वारा बचाये जाने को अत्यत बुरा मानते हैं, क्योकि यदि उस समय उनका लाडला पुत्र उन्हे न बचाता, तो अब यह असह्य वेदना न सहनी पडती।[४] उनकी यह असह्य पीडा एव उनका यह अटूट प्रेम एक परिवार के उच्च आदर्श का द्योतक है। इस तरह हरिऔधजी ने भारतीय परिवार के इस सास्कृतिक आदर्श का अत्यत सजीवता के साथ निरूपण किया है तथा माता पिता के असीम स्नेह एव पुत्र के आदर्श जीवन की अत्यत मार्मिक झाँकी अकित की है। भारतीय परिवारों मे स्नेह का जैसा अटूट बघन एव हृदयो का जैसा अभिन्न सबध विद्यमान है, वैसा अन्य किसी भी सास्कृति में नही दिखाई देता। हरिऔधजी ने परिवार की उसी सास्कृतिक धारा का वर्णन 'प्रियप्रवास' मे करके भारतीय जीवन की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है।

आदर्श समाज—आदर्श परिवार की भाँति 'प्रियप्रवास' में आदर्श समाज का चित्र भी अकित किया गया है। यह समाज ब्रज के जीवन श्रीकृष्ण का अनन्य प्रेमी है। श्रीकृष्ण के प्रति इतना स्नेह, इतना दुलार, इतना बधुत्व एव इतना ममत्व इस समाज मे भरा हुआ है कि जिस समय वे अपने ग्वाल-

१. प्रियप्रवास ४।४४-४५
२ वही ३।२१-२५
३ वही ६।१३-६
४. वही १०।८६-९४

वालों के साथ शाम को गायें चराकर लौटते हैं, सारा समाज काम-काज छोड़-कर अपने प्रिय नेता एवं उदार बंधु के दर्शन के लिए दौड़ पड़ता है। आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने-अपने घर से निकल पड़ते हैं और श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का दर्शन करके अपने जीवन को धन्य समझते हैं, व्रज-वनितायें तो अनिमेष नेत्रों से उनकी छवि देखती हुई पत्थर की मूर्ति सी बन जाती हैं, व्रज के शिशु हर्ष से उछलते हुए उनके चारों ओर इकत्रित हो जाते हैं, युवक-जन रस की निधि लूटते से जान पड़ते हैं और वयोवृद्ध उस सौंदर्य को निहार कर अपने नेत्रों का फल प्राप्त करते हैं। इस तरह व्रज का सारा समाज श्रीकृष्ण को देखकर हर्ष एवं आनंद में विभोर हो जाता है।[1] परन्तु जैसे ही व्रज-प्रदेश में कंस के निमंत्रण पर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का समाचार सुनाया जाता है, वैसे ही यह प्रफुल्लित समाज शोक में निमग्न होकर अपने जीवन-धन के बारे में सशंकित हो उठता है। श्रीकृष्ण के गमन पर तो ऐसा जान पड़ता है मानो इस सम्पूर्ण समाज का प्राण ही निकल कर कहीं जारहा हो। इस समाज की ऐसी दुरवस्था क्यों न हो? क्योंकि श्रीकृष्ण ने अपने अटूट प्रेम, असीम स्नेह एवं अथक परिश्रम द्वारा व्रज के समाज को इतना सुसंगठित कर लिया था कि वे सभी अपने को एक कुटुम्ब अथवा एक नीड़ में रहने वाले प्राणियों के रूप में मानते थे। उनमें ऐसी एकरूपता स्थापित हो गई थी कि वे सभी शरीर के अवयवों की भांति अभिन्न हो गये थे। उनके श्रीकृष्ण उनकी आत्मा थे और समस्त व्रज का समाज शरीर था। इसके लिये श्रीकृष्ण ने भी उनके जीवन में घुलमिल कर पूर्णतया अभिन्नता स्थापित करली थी। इसीलिये तो कालीनाग का वध करते समय जैसे ही श्रीकृष्ण यमुना में कूदे सारी व्रजभूमि में हाहाकार मच गया, सारा समाज यमुना के किनारे आकर इकत्रित हो गया और जब तक श्रीकृष्ण वंशी बजाते हुए सकुशल ऊपर नहीं आगये तब तक सभी व्यक्ति किनारे पर खड़े रहे।[2] यही बात दावाग्नि, प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि, व्योमासुर-वध आदि के अवसर पर भी हुई। श्रीकृष्ण ने समाज की हित-कामना से उनका अत्यंत सुन्दर संगठन किया था। उसी का यह परिणाम था कि व्रज की सम्पूर्ण बाधाओं को वे सब मिलजुल कर सुगमता से दूर कर लेते थे। उन्होंने समाज को संगठित करने के लिए बचपन से ही प्रयत्न किया था। वे अपने मित्रों, सुहृदों एवं बंधुओं के साथ खेलते हुए स्वयं हार जाते थे

---

१. प्रियप्रवास १।११-२८
२. वही ११।३८-४०

और उन्हें विजयी बनाया करते थे। वन में अपने सखाओं को भूखा देखकर स्वयं पेड़ों पर चढ़कर मीठे फल तोड़-तोड़ कर उन्हें खिलाया करते थे। यशोदाजी उनके लिए वन में बड़े बड़े सुस्वादु भोजन प्रतिदिन भेजा करती थी। श्रीकृष्ण उन समस्त व्यंजनों को अपने सखाओं के साथ बैठकर खाया करते थे। नवीन किसलयों अथवा अन्य कोमल पत्तों के खिलौने बनाकर वे अपनी ग्वाल मंडली में बाँटकर उसे प्रसन्न बनाया करते थे। कभी-कभी वे सघन वृक्ष की छाया में बैठकर देवता एवं दानवों की कथायें सुनाकर अपने सखाओं को प्रबोधन किया करते थे।[1] इस तरह उन्होंने समाज को एक ऐसी इकाई में परिणत कर दिया था कि वे सभी अपने को सदैव अभिन्न समझा करते थे और श्रीकृष्ण के संकेत पर मर मिटने को उत्सुक रहा करते थे। इतना ही नहीं सारे समाज में इसी कारण श्रीकृष्ण की सी सच्चरित्रता, सरलता, सहृदयता, सज्जनता एवं उदारता व्याप्त हो गई थी और श्रीकृष्ण के चले जाने पर वे अपने जीवन धन के गुणगान गाते हुए तथा उनके विरह-जन्य संताप को सहते हुए सदैव श्रीकृष्णमय होकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। अतएव हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में व्रज के ऐसे समाज की झाँकी अंकित की है, जो अपार स्नेह एवं असीम प्रेम की मूर्ति बना हुआ है तथा जिसके जीवन में एकता, समता, अनन्यता एवं अभिन्नता के साथ-साथ सांस्कृतिक समरसता पूर्णतया विद्यमान है जो श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण होने के कारण भेद में भी अभेद एवं अनेकता में भी एकता के दर्शन करता है तथा जिसमे श्रीकृष्ण जैसे समाज के नेता, राधा जैसी समाज-सेविका, गोप जैसे सच्चे हितैषी एवं सुसंगठित समाज-सेवी सैनिक, गोपियाँ जैसी स्नेहमयी सच्चे प्रेम की पुजारिन और सम्पूर्ण लता, वृक्ष, पशु आदि एक ही प्रेम-रस में लीन दिखाये गये हैं। इस तरह 'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति की एक-रूपता से परिपूर्ण आदर्श समाज का सजीव चित्रण हुआ है।

अवतारवाद—भारतीय जीवन में अवतारों की कल्पना का भी बड़ा महत्व है। यहाँ पशु एवं मानव आदि सभी रूपों में ईश्वर के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है। ऐसा माना जाता है कि अभी तक दस अवतार हो गये हैं जो कच्छप, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं। हो सकता है कि इनके पीछे मानव के क्रमिक विकास का इतिहास छिपा हुआ हो, क्योंकि पहले जल-जीवों को अवतार मानना, फिर

---

१ प्रियप्रवास १३।६४ १०१

वाराह जैसे जल और स्थल के जीव को अवतार कहना, पुनः पशु और मानव के मिश्रित स्वरूप 'नृसिंह' को अवतार कहना, तदुपरान्त एक छोटे से बौने पुरुष के रूप में 'वामन' के अवतार की कल्पना करना और इसके अनंतर 'परशुराम' के रूप में पुरुष के पूर्ण अंगों सहित ईश्वर के अवतीर्ण होने की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मानव की उत्पत्ति सहसा नहीं हुई, उसका क्रमिक विकास हुआ है और वह जल-जीव से विकसित होते-होते मानव के रूप में पूर्ण विकास को पहुँचा है। भले ही यह कोरी कल्पना हो परन्तु इसमें भी सत्यांश विद्यमान है, क्योंकि नृ-विज्ञान भी यही बताता है कि मानव का क्रमिक विकास हुआ है और भूगोल से यह सिद्ध है कि सर्वप्रथम जल ही जल सर्वत्र फैला हुआ था, उसके अनंतर क्रमशः पृथ्वी आदि का विकास हुआ। अतः पहले मानव निस्संदेह जल-जीव के रूप में ही अवतीर्ण हुआ होगा। इसीसे हमारे यहाँ सर्वप्रथम मत्स्य एवं कच्छप जैसे जल-जीवों के रूप में भगवान् के अवतीर्ण होने की कथायें प्रचलित हैं। तदनंतर विकसित होते-होते मानव ने 'राम' और 'कृष्ण' के रूप में अवतार ग्रहण किया। भारतीय संस्कृति में 'राम' को बारह कलाओं का और 'कृष्ण' को सोलह कलाओं का पूर्ण अवतार कहा जाता है। इस तरह मत्स्य या मछली से लेकर 'कृष्ण' तक मानव के पूर्ण-विकास की कथा को यहाँ धार्मिक आवरण देकर 'अवतारों' के रूप में कहने की कथा प्रचलित है। यही कारण है कि भारतीय विचार-धारा में अवतारों के प्रति भी अत्यंत श्रद्धा एवं विश्वास प्रकट किया जाता है। यहाँ सर्वाधिक श्रद्धा एवं भक्ति 'राम' और 'कृष्ण' के प्रति व्यक्त की जाती है। इसका मूल कारण यह है कि इन दोनों अवतारी पुरुषों के बारे में भारतीय कवियों एवं लेखकों ने अन्यान्य ग्रंथ लिखकर इनकी चारित्रिक विशेषताओं एवं इनकी महानताओं का उद्घाटन किया है। यहाँ के आदि काव्य बाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में क्रमशः राम और कृष्ण की महानता, दिव्यता, गुरुता एवं अलौकिक कार्य-प्रणाली आदि का ही वर्णन हुआ है, जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय साहित्य में सर्वाधिक इनकी ही चर्चा की गई है और इसी कारण ये दोनों महान् एवं दिव्य महापुरुष भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग बन गये हैं।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' का निर्माण महात्मा श्रीकृष्ण के आधार पर किया है। यद्यपि हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के अलौकिक एवं अमानवीय कार्यों को लौकिक एवं मानवीय बनाने की चेष्टा की है और उन्हें एक महापुरुष, नृ-रत्न एवं लोकप्रिय नेता के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न

किया है, तथापि वे श्रीकृष्ण के प्रति अगाध श्रद्धा, अटूट प्रेम एव अनन्त विश्वास को किसी प्रकार परिवर्तित नही कर सके हैं। कवि को भारतीय जीवन की वह गहन अनुभूति किसी न किसी प्रकार व्यक्त ही करनी पडी है और वे श्रीकृष्ण को भले ही अवतारी दिव्यपुरुष के रूप मे रखने की प्रतिज्ञा करके चले हो, परन्तु 'प्रियप्रवास' मे भी श्रीकृष्ण अपने दिव्य, भव्य एव अलौकिक अवतारी पुरुष के रूप मे ही विद्यमान हो गये हैं। प्रथम सर्ग मे ही श्रीकृष्ण की अनुपम एव अलौकिक छवि तथा उस छवि को देखने के लिये आई हुई समुत्सुक जनता की श्रद्धा-भक्ति का वर्णन[1] भारतीय सस्कृति की उस अविच्छिन्न धारा की ओर सकेत कर रहा है, जिसके अतर्गत श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर अपनी श्रद्धा-भक्ति अर्पण करने का विधान है और जहाँ श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व मानकर ईश्वर का अवतार कहा गया है। इतना ही नही कालीनाग नाथने के उपरान्त उसके सिर पर चढकर बशी बजाते हुए श्रीकृष्ण का वर्णन तो पूर्णतया उनके अवतार की ही घोषणा कर रहा है।[2] इस तरह हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के प्रति नद, यशोदा, राधा, गोप एव गोपियो के प्रगाढ प्रेम एव हार्दिक भक्तिभाव की अभिव्यजना करते हुए 'प्रियप्रवास' मे भक्तिकालीन कवियो की ही भाँति श्रीकृष्ण के अवतारी रूप की झाँकी प्रस्तुत की है और भारतीय सस्कृति के अतर्गत व्याप्त अवतारी पुरुषो के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति का निरूपण किया है।

ईश्वर-प्रार्थना—भारतीय सस्कृति मे ईश्वर-प्रार्थना का अत्यधिक महत्व है। यहाँ के धर्म प्राण जीवन मे उस अनत शक्ति-सम्पन्न, विराट् एव विभु भगवान् के प्रति एक ऐसा दृढ विश्वास एव अटूट श्रद्धा विद्यमान है, जिसे प्राय कष्ट एव दुर्घटना के समय किसी भी सतप्त हृदय से सुना जा सकता है। वैसे तो विश्व के समस्त धार्मिक सम्प्रदायो मे ईश्वर-प्रार्थना

---

१. प्रियप्रवास १।१५-३३

२ फणीश शीशोपरि राजती रही। सु-मूर्ति शोभामय श्री मुकुद की।
विकीर्णकारी कल ज्योति चक्षु थे। अतीव उत्फुल्ल मुखारविंद था।
विचित्र थी शीश किरीट की प्रभा। कसी हुई थी कटि मे सुकाछनी।
दुकूल से शोभित कान्त कध था। विलम्बिता थी वनमाल कंठ मे।
महीश को नाथ विचित्र रीति से। स्वहस्त में थे वर-रज्जु को लिये।
बजा रहे थे मुरली मुहुर्मुहु। प्रबोधिनी-मुग्धकरी-विमोहिनी।
—प्रियप्रवास ११।३६-४१

का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है और यह विचार-धारा विश्व-संस्कृति का एक अखंड एवं अभिन्न अंग है। परन्तु यह ईश्वर-प्रार्थना भारतीय मानवों के तो रग-रग में व्याप्त है और कष्ट एवं आपत्ति के समय तो नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति के हृदय से भी ईश्वर के लिए विनम्र विनय अनायास निकलती हुई देखी गई है। अतएव हरिऔधजी ने भारतीय संस्कृति की इस प्रकृष्ट विचार-धारा को 'प्रियप्रवास' में भी स्थान दिया है। यहाँ पर तृतीय सर्ग में कंस का निमंत्रण आते ही माता यशोदा अपने इष्टदेव एवं इष्टदेवी को मनाती हुई अत्यंत श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रार्थना में निमग्न चित्रित की गई हैं। वे क्रमशः जगदीश्वर एवं जगदम्बिका की प्रार्थना करती हुई अपने पुत्र के लिए कुशल-मंगल की कामना करती हैं और अत्यंत दैन्य एवं लघुता प्रकट करती हुई श्रीकृष्ण के ऊपर आने वाले समस्त संकटों के निवारण के लिए याचना करती हैं।[1] उनकी इस प्रार्थना में एक आर्त्त प्राणी की सी करुण पुकार एवं दुर्बल व्यक्ति का सा दुःख-दैन्य अत्यधिक मात्रा में भरा हुआ है। इसके साथ ही यहाँ उस अटल विश्वास के भी दर्शन होते हैं, जो ईश्वर-प्रार्थना का मूल है और जिसके आधार पर एक अशक्त एवं दुर्बल प्राणी उस अनंत शक्ति-सम्पन्न विभु का सहारा प्राप्त करने की इच्छा करता है। अतः हरिऔधजी ने भारतीय संस्कृति की इस प्रमुख विशेषता को भी अंकित करके 'प्रियप्रवास' में भारतीय जीवन की अन्तर्बाह्य समस्त विशेषताओं को चित्रित करने का प्रयास किया है।

व्रत-पूजा—भारत के धार्मिक जीवन में व्रत-पूजा का भी अत्यधिक महत्व है। यहाँ यह विश्वास प्रचलित है कि विभिन्न व्रतों के करने से विभिन्न फलों की प्राप्ति होती है। भले ही इस व्रत-विधान का संबंध शरीर को स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट रखने से हो, परन्तु धार्मिक रूप देकर इन व्रत-उपवासों को भी लौकिक एवं पारलौकिक फल प्रदान करने वाला कहा गया है और यहाँ के पुराणों एवं अन्य धर्म-ग्रंथों में इनकी महत्ता एवं विशिष्टताओं का अत्यंत विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। यही बात पूजा आदि के बारे में भी है। प्रायः यहाँ तुलसी, दुर्गादेवी, भगवती आदि की पूजा का विधान प्रचलित है और यह कहा जाता है कि इनकी पूजा-अर्चना आदि के कारण कुमारी बालाओं को मनोवांछित पति की प्राप्ति होती है। भारतीय संस्कृति की इस गहन विश्वास-मयी विचारधारा को भी हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' में स्थान दिया है।

---

१. प्रियप्रवास ३।४८-८५

इसीलिये यहाँ कवि ने कुमारी राधा को पति रूप मे श्रीकृष्ण की प्राप्ति के हेतु विधि-विधान के साथ देवी भगवती की पूजा-अर्चना करते हुए अंकित किया है, अन्य देवी-देवताओं को मनाते हुए बताया है और बहुत से व्रत उपवास आदि को रखते हुए चित्रित किया है।[१] इससे सिद्ध है कि अभीष्ट पति की प्राप्ति के लिए व्रत एव पूजा का जो विधान कुमारियो के लिए यहाँ के सांस्कृतिक जीवन मे प्रचलित है, उसकी ओर सकेत करते हुए कवि ने अपने काव्य मे भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं को व्यक्त करने की चेष्टा की है।

तीर्थ-स्थानों का महत्व—भारतीय सस्कृति मे 'जननी-जन्मभूमि' के प्रति अगाध प्रेम एव अखड श्रद्धा स्थापित करने के लिए तथा देश-प्रेम की उत्कट भावना जाग्रत करने के लिये भारत के तीर्थ-स्थानो का अत्यधिक महत्व बताया गया है। इन तीर्थों मे नदी, नद, वन, पर्वत, नगर, सिंधु आदि प्रकृति के अनत सौंदर्यशाली अवयव सम्मिलित हैं। साथ ही वे शुभस्थान भी तीर्थ माने जाते हैं, जहाँ पर अवतारी पुरुषो ने अथवा भगवान् ने अवतार लेकर क्रीडायें की हैं। इसी कारण यहाँ के धर्म-ग्रथो मे अन्यान्य तीर्थों की प्रशसा की गई है और प्रत्येक भारतवासी नित्यप्रति अपनी प्रार्थनाओं मे गगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी—इन सात नदियों तथा अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काची, अवन्तिका और द्वारावती नामक सात पवित्र मोक्षदायिनी नगरियो का नाम लेते हैं,[२] जिससे एक ओर तो अपने पुनीत तीर्थस्थानो के प्रति अखड प्रेम एव अगाध विश्वास प्रकट होता है और दूसरी ओर समूचे भारत का मानचित्र भी उनके सामने प्रस्तुत रहता है। यहाँ पर मथुरा, गोवर्द्धन, वृन्दावन, महावन, गोकुल आदि तीर्थों का भी अत्यधिक महत्व बताया गया है, क्योंकि इन स्थानो पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी पुनीत क्रीडायें की थी। इस समस्त ब्रज-प्रदेश को वैष्णव सम्प्रदाय मे तो गोलोक-धाम माना जाता है, जहाँ उनके पुरुषोत्तम आनदकद श्रीकृष्ण

---

१ सविधि भगवती को आज पूजती हूँ।
बहु-व्रत रखती हूँ देवता हूँ मनाती।
मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ।
पर विफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं। ४।३६

२. अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका।

नित्य लीलायें करते हैं। यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य ने गोवर्द्धन के समीप ही आकर अपनी गद्दी स्थापित की थी और उनके शिष्य पूरनमल खत्री ने गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के एक अत्यंत विशाल मंदिर का निर्माण कराया था।[१] श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सभी स्थानों को इस सम्प्रदाय में अत्यधिक महत्व दिया गया है, परन्तु सर्वाधिक महत्व ब्रज-प्रदेश का ही है क्योंकि कृष्ण की जन्म-भूमि एवं उनके क्रीड़ा-स्थानों से ही यहाँ अधिक प्रेम प्रकट किया गया है। हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' में ब्रज-प्रदेश की अत्यंत अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का अनुगमन करते हुए आपने श्रीकृष्ण की जन्म-भूमि मथुरा, उनकी क्रीड़ाभूमि वृन्दावन एवं गोवर्द्धन तथा उनके प्रिय स्थान वंशी-वट, यमुनातट आदि का अत्यंत रमणीक वर्णन किया है। कवि ने मथुरा की अनुपम शोभा का उल्लेख करते हुए वहाँ मेरु के सदृश उन्नत मंदिरों तथा सूर्य के समान चमकते हुए उनके कलशों का चित्रण किया है, वहाँ के विशाल भवनों एवं उच्च प्रासादों की रमणीयता, पूजा के समय स्वरों की अनुपम मधुरता, वहाँ की भक्ति-भावना आदि का अत्यंत मार्मिक वर्णन किया है तथा मथुरा नगरी के उद्यानों की परम सुषमा, सरोवरों की स्वच्छता, भवनों की विशालता आदि के भी अत्यंत सजीव चित्र अंकित किये हैं।[२] इसी तरह कवि ने वहाँ की यमुना नदी का अत्यंत भव्य एवं मनोमोहक चित्र अंकित किया है तथा बताया है कि सूर्य तथा चन्द्रमा के बिम्ब को लेकर क्रीड़ा करती हुई यमुना नदी दर्शकों को अत्यंत आकर्षक प्रतीत होती थी।[३] गोवर्द्धन पर्वत की उच्चता विशालता एवं दृढ़ता के साथ-साथ उसके निर्झरों की रमणीकता का वर्णन तो अत्यंत सजीव एवं मार्मिक है।[४] वृन्दावन की रमणीक वनस्थली के वर्णन में तो कवि इतना रम गया है कि वहाँ सभी प्रकार की वनस्पतियाँ, फल-फूल, लता-वृक्ष आदि उगा दिये हैं।[५] इस तरह कवि ने व्रज-भूमि के तीर्थ-स्थानों की अत्यंत रमणीक झाँकी प्रस्तुत करते हुए वहाँ के मथुरा, वृन्दावन, गोवर्द्धन, मधुवन, वंशीवट, यमुना नदी, गोकुल आदि के प्रति अत्यंत

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—शुक्लजी, पृ० १५७
२. प्रियप्रवास ६।४८-५५
३. वही ६।८२
४. वही ९।१५-२३
५. वही ९।२७-८१

श्रद्धा-भक्ति प्रकट की है और एक गोपी के मुख से यहाँ तक कहलवाया है कि "जहाँ न तो वृन्दावन है, जहाँ न मनोहर व्रजभूमि है, जहाँ न सुन्दर यमुना नदी बहती है, जहाँ न वंशीवट है, जहाँ न सुंदर-सुंदर कुंजें हैं, जहाँ न व्रज के करील, गाय, मोर, कोयल तथा मैनायें हैं और जहाँ न श्रीकृष्ण के प्रेम में पगी गोपियाँ हैं ऐसा यदि स्वर्ग या वैकुंठ भी प्राप्त हो जाय, तो हम वहाँ रहना पसंद नहीं करेंगी।"[१] इस कथन द्वारा कवि ने स्पष्ट ही व्रज के सम्पूर्ण रमणीक तीर्थों के प्रति अगाध स्नेह प्रकट करते हुए भारतीय संस्कृति के अंतर्गत व्याप्त तीर्थ स्थानों के महत्व का निरूपण किया है और दिखाया है कि भारतीय जीवन में अपने तीर्थ स्थानों के लिए कितना स्नेह, कितनी श्रद्धा एवं कितना विश्वास विद्यमान है।

उत्सव-प्रियता—प्रायः यह कहा जाता है कि "उत्सवप्रिया मानवाः" अर्थात् विश्व के सभी मानव उत्सव-प्रिय होते हैं। परन्तु उत्सवों के प्रति भारतीय संस्कृति में एक विशेष आकर्षण एवं उत्कट प्रेम देखा जाता है। यहाँ के मानव अपने सभी उत्सवों को एक विशेष उत्साह एवं विशेष उल्लास के साथ मनाते हैं। इसके साथ ही यहाँ के उत्सवों के मनाने की पद्धति भी सर्वथा भिन्न है यहाँ उत्सव तीन प्रकार के होते हैं—कुछ तो सामाजिक हैं, जो सामूहिक रूप से ऋतु-परिवर्तन के समय सर्वत्र एक साथ मनाये जाते हैं। जैसे होली, दिवाली आदि। कुछ स्थानीय होते हैं, जो स्थान-स्थान पर विशेष पर्वों या विशेष-विशेष अवसरों पर मनाये जाते हैं। तीसरे कुछ उत्सव वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं जो जन्म, विवाह आदि के अवसरों पर मनाये जाते हैं। परन्तु सभी उत्सवों में एक विशेष पद्धति अपनाई जाती है। जैसे घर-द्वारों को कदली तथा आम के पत्तों से सजाया जाता है, सारे नगर की दूकानें सजायी जाती हैं, घर-घर में मंगलगीत गाये जाते हैं, नृत्य होते हैं, इत्यादि। हरिऔधजी ने अन्य उत्सवों की ओर तो संकेत नहीं किया है। परन्तु भारत

---

१. जहाँ न वृन्दावन है विराजता। जहाँ नहीं है व्रज-भू मनोहरा।
न स्वर्ग है वांछित, है जहाँ नहीं। प्रवाहिता भानुसुता प्रफुल्लिता।
करील हैं कामद कल्पवृक्ष से। गवादि हैं काम दुघा गरीयसी।
सुरेश क्या है जब नेत्र में रमा। महामना, श्याम घना लुभावना।
जहाँ न वंशीवट है, न कुंज है। जहाँ न केकी पिक है न सारिका।
न चाह वैकुंठ रखें, न है जहाँ। बड़ी अनूठी, गोप सखी, सभा भली।
—१५।६४-६६

में जन्मोत्सव मनाने की पद्धति का अत्यंत रमणीकता एवं मनोमोहकता के साथ उल्लेख किया है। आपने लिखा है कि जब गोकुल में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्सव मनाया गया, उस समय प्रत्येक घर के द्वार पर सुंदर वंदनवार बाँधे गये। नवीन आम्र-पल्लवों के श्रेष्ठ तोरण प्रत्येक घर के आँगन में बनाये गये। प्रत्येक घर, गली, रास्ता, मंदिर, चौराहे तथा वृक्षों पर ध्वजायें लगाई गईं। गोकुल की समस्त दूकानें विविध प्रकार से सजाई गईं। प्रत्येक द्वार पर जल से भरे हुए घड़े रखे गये। समस्त गलियों को फूलों से सुसज्जित किया गया। सभी चौराहे सजाये गये। सारी गायें वस्त्र, आभूषण और मोर पंख से सुशोभित की गईं। सारी ग्वालमंडली विविध वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसज्जित हुई। प्रत्येक घर में मंजुल मंगलगान होने लगे। याचकों को प्रचुर धन एवं रत्न प्रदान किये गये और नंद जी के घर में गाने बजाने तथा नाचने की धूम मच गई।[1] कवि के इस वर्णन में भारतीय संस्कृति की अत्यंत पुष्ट परम्परा का उल्लेख हुआ है। भारत में प्राय: सर्वत्र जन्मोत्सव इसी तरह मनाया जाता है। साथ ही पुत्रोत्सव को यहाँ अत्यधिक महत्व भी दिया जाता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति में यद्यपि कन्या का भी पर्याप्त महत्व है, तथापि कन्या की अपेक्षा पुत्र के जन्म को अधिक गौरव एवं महत्व दिया जाता है। इस तरह कवि ने भारत की सांस्कृतिक परम्परा की ओर संकेत करते हुए पुत्र-जन्म एवं जन्मोत्सव का अत्यंत सजीव वर्णन किया है।

नवागंतुक तथा जुलूस आदि के देखने का कौतूहल—भारतीय संस्कृति में यह एक अत्यंत प्राचीन परम्परा सी दिखाई देती है कि यहां के नर-नारी अपने नगर में आये हुए किसी नवीन व्यक्ति अथवा किसी जुलूस आदि को देखने के लिए अत्यंत कौतूहल एवं आश्चर्य में डूबकर अपने-अपने घर से निकल पड़ते हैं। यह विशेषता यहाँ की नारियों में अधिक दिखाई देती है। क्योंकि अन्य भारतीय ग्रंथों में भी इसके उल्लेख मिलते हैं। जैसे, महाकवि कालिदास ने रघुवंश के सप्तम सर्ग में युवराज अज के विदर्भ नगर में प्रवेश करने पर वहाँ की नारियों को अत्यंत उत्सुकता के साथ अपने-अपने केश-प्रसाधन आदि कार्यों को छोड़-छोड़कर गवाक्षों में से अज को देखने के लिए खड़ी हुई अंकित किया है और लिखा है कि कोई स्त्री तो अपना आधा ही केश-बंधन करके आ खड़ी हुई, कोई खुली माला के साथ कोई शिथिल नीवी-बंध के साथ और कोई खुली करधनी के साथ आ खड़ी हुई। कोई स्त्री

---

१. प्रियप्रवास ८।६–१६

महावर लगा रही थी, परन्तु अज को देखने के लिए शीघ्र दौडकर आने से गवाक्ष तक के सम्पूर्ण मार्ग को महावर मे रजित करती हुई आ खडी हुई इत्यादि।[1] यही बात अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य मे मिलती है। वहाँ भी यही लिखा है कि जिस समय सिद्धार्थ का जुलूस प्रथम वार नगर मे होकर निकला, उस समय नगर की अधिकाश स्त्रियाँ अत्यत उत्सुक होकर अपनी अपनी अट्टालिकाओ म आकर खडी हो गई और अपना अपूर्ण शृगार किये हुए ही कुमार सिद्धार्थ का जुलूस देखने लगी। ऐसा ही वर्णन महाकवि बाण द्वारा रचित 'कादम्बरी' मे मिलता है। वहाँ पर युवराज चन्द्रापीड के नगर-प्रवेश क अवसर पर नगर की सारी स्त्रियाँ अत्यन्त उत्सुक होकर अपने-अपने कार्यों को अधूरा छोडकर ही गवाक्षो, अट्टालिकाओ एव छतों पर आ खडी होती हैं और क्षण भर मे ही समस्त प्रासाद नारीमय जैसे हो जाते हैं। महाकवि बाण का यह वर्णन अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है। कवि ने स्त्रियों के परस्पर सलाप द्वारा उनकी जिस उत्सुकता, देखने की तीव्र आकाक्षा, उनकी सम्भ्रमावस्था, स्पृहा, पारस्परिक परिहास, ईर्ष्या आदि का जो चित्र अंकित किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरितमानस' मे जनकपुर के अन्तर्गत राम लक्ष्मण के घूमने पर वहाँ के नगर-निवासियो की उत्सुकता, आतुरता एव दर्शनाकाक्षा का वर्णन करते हुए लिखा है कि सभी नर-नारी अपने अपने काम-धाम छोडकर सहज ही सुन्दर दोनो राजकुमारो को देखने के लिए आखडे हुए। युवतियाँ अपने-अपने घरों के झरोखो से राम के अनुपम रूप को देखती हुई तथा परस्पर बातें करती हुई उनके सौंदर्य की सराहना करती थी, उनके बल पराक्रम की प्रशंसा करती थी और प्रसन्न होकर जहाँ तहाँ उन पर फूलो की वर्षा भी करती थीं।[3] हरिऔध जी ने भी इस सास्कृतिक विशेषता का उल्लेख 'प्रियप्रवास' में किया है। यहाँ पर मथुरा से जैसे ही उद्धव गोकुल म आते हैं, वैसे ही उनके रथ को आता हुआ देखकर गोकुल के सभी नर-नारी अपने-अपने कार्यों को छोडकर उन्हें देखने के लिए आतुर होकर उनके समीप दौडे चले आते हैं। जो अपने पशुओ की प्रतीक्षा कर रहे थे, वे प्रतीक्षा छोडकर तथा जो गायें बाँध रहे थे, वे गायों का बाँधना छोडकर उन्हे देखने के लिए

---

१. रघुवश, ७।५ ११
२ कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ० १८५–१८६
३ बालकाड, दोहा २१६ से २२३ तक।

दौड़े चले आते हैं। इसीतरह गायें दुहना, दीपक जलाना, पशुओं को खिलाना आदि सभी कार्यो को छोड़-छोड़कर गोकुल के व्यक्ति वहाँ दौड़े चले आये। वहाँ की नारियों की तो और भी विचित्र दशा हुई। जो नारी कूयें पर पानी खींच रही थी, उसने रस्सी-सहित घड़े को ही कूये में छोड़ दिया और अत्यंत आतुर होकर रथ को देखने के लिए दौड़ी चली आई। इसी तरह जिसका घड़ा भर गया था, वह अपने भरे घड़े को छोड़ती हुई और जो घड़ा भर कर चल रही थी, वह घड़े को भूमि पर गिराती हुई तुरन्त सुधि-बुधि गँवाकर वहाँ रथ को देखने के लिए दौड़ी चली आई।[1] इस तरह कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' में भारतीय जनता की इस औत्सुक्यपूर्ण प्रवृत्ति का उद्घाटन करते हुए यहाँ की इस सांस्कृतिक विशेषता का बड़ी सुंदरता के साथ वर्णन किया है।

काग से शकुन जानना—भारतीय संस्कृति में शकुन के बारे में बड़ा विश्वास प्रचलित है। यहाँ शकुनों के बारे में ये धारणायें अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही हैं। यहाँ कुछ पशु-पक्षियों की बोली से ही यह अनुमान लगाने की प्रथा प्रचलित है कि हमें सफलता या असफलता मिलेगी। उनमें से 'काग' को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। 'काग' की बोली द्वारा शकुन जानने का वर्णन अत्यंत प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। महाकवि विद्यापति ने अपने एक पद में राधा की विरहोत्कंठा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "एक दिन राधा के घर पर कौवा आकर बोलने लगा, तब राधा उससे कहने लगी कि "हे काग! यदि तेरे बोलने से मेरे पति आजायें, तो मैं तुझे सोने के कटोरे में भरकर खीर-खाँड का भोजन दूँगी।"[2] इसी तरह यहाँ के अनेक लोक-गीतों में काग से शकुन जानने का वर्णन मिलता है, जिनमें कहीं तो

---

१. जहाँ लगा जो जिस कार्य में रहा। उसे वहाँ ही वह छोड़ दौड़ता।
समीप आया रथ के प्रमत्त सा। विलोकने को घनश्याम-माधुरी।
× × × × ×
निकालती जो जल कूप से रही। सरज्जु सो भी तज कूप में घड़ा।
अतीव हो आतुर दौड़ती गई। व्रजांगना-वल्लभ को विलोकने।
तजा किसी ने जल से भरा घड़ा। उसे किसी ने सिर से गिरा दिया।
अनेक दौड़ीं सुधि गात की गँवा। सरोज सा सुंदर श्याम देखने।
—प्रियप्रवास ९।१२४-१२८

२. काक भाख निज भाखह रे पहु आओत मोरा।
खीर खाँड़ भोजन देब रे भरि कनक कटोरा।
—विद्यापति पदावली १९०

विरहिणी को यह कहते हुए सुना जाता है कि यदि उसके पति आजायें तो वह काग की चोंच को सोने से मढ़वा देगी और कही ऐसा वर्णन मिलता है कि यदि काग के बोलने से अपना प्रिय आ जाय तो काग के लिए दूध भात का भोजन मिलेगा और उसकी चोंच सोने से मढ़वा दी जावेगी। इस तरह भारतीय जीवन मे काग से शकुन जानने की रीति प्रचलित है। कहीं कहीं ऐसा भी सुना जाता है कि जैसे ही काग अपने घर की दीवार पर आकर बैठता है, वैसे ही उससे यह कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति यदि आ रहा हो तो उड़जा।" । अब यदि वह उड़ जाता है तो यह मान लिया जाता है कि वह व्यक्ति आज अवश्य आ जायेगा और उसी का सदेश देने के लिए काग आया था। भारतीय सस्कृति की इसी धारणा को काव्य का रूप देते हुए महाकवि हरिग्रौध ने अपने प्रियप्रवास मे भी लिखा है कि 'यदि गोकुल के किसी घर पर कभी काग आकर बैठता था तो उस घर की रमणी तुरन्त उससे यही कहती थी कि अगर श्रीकृष्ण आ रहे हो तो तू उड़कर बैठ जा, मैं तुझ प्रतिदिन दूध और भात खाने के लिए दूँगी।'[1] इस तरह भारतीय जीवन के इस विश्वास को काव्य में स्थान देकर कवि ने भारतीय सस्कृति की इस विशेषता का भी चित्रित करने का प्रयत्न किया है।

भाग्यवादिता—भारत के अधिकाश व्यक्तियो म यह विश्वास अत्यत गहनता के साथ व्याप्त है कि जो कुछ भाग्य मे लिखा है, वही होता है। इस भाग्य का निर्माण जन्म से छठे दिन आकर विधाता द्वारा होता है। उस दिन गृहो मे षष्ठीदेवी या छठी का पूजन होता है रात्रि को जागरण का उत्सव मनाया जाता है और ऐसा विश्वास किया जाता है कि यदि घर म चहल-पहल के साथ आनदोत्सव मनाया जा रहा होगा तो विधाता आकर भाग्य मे अच्छे अक लिख जायेगा। इसी आधार पर विधाता या दैव को प्रबल मानकर भाग्य पर विश्वास करने की प्रथा यहाँ अत्यत प्राचीन काल से चली आरही है। इसीलिए यह कहावत भी प्रसिद्ध है कि विद्या और पौरुष से नही अपितु सर्वत्र भाग्य के अनुसार ही फल की प्राप्ति होती है।[2] सभवत इसीलिए

---

१. आके कागा यदि सदन मे बैठता था कहीं भी।
तो तन्वगी उस सदन की यों उसे थी सुनाती।
जो आते हों कुँवर उड के काक तो बैठ जा तू।
मैं खाने को प्रतिदिन तुझे दूध औ भात दूँगी। ६।८

२ भाग्य फलति सर्वत्र न च विद्या न पौरुषम्॥

गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि "होनहार बड़ी प्रबल होती है। जब जैसा होना होता है, उसी के अनुसार सहायता मिल जाती है और होनहार स्वयं किसी के पास नहीं आती, अपितु उसी व्यक्ति को वहाँ ले जाती है, जहाँ उसके लिए कुछ होना होता है।"[१] इसी भाग्य तथा दैव के बारे में पंचतंत्र में भी लिखा है कि "यदि दैव रक्षा करता है तो अरक्षित वस्तु की भी रक्षा हो जाती है और यदि दैव किसी का विनाश करना चाहता है तो सुरक्षित वस्तु का भी विनाश हो जाता है। इसीलिए एक अनाथ व्यक्ति जंगल में अरक्षित होकर भी जीवित रहा आता है और अनेक प्रयत्न करने पर भी एक व्यक्ति घर में जीवित नहीं रहता।"[२] भारतीय संस्कृति की इसी विशेषता को दिखाने के लिए हरिऔधजी ने स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख किया है। यहाँ हम 'प्रियप्रवास' से कुछ उदाहरण दे रहे हैं, जिनमें विधि की विडम्बना, दैव की प्रबलता, भाग्य की महानता, होनहार की अटलता, भाल के लेख की अमिटता आदि की ओर संकेत करते हुए कवि ने भावी या दैव अथवा भाग्य-वादिता संबंधी विचारधारा को अंकित किया है :—

(१) वह कब टलता है भाल में जो लिखा है। ४।३५

(२) दिन फल जब खोटे हो चुके हैं हमारे।
तब फिर सखि! कैसे काम के वे बनेंगे। ४।४६

(४) विडम्बना है विधि की बलीयसी।
अखंडनीया-लिपि है ललाट की।
भला नहीं तो तुहिनाभिभूत हो।
विनष्ट होता रवि-बंधु-कंज क्यों। १३।२१

(४) हाँ! भावी है परम-प्रबला दैव-इच्छा-बली है।
होते-होते जगत कितने काम ही हैं न होते। १४।३३

स्वजाति प्रेम एवं राष्ट्रीयता—भारतीय संस्कृति में अपनी जाति एवं अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम का भी अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है। यहाँ अत्यंत प्राचीनकाल में ही अपने समाज एवं अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था करने के लिए समाज को चार भागों में विभक्त किया गया। इस विभाजन का आधार

---

१. होनहार भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपुन आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लैजाय।—तुलसी

२. अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथो विपिनोऽप्यरक्षितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति॥

श्रम तथा कर्म था। उस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र नामक चार भागो मे सारा समाज विभक्त था और प्रत्येक वर्ग या वर्ण अपने-अपने कार्य को सुचारु रूप से करता हुआ समाज को उन्नत एव समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता था। इतना होते हुए भी ये सभी वर्ग या वर्ण एक ही समाज के विभिन्न अग माने जाते थे, उनम कोई भेद-भाव नही था और वे सभी सामाजिक दृष्टि से समान थ। इसी समानता की घोषणा करने के लिए प्राचीन ग्रथो म समाज को एक पुरुष मानकर समस्त वर्गों एव वर्णों को उस पुरुष के अग कहा गया था। जैसा कि ऋग्वेद मे लिखा भी है कि 'उस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजायें क्षत्रिय थे उसकी जघायें वैश्य थे और उसके चरण शूद्र थ।"[१] इस एकरूपता स परिपूर्ण समाज या जाति अथवा राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा एव अनन्य प्रेम की भावना आदि-काल से ही उत्पन्न हुई और वह आज तक विद्यमान है। साधारणतया एक जाति अथवा एक राष्ट्र से यही अभिप्राय है कि जिस भूभाग पर एक से धार्मिक विचार एव एक से रहन-सहन वाले ऐसे व्यक्ति रहते हो, जो उस भूमि को अपनी मातृभूमि उस देश को अपना देश, वहाँ के महापुरुषो को अपने पूवज एव वहाँ के रीति-रिवाजो तथा उत्सवों को अपने-रीति रिवाज एव उत्सव मानते हों। ऐसी ही जाति या ऐसे ही समाज को एक राष्ट्र कहा जाता है और ऐसे ही विचार वाले तथा अपने-अपने कार्यों मे लगे रहने वाले व्यक्तियो के बारे मे गीता मे भी लिखा है कि 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों मे लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है'[२] तथा अच्छी प्रकार आचरण किय हुए दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुण रहित होने पर भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योकि स्वभाव से नियत किय हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।'[३] इस तरह अपने अपने धर्म एव कर्तव्य की शिक्षा देते हुए भारतीय ग्रथो मे अपनी जाति एव अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न किया गया है और

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्या शूद्रो अजायत ॥
—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, १०।६०।१२

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लमते नर । १८।४५

३ श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥ १८।४७

बताया गया है कि जिस व्यक्ति में अपनी जाति एवं अपने देश के प्रति प्रेम एवं स्वाभिमान नहीं होता, वह व्यक्ति पशु की तरह जीवित रहते हुए भी मृतक के समान होता है।[१] हरिऔधजी ने भी इस स्वजाति-प्रेम एवं राष्ट्रीयता के विचारों को स्थान देते हुए 'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति की इस प्रमुख विशेषता को काव्यरूप प्रदान किया है। यहाँ श्रीकृष्ण जैसेही कालीनाग के द्वारा अपनी जाति एवं अपने राष्ट्र की दुर्दशा देखते हैं, तुरन्त उनके मुख से स्वजाति रक्षा एवं राष्ट्र-प्रेम के विचार निकल पड़ते हैं[२] और वे उत्तेजित होकर कह उठते हैं कि "मैं मृत्यु के मुख में जाकर भी इस कार्य को स्वयं पूरा करूँगा तथा स्वजाति एवं अपनी जन्म-भूमि के निमित्त इस भयंकर सर्प से कभी भयभीत नहीं बनूँगा।[३] उनके ऐसे ही उद्गार उस समय भी निकलते हैं, जिस समय प्रचंड दावानल में समस्त गोप, गाय एवं वन के प्राणी जलने लगते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए ये शब्द "उबारना संकट से स्वजाति का, मनुष्य का सर्व-प्रधान धर्म है"[४] कितने जातीयता एवं राष्ट्रीयता के भावों से भरे हुए हैं! इतना ही नहीं इसी समय वे जब अपने साथियों को सम्बोधन करते हुए यह कहते है—"हे वीरो! आगे बढ़ो और अपनी जाति का भला करो, इससे हमें दोनों प्रकार से ही लाभ की प्राप्ति होगी, क्योंकि यदि दावानल में फँसे हुए प्राणियों को बचा लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इस दावानल में भस्म हो गये, तो जगत में सुन्दर कीर्ति मिलेगी।"[५] इन शब्दों में गीता के वे वाक्य गूँजते हुए स्पष्ट सुनाई पड़ रहे हैं, जिनमें श्रीकृष्ण ने दुर्बलता को प्राप्त अर्जुन को उद्बोधन करते हुए कहा था कि

---

१. जिसमें नहीं निज जाति औ निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर-पशु निरा है और मृतक समान है।

२. स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा। विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचारके प्राणि-समूह-कष्ट को। हुए समुत्तेजित वीर-केसरी।११।२२

३. अतः करूँगा यह कार्य मैं स्वयं। स्वहस्त में दुर्लभ प्राण को लिये।
स्वजाति औ जन्मधरा निमित्त मैं। न भीत हूँगा विकराल व्याल से॥
—प्रियप्रवास ११।२५

४. प्रियप्रवास ११।८५

५. बढ़ो करो वीर स्वजाति का भला। अपार दोनों विध लाभ है हमें।
किया स्वकर्त्तव्य उबार जो लिया। सुकीर्ति पाई यदि भस्म हो गये।
—प्रियप्रवास ११।८७

'हे अर्जुन ! युद्ध करने मे तुम्हें दोनो प्रकार से ही लाभ है, यदि तुम मृत्यु को प्राप्त होगे, तो तुम्हे स्वर्ग मिलेगा और यदि विजयी होगे, तो तुम पृथ्वी के राज्य को भोगोगे। इसलिए तुम्हें युद्ध करना ही अभीष्ट है।'[1] इस प्रकार हरिऔधजी ने अपने चरित्र नायक श्रीकृष्ण के मुख से स्वजाति प्रेम एव राष्ट्रीय भावो का उद्घाटन करके 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस उन्नत विचार-धारा को बडी मार्मिकता के साथ अकित किया है।

सर्वभूतहित—भारतीय सस्कृति मे केवल अपनी जाति एव अपने राष्ट्र सबधी प्रेम की ही प्रधानता नही है अपितु यहाँ ससार के सभी प्राणियो की मगल कामना करते हुए उनके हित मे लीन रहने तथा उनका कल्याण करने के बारे मे भी अत्यधिक जोर दिया गया है। इसीलिए यहाँ पर प्राय यह कामना की जाती थी कि सभी सुखी हो, सभी रोग रहित हों, सभी कल्याण के दर्शन करें और कभी किसी को किसी तरह का दुःख प्राप्त न हो।[2] इसी सर्वभूतहित को ध्यान मे रखकर यहाँ पर पच महायज्ञो का विधान किया गया था, जो ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा नृयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों यज्ञो को प्रत्येक व्यक्ति नित्यप्रति करता था। इनमें से ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य ज्ञानार्जन के लिए अध्ययन से है। पितृयज्ञ से तात्पर्य मृत पितरो के लिये अन्न बलि आदि देने से है। देवयज्ञ से अभिप्राय ऐसे हवन या होम से है जो शुद्ध सामग्री एव घृत द्वारा देवताओ के निमित्त किया जाता था। भूतयज्ञ से तात्पर्य ऐसे कार्य से था, जो अन्न पकाने तथा यज्ञ करने के उपरान्त किया जाता था तथा जिसमें दाल, भात, शाक, रोटी आदि जो कुछ भी घर पर तैयार हुआ हो, उसमे से छ भाग भूमि मे रखे जाते थे और जो भाग कुत्ते, पतित, पापी, श्वपच, रोगी, काग, कृमि आदि के लिए होते थे।[3] इसके अतिरिक्त पाँचवाँ यज्ञ यह था कि घर पर जो भी अतिथि आये उसकी यथा सामर्थ्य सेवा परिचर्या की जाती थी। इसे अतिथि-यज्ञ कहते थे और जैसे ही कोई अतिथि घर पर आता था, तब प्रत्येक गृहस्थ प्रेम से उठकर उसे नमस्कार करता हुआ पहले उसे उत्तम आसन पर बैठाता था,

---

१ हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चय. ॥ २।३७

२ सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाग् भवेत्।

३. मनुस्मृति ३।९२

फिर उसे जल या अन्न जिसकी इच्छा होती थी, उसे प्रदान करता था।[1] इस तरह भारतीय संस्कृति में चींटी से लेकर सभी प्राणियों के सुख एवं हित की कामना से नित्यप्रति किये जाने वाले उक्त पंच महायज्ञों का विधान था और सभी व्यक्तियों के हृदयों में यह भावना नित्यप्रति जाग्रत की जाती थी कि सदैव सभी के कल्याण की कामना करनी चाहिए, सभी प्राणियों के हित से संबंधित कार्य करने चाहिए और कभी वैयक्तिक स्वार्थ में लीन होकर अपने परिवार, समाज या देश का अहित नहीं करना चाहिए। हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' में भी श्रीकृष्ण के ऐसे उज्ज्वल चरित्र का चित्रण किया है, जिसमें 'सर्वभूतहित' की कामना सर्वाधिक है, और जो बाल्यकाल से लेकर अन्तिम क्षणों तक सभी प्राणियों के हित सम्बन्धी कार्यों में ही लीन रहे आते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए ये उद्गार उनकी 'सर्वभूतहित' सम्बन्धिनी भावना को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त कर रहे हैं :—

"प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा 'हित सर्वभूत' का।११।२७

इतना ही नहीं हरिऔधजी के विचार से तो संसार में वही व्यक्ति सच्चा आत्मत्यागी है जिसे 'जगत-हित' या लोक-सेवा का भाव ही सर्वाधिक प्रिय है। जैसा आपने आगे चलकर लिखा भी है :—

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है।१६।४२

यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' की राधा अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण को जगत-हित अथवा सर्वभूतहित में लीन देखकर कभी यह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करती कि वे लौटकर गोकुल आवें और मेरे पास रहें, अपितु वह यही चाहती है कि—

"प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें"

इन शब्दों में कवि ने लोक-हित या सर्वभूतहित को कितना महत्व दिया है, उसके ऊपर प्रणय को भी न्यौछावर होता हुआ दिखाया है और एक प्रेमिका के जीवन में भी आमूल-चूल परिवर्तन होते हुए अंकित किया है, क्योंकि श्रीकृष्ण की इस लोक-हित एवं सर्वभूतहित की भावना से अनुप्रेरित होकर राधा भी अपने जीवन में लोक-हित को महत्व देने लगती है और

---

१. भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी, पृ० ६०-६५

आजीवन सवभूतहित मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है। जैसा कि कवि ने लिखा भी है —

> आटा चीटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते।
> देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि म भी।
> पत्तो को भी न तरु वर के वृथा तोडती थी।
> जी से वे थी निरत रहती भूत-सम्वद्धना म। १७।४८

अत यह कहा जा सकता है कि हरिऔध जी ने प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस उज्ज्वल एव उच्चतम भावना को स्थान देकर न केवल भारतीय जीवन की उज्ज्वल झांकी प्रस्तुत की है अपितु विश्व भर को यह शिक्षा भी दी है कि मानव का कल्याण इसी भावना को अपनाकर हो सकता है।

लोक सेवा -- प्रियप्रवास को भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक बनाने के लिए कवि ने इसम भारतीय सस्कृति की उन सभी विशेषताओ को सर्वाधिक महत्व देने की चेष्टा की है जो भारतीय सस्कृति की प्रमुख अग हैं जिनके अपनाने के कारण ही भारत विश्व-गुरु की उपाधि से विभूषित था और जिनके कारण आज भी वह विश्व मे आदर एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। उनमे से लोक सेवा का भाव भी एक है। यहाँ इस सेवा भावना को जाग्रत करने के लिए ही प्रारम्भ म चार वर्णों की योजना की गई थी जिनम से ब्राह्मण वण अपनी बुद्धि एव ज्ञान के द्वारा समाज को सदाचार एव विवेक की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा करता था क्षत्रिय वर्ण अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा शत्रुओ से देश की रक्षा करता हुआ समाज की सेवा करता था, वैश्य वण कृषि आदि काय करता हुआ अन्न धन आदि का उपाजन करके समाज की सेवा करता था और शूद्र वण समाज क व्यक्तियो की सेवा-सुश्रूषा करता हुआ इस काय को पूण करता था। सभी प्राणी सेवा भावना से अनुप्राणित होकर समाज का कार्य करते थे। इतना ही नहीं हमारे समाज मे जीवन के जिन चार पडावो की योजना की गई थी उनम भी लोक-सेवा को सर्वोपरि समझा गया था। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम, जीवन का प्रथम पडाव था, जिसमे समाज का एक व्यक्ति गुरुकुल मे जाकर गुरु की सेवा करता हुआ विद्या प्राप्त करता था। दूसरा पडाव गृहस्थाश्रम था जिसम नित्य पच महायज्ञ करता हुआ गृहस्थी चींटी से लेकर मानव तक सभी प्राणियों के भरण-पोषण की व्यवस्था करता था और बडी सहृदयता एव सहानुभूति के साथ अपने समाज की अन्न, धन आदि से सेवा करता था। अाय ब्रह्मचारी, सयासी अथवा

अपाहिज व्यक्ति की भोजन संबंधी सेवा का भार गृहस्थी पर ही होता था। तीसरा पड़ाव वानप्रस्थ आश्रम माना गया था, जिसमें प्रवेश करके एक व्यक्ति समाज के कोलाहल से दूर जंगल में अपनी कुटी बनाकर रहता था और अपने प्रौढ़ अनुभव एवं उन्नत विवेक के द्वारा समाज के गृहस्थियों, बच्चों, नारियों आदि को सदाचार, सच्चरित्र एवं सद्व्यवहार की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा का कार्य किया करता था। इन वानप्रस्थों के आश्रमों में जाकर राजा, महाजन, युवराज, युवक, युवती आदि अपनी-अपनी समस्याओं का समाधान प्राप्त किया करते थे और जीवन की जटिल ग्रन्थियों को सुलझाकर ये वानप्रस्थी लोग समाज में संतुलन स्थापित करने की चेष्टा किया करते थे। इस तरह वानप्रस्थियों के आश्रम आध्यात्मिकता के केन्द्र बन जाते थे और अपने सादा जीवन एवं उच्च विचारों द्वारा वे समाज की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। चौथा पड़ाव संन्यासाश्रम कहलाता था। इस आश्रम में पहुँचकर समाज के व्यक्ति का कार्य अब केवल एक समाज या एक देश की ही सेवा करना न था, अपितु अब वह सम्पूर्ण संसार की सेवा में लग जाता था और परमात्मा के चिंतन में लीन होकर निःस्वार्थ एवं निष्काम भाव से प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा को अपना लक्ष्य बना लेता था। इस तरह हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियों ने इस 'आश्रम-व्यवस्था' को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम में पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नहीं रह जाती थी, भीतर से शुद्ध-निःस्वार्थभाव सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था। "संन्यासी कौन होता था? सन्यासी वह था जो कोढ़ियों और अपाहिजों को देखकर अपने वदन के कपड़े से उनकी मरहम-पट्टी करता था। संन्यासी वह था, जो रोती-कलपती विधवाओं के पास बैठकर उनके आँसुओं में अपने आँसू बहाता था। संन्यासी वह था जो लूलों और लँगड़ों को देखकर उन्हें अपने हाथ का सहारा देता था। संसार के बोझ को अपना बोझ, संसार के दुःख को अपना दुःख समझकर चिन्ता करने वाले संन्यासी आज नहीं रहे; तो भी संन्यास आश्रम का आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।"[१]

हरिऔध जी ने इसी लोक-सेवा की भावना को 'प्रियप्रवास' में अत्यंत सजीवता के साथ अंकित किया है। इसी कारण यहाँ चरित्रनायक श्रीकृष्ण

---

१. आर्य-संस्कृति के मूल तत्व, पृ० १६७

बचपन से ही प्राणिमात्र की सेवा करने मे लीन रहे आते थे और सदैव रोगी, विपद् ग्रस्त एव असहाय प्राणियों की सेवा करते हुए वे सदैव ब्रज म आनद एव सुख का सचार किया करते थे। जैसा कि गोप-गण उनकी प्रशसा करते हुए प्राय कहा भी करते थे —

'रोगी दुखी विपद आपद मे पडो की।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेज ब्रज मे न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें। १२।८७

इतना ही नही वे इसी लोक सेवा मे अनुप्रेरित होकर गोकुल छोडकर मथुरा चले जाते हैं और अपने प्रिय सखा, स्नेहमयी माता, अनन्य प्रेमी गोपियो तक को छोड देत हैं तथा इसी लोक-सेवा के कारण फिर वे मथुरा को भी छोडकर द्वारिका में जा बसते हैं। उनकी इस सेवा भावना का प्रभाव राधा पर भी पडता है। प्रियप्रवास' की चरित्रनायिका राधा भी इस सेवा-भाव को अपना मूल-मत्र बना लेती है और वह भी वृद्ध रोगी एव आपत्ति-ग्रस्त प्राणियों की सेवा करती हुई ब्रज भूमि मे देवी के पद को प्राप्त कर लेती है। जैसाकि हरिऔध जी ने लिखा भी है —

"सलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य मे भी।
वे सेवा थी सतत करती वृद्ध रोगी जनो की।
दीनो, हीनो, निवल, विधवा आदि को मानती थी।
पूजी जाती ब्रज-अवनि मे देवियो सी अत थी। १७।४६

इस चित्रण का मूल कारण यह है कि हरिऔध जी यह मानते थे कि ससार मे मनुष्य राज्याधिकार या धन द्रव्य आदि के कारण अत्यत मान तो अवश्य प्राप्त कर सकता है, परन्तु ससार म उसी की पूजा होती है जा व्यक्ति नि स्वार्थ भाव से प्राणियो के हित तथा 'लोक सवा' में लीन रहता है।[1] इतना ही नही हरिऔध जी ने प्राणियो की सेवा स उत्पन्न सुख को तो गगाजी के तुल्य बताया है।[2] इसीलिए कवि ने भारतीय सस्कृति की उक्त

---

१ भू में सदा मनुज है बहु-मान पाता।
राज्याधिकार अथवा धन-द्रव्य द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित विश्व मे है।
निस्वार्थ भूत हित औ कर लोक सेवा।—प्रियप्रवास १२।९०

२ प्राणी सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है। १६।४३

दोनों विशेषताओं को यहाँ सर्वाधिक तन्मयता एवं सजीवता के साथ अंकित किया है।

सात्विक कार्यों का महत्व—भारतीय संस्कृति में कर्म का सिद्धान्त अत्यंत महत्वपूर्ण है। यहां पर मानव को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करने की सलाह दी गई है।[१] साथ ही यह भी बतलाया गया है कि हमें सदैव कर्म मे ही लगे रहना चाहिये, कभी उसके फल की इच्छा नही करनी चाहिए।[२] परन्तु कार्मों का विवरण देते हुए यहाँ तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं, जो सात्विक, राजस और तामस कहलाते है। इनमें से जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ तथा कर्त्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा रागद्वेष के बिना किया जाता है, उसे सात्विक कर्म कहते है।[३] दूसरे जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है और फल को चाहने वाले अहंकारी पुरुष द्वारा किया जाता है, वह राजस कहलाता है।[४] और तीसरा, जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कर्म कहलाता है।[५] इन तीनो कार्यों के बारे में यह बताया गया है कि जो जैसा कार्य करता है, वह वैसा ही फल अपने लौकिक एवं पारलौकिक जीवन में प्राप्त करता है। इसी कारण यहाँ सर्वाधिक महत्व सात्विक कार्यों को दिया गया है, क्योंकि राजस और तामस कार्यो मे तो मानव को राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण अनेक दुःख एवं यातनायें सहन करनी पड़ती हैं, जब कि सात्विक कार्यों के करने से वह इस लोक में आनंद एवं सुखों को भोगता हुआ परलोक में भी आनंद एवं सुख प्राप्त करता है। भारतीय संस्कृति के इसी सिद्धान्त को चित्रित करने के लिए हरिऔधजी ने सात्विकी वृत्ति से सम्पन्न सात्विकी कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और श्रीकृष्ण द्वारा राधा के समीप भेजे

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजु० ४०।२

२. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता, २।४७

३. नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते। गीता, १८।२३

४. यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदहृतम्॥ गीता, १८।२४

५. अनुबंधं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ गीता, १८।२५

गये सदेश म स्पष्ट ही यह घोषित किया है कि ससार म स्वार्थ से परे होकर सम्पूर्ण प्राणियों के कल्याण के लिए जो-जो सात्विक कार्य किये जाते हैं, वे सदैव श्रेयस्कर होते हैं अर्थात् उनके द्वारा न केवल अन्य प्राणियो का ही कल्याण होता है, अपितु अपना भी कल्याण होता है।[१] इतना ही नही आगे चलकर आपने तामसी, राजसी एव सात्विकी वृत्ति वाले व्यक्तियो का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि तामसी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव पर-पीडा, छिद्रान्वेषण, मलिनता आदि से भरे हुए कार्य किया करता है और राजसी वृत्ति वाला व्यक्ति नाना प्रकार के भोगों में लीन होकर अपनी वासना की पूर्ति के लिये स्वार्थ पूर्ण कार्य किया करता है जब कि सात्विकी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव निष्काम भाव से ससार के लिये सुखदायक कार्य किया करता है, वह भोगो मे लीन नही होता और उसके हृदय मे ससार के सभी प्राणियों के प्रति अत्यत प्रेम विद्यमान रहता है। इसलिए सात्विक वृत्ति वाले प्राणी ही ससार मे आत्मत्यागी तथा श्रेष्ठ होते हैं।[२] इस तरह हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे सात्विक कार्यों की प्रेरणा देते हुए यह सकेत किया है कि मानव को सदैव विश्व-प्रेम मे लीन होकर प्राणिमात्र को सुखी करने का प्रयत्न करना चाहिए और औरों को सुखी देखकर स्वय सुखी होने की चेष्टा करनी चाहिए। भारतीय सस्कृति की इसी विशेषता को आगामी कवियो ने भी अपनाया है। कामायनीकार प्रसाद न भी इसी बात पर सर्वाधिक जोर दिया है।[३] अत भारतीय सस्कृति म कर्म करने की जो प्रेरणा दी गई है,

---

१. श्रेय कारी सतत दयिते सात्विकी-कार्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत भव मे सर्व-भूतोपकारी। १६।४६

२ जो होता है हृदय तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी-वृत्ति वाला।
नाना भोगाक्लित, विविधा वासना-मध्य-डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्तिशाली।
निष्कामी है भव-सुखद है और है विश्व प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है। १६।९९-१००

३ औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो सबको सुखी बनाओ। कामायनी, पृ० १३२

उसका अभिप्राय यही है कि अपने-अपने सुनिश्चित कार्य को करते हुए यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे कार्यों द्वारा अपने निजी कल्याण के साथ अधिक से अधिक अन्य प्राणियों का भी कल्याण हो। 'प्रियप्रवास' में इसी भावना को चित्रित करते हुए हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण तथा राधा को सदैव लोक-कल्याणकारी सात्विक कार्यों में ही लीन दिखाया है।

अहिंसा—भारतीय संस्कृति में हिंसा का तिरस्कार तथा अहिंसा का अत्यधिक स्वागत किया गया है। हमारे यहाँ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह नामक पाँच विशेषताओं को जीवन के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इनमें से सर्वप्रथम महत्व 'अहिंसा' को दिया गया है। यहाँ धर्म-ग्रंथों में "अहिंसा परमो धर्मः", कहकर स्थान-स्थान पर अहिंसा के महत्व का प्रतिपादन मिलता है। जैनधर्म तथा बौद्धधर्म में तो अहिंसा का सर्वाधिक महत्व स्वीकार किया गया है। बौद्धधर्म में पंचशील माने गये हैं, जो क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा सुरा-मैरेय आदि का असेवन कहलाते हैं। इनमें भी अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है। इतना ही नहीं बौद्धधर्म में तो अहिंसा को इतना महत्व दिया गया है कि मानवों की पाँच आजीविकायें हिंसा-प्रवण होने के कारण अयोग्य ठहराई गई हैं, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) सत्थ वणिज्जा (हथियार का व्यापार) (२) सत्त वणिज्जा (प्राणी का व्यापार) (३) मंस वणिज्जा (मांस का व्यापार), (४) मज्ज-वणिज्जा (मद्य या शराब का व्यापार), और (५) विस वणिज्जा (विष का व्यापार)[१]। इससे सिद्ध है कि प्राणियों को किसी प्रकार भी कष्ट पहुँचाना अथवा उनके कष्ट के लिए किसी प्रकार का व्यवसाय तक करना हिंसा के अन्तर्गत माना जाता था। परन्तु बौद्ध धर्म से पूर्व वैदिक युग में यज्ञ के अवसर पर जो पशु की हिंसा की जाती थी, उसे हिंसा नहीं माना जाता था। उसके लिये प्रायः यह कहा गया है कि पशु-याग तो श्रुति-सम्मत है। अतएव विहित कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति बिना ही देवत्व को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। इसी कारण सांख्य-योग में भी यज्ञ में होने वाली पशु-हिंसा को बुरा नहीं माना है। वैसे अहिंसा का श्रीगणेश सांख्यों से ही माना जाता है। वहाँ पर यम-नियमों में 'अहिंसा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और बताया गया है कि सत्य की भी पहँचान अहिंसा पर ही निर्भर है। जैसे जो सत्य प्राणियों का उपकारक

---

१. अंगुत्तर निकाय, ५

है, वही ग्राह्य है और जो सत्य प्राणियो का अपकारक होता है, वह सत्य ही नहीं माना जाता।[१] इसलिए अहिंसा को सत्य से भी बढकर माना गया है। मनुस्मृति मे दस यम माने गये हैं—ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, ध्यान, सत्य नम्रता, अहिंसा, चोरी का त्याग, मधुर स्वभाव और इन्द्रिय दमन। इनके बारे मे लिखा है कि "बुद्धिमान मनुष्य सदा यमो का पालन करे, नित्य नियमो का ही पालन न करे। क्योंकि जो यमो का पालन नहीं करता और केवल नियमो का ही पालन करता है, वह पतित होता है।"[२] यहाँ पर भी यमो म अहिंसा की गणना करके उसके नित्य पालन पर ज़ोर दिया गया है। सत्य तो यह है कि ससार के अन्य सभी प्राणियो मे हिंसा की प्रबलता है, क्योंकि वहाँ तो 'स्ट्रगल फॉर एग्जिस्टेन्स' (Struggle for existence) वाला सिद्धान्त कार्य कर रहा है। इसी को हमारे यहाँ 'मत्स्यन्यायभिभूत जगत्' कहकर मीन-मत्स्य-न्याय कहा गया है। क्योंकि जैसे बडी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, वही बात अन्यत्र भी लागू हो रही है कि दुर्बल प्राणी को सबल प्राणी अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए खाजाता है, नष्ट कर देता है अथवा दबा कर रखना चाहता है। इसी सिद्धान्त ने युद्ध को भी जन्म दिया है। अत यह 'हिंसा' जड एव हीन प्राणियो का अनिवार्य नियम है। इसी कारण मानव को कुछ चेतन एव विवेकशील जानकर यहाँ के ऋषियो ने उसके लिए अहिंसा क सिद्धान्त की स्थापना की है। परन्तु जहाँ कोई हिंसक व्यक्ति व्यथ ही समाज का उत्पीडन कर रहा हो, अथवा सता रहा हो या अन्य प्रकार से कष्ट दे रहा हो, तो उसका विनाश करन म कोई हानि नही। उसकी हिंसा भी हिंसा नहीं मानी जाती। इसीलिए तो गीता म भगवान् कृष्ण ने लिखा है कि 'सज्जन एव साधु पुरुषो की रक्षा के लिये, दूषित कम करने वाले दुष्टो का विनाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिय मैं युग युग मे प्रकट होता हूँ।"[३] इससे सिद्ध है कि दुष्टों के विनाश मे अधर्म नहीं है, हिंसा नही है अपितु धर्म एव अहिंसा का ही पालन है। इसी आधार पर यहाँ "शठ शाठ्य समाचरेत्" अर्थात् 'शठ के साथ शठता का ही वर्त्ताव करना चाहिए' वाला नीति-वाक्य प्रचलित है।

---

१ साख्य शास्त्र—व्यासभाष्य, २।३०

२ मनुस्मृति ४।२०४

३ परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगे युगे ॥४।८

कहने की आवश्यकता नहीं कि हरिऔध जी ने भी हिंसा एवं अहिंसा के बारे में अपने ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं, जो उक्त भारतीय विचार धारा से पूर्णतया मेल खाते हैं तथा जो भारतीय संस्कृति के पूर्णतया अनुकूल हैं। इसीलिये 'प्रियप्रवास' में आपने लिखा है कि जब व्योमासुर आकर व्रज के ग्वाल-बाल एवं गायों को सताता रहता है और श्रीकृष्ण उसकी दुष्ट-प्रवृत्ति को सुधारने की चेष्टा करते-करते थक जाते हैं, तब वे एक दिन उससे यह कह उठते हैं—"दुष्ट ! तेरे सुधार की समस्त चेष्टायें अब व्यर्थ हो गई हैं, क्योंकि तूने अपनी कु-प्रवृत्ति का परित्याग नहीं किया है। इसलिये अब संसार के कल्याण के लिये तेरा वध करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।' यह मैं जानता हूँ कि संसार में 'हिंसा अवश्य ही अत्यंत निंदनीय कर्म है, परन्तु कभी-कभी हिंसा करना भी कर्त्तव्य हो जाता है, जिससे घर में सर्प आदि अधिक न हों और पृथ्वी पर पापी अधिक न बढ़ें। वैसे तो मनुष्य ही क्या, एक चींटी का वध करना भी पाप है, परन्तु एक पिशाच कर्म करने वाले पापी का वध करने में कोई पाप नहीं है। जो मनुष्य समाज का उत्पीड़क है, धर्म का द्रोही है, अपनी जाति का विनाशक है, ऐसे मनुष्य द्रोही एवं दुरंतपापी को कभी क्षमा नहीं करना चाहिये, वरंच उसका वध करना ही श्रेयस्कर होता है, क्योंकि दुष्ट के लिए क्षमा कभी भली नहीं होती। समाज को पीड़ा पहुँचाने वाला व्यक्ति तो सदैव दंडनीय माना गया है, क्योंकि यदि कुकर्म करने वाले व्यक्तियों की रक्षा की जायेगी, तो वे सदैव सुकर्म करने वालों को संकट देते रहेंगे।'[१] हरिऔध जी के उक्त विचारों में स्पष्ट ही हिंसा को निंदनीय बताया गया है, परन्तु पापियों, दुष्टों एवं समाज उत्पीड़कों की हिंसा करना भी 'अहिंसा' ही है। इस तरह हरिऔध जी ने भारतीय संस्कृति की अहिंसा सम्बन्धी विचार-धारा को अत्यंत सजीवता के साथ 'प्रियप्रवास' में अंकित किया है।

सत्य—जीवन के पड़ाव में अत्यधिक सहायता देने वाली दूसरी विचारधारा का नाम 'सत्य' कहकर अभिहित किया गया है। भारतीय संस्कृति जैसे चारों ओर फैली हुए हिंसा के अंतर्गत अहिंसा को अपनाने की प्रेरणा देती है, वैसे ही सर्वत्र फैले हुए असत्य या अनृत में से सत्य या ऋत की ओर उन्मुख होने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करती है। यहाँ कहा गया है कि उस तपोमय आत्मा से सर्वप्रथम ऋत और सत्य का ही आविर्भाव हुआ

---

१. प्रियप्रवास १३।७६-८१

था।[1] वेदो मे भी लिखा है कि 'सत्य' मे ही सबसे अधिक आत्मा का प्रकाश विद्यमान रहता है। इसलिये सत्य को देखना आत्मा को देखना है अथवा आत्मा को देखना सत्य को देखना है।[2] इस तरह आत्मा और सत्य दोनो की एकरूपता सिद्ध करते हुए आत्मसाक्षात्कार मे ही सत्य का साक्षात्कार होना बताया गया है। इतना ही नही इसी कारण उपनिषदो मे जाकर ब्रह्म को भी सत्य एव ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।[3] इस प्रकार भारतीय सस्कृति मे सत्य को असाधारण महत्व देते हुए उसे जीवन मे अधिक से अधिक अपनाने का आग्रह किया गया है। यहाँ मुँह म राम बगल मे छुरी' वाले असत्य एव आडम्बरपूर्ण जीवन को अपनाने की कभी प्रेरणा नही दी गई। यहाँ के धार्मिक ग्रथ, यहाँ के सत एव यहाँ के मनीषी सदैव सत्यवद' कहकर सत्य बोलने का ही आग्रह करते रहे और इसी कारण यह भावना भारतीय सस्कृति का एक उत्कृष्ट अग बनी हुई है।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी इस भावना को अत्यधिक महत्व दिया है। यहाँ पर श्रीकृष्ण तो 'सत्य' के ऐसे पुजारी अकित किये गये हैं कि उनको कही भी असत्य का पालन करने वाला अथवा असत् प्रवृत्तियो वाला व्यक्ति दिखाई देता, तो वे उस समाज के लिये घातक समझकर पहले तो समझाते और यदि नही मानता तो तुरत उसे दूर कर देना ही अच्छा समझते।[4] सत्य मार्ग पर चलने वालो से उन्हे विशेष प्रेम था और जो वे किसी भी प्राणी को असत्य मार्ग का अनुसरणकरत हुए देखते तो तुरत उसे शिक्षा देकर या शासित करके सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते थे। इसी कारण उन्होने कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, कस आदि को शासित किया और इसी कारण जरासघ को भी कई बार समझाया था। इतना ही नही साधारण व्यक्तियो मे भी यदि वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अत्यत प्रेम के साथ अपने कार्य कर रहा है, तो उन्हे अतीव आनद होता था और जब वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अपने विशिष्ट गौरवपूर्ण पद की उपेक्षा करता हुआ अपने कार्य को ठीक

---

१ ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—उपनिषद्

२ तत्त्व पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये—ऋग्वेद

३ सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म —उपनिषद्

४ सुधार-चेष्टा बहु-व्यर्थ हो गई, न त्याग तूने कु-प्रवृत्ति को किया।
अत यही है अब युक्ति उत्तमा, तुझे बधूँ मैं भव-श्रेय-दृष्टि से।
—प्रियप्रवास १३।७७

ढंग से नहीं करता अथवा असत्य मार्ग पर जा रहा है। तब उन्हें बड़ी व्यथा होती थी। इसके साथ ही यदि वे किसी व्यक्ति को अपने माता-पिता या गुरुजनों का निरादर करते हुए असत्य मार्ग की ओर उन्मुख होता हुआ देखते, तो वे प्रायः खिन्न एवं दुःखी होकर उस व्यक्ति को शिक्षा-सहित अनेक प्रकार से शासित करते हुए सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया करते थे, जिससे समाज में असत्य को छोड़कर प्राणी सत्य को अपनाने लगें और उनके आचरण में भी असत्यता न रहे।[1] यही कारण है कि कवि ने श्रीकृष्ण को सत्य का प्रतीक बनाकर यहाँ अंकित किया है। यहाँ वे 'सच्चे जी मे परम-व्रत के व्रती' बने हुए हैं[2] और अपने इस व्रत का पालन करते हुए सतत सत्य मार्ग पर बढ़ते हुए चित्रित किये गये हैं। यही बात राधा के जीवन में भी दिखाई गई है। वह भी कृष्ण के सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली ऋत की प्रतिमा है। उसके हृदय में भी निष्काम भाव से छल-प्रपंच छोड़कर अपनी व्रजभूमि के प्रति सच्चा स्नेह जाग्रत हो जाता है और वह भी सदय-हृदय होकर कृष्ण के बताये हुए सत्य मार्ग पर सदैव बढ़ती रहती है। निस्संदेह ऐसे 'सच्चे स्नेही' भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि हैं और ऐसे सत्य का उद्घाटन करके कवि ने इस संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता को काव्य के ताने-बाने में ऐसा चित्रित किया है, जिससे भारतीय संस्कृति की यह विशेषता मूर्तिमान हो उठी है।

अस्तेय—मानव जीवन को उन्नत बनाने वाली तीसरी महत्वपूर्ण विचार-धारा 'अस्तेय' के नाम से पुकारी गई है। 'अस्तेय' शब्द 'अ' और 'स्तेय' से बना है। अपना जो कुछ है उससे संतुष्ट न होकर दूसरे के पास जो कुछ है, उसे हर तरह से हड़प लेने की प्रवृत्ति 'स्तेय' या 'चोरी' कहलाती है और ठीक इसके

---

१. होते प्रसन्न यदि वे यह देखते थे।
कोई स्वकृत्य करता अति प्रीति से है।
यों ही विशिष्ट-पद-गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उनके चित को व्यथा थी।
माता पिता गुरुजनों वय में बड़ों को।
होते निरादृत कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो दुखित हो लघु को सुतों को।
शिक्षा-समेत बहुधा बहु-शास्ति देते।
—प्रियप्रवास १२।८४-८५

२. प्रियप्रवास १४।२३

विपरीत दूसरे की वस्तु को बलपूर्वक न हड़पकर जो अपनी वस्तु है उसे भी दूसरों की उपयोगी कैसे बनाया जाय अपनी आवश्यकताओं को घटाकर किसी तरह की फिजूलखर्ची में न फँसते हुए दूसरों के कल्याण का उपाय सोचना अस्तेय है। भारतीय संस्कृति में इसे अत्यधिक महत्व दिया गया है। बौद्धों ने अपने पंचशील में जैनों ने अपने नियमों में और मनुस्मृति में भी यम-नियमों में इसे स्थान दिया गया है। साधारण शब्दों में सभी प्रकार की चोरी के त्याग को अस्तेय कह सकते हैं। मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह काम चोर बनकर अकर्मण्यता की ओर बढ़ना अच्छा समझता है धन चोर होकर दूसरों के धन को अच्छे और बुरे सभी ढंगों से अपने पास संचित करना चाहता है और व्यवहार-चोर होकर मन में कुछ और आचरण में कुछ और ही किया करता है। इस तरह क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति और क्या अन्य क्षेत्र सर्वत्र चोरी का वातावरण फैल रहा है। इसी कारण भारतीय संस्कृति में इस वातावरण को शुद्ध करने के लिए, मानव को ऊपर उठाने के लिए और समाज में सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए इस 'अस्तेय' की भावना का प्रचार किया गया है।

हरिऔधजी ने प्रियप्रवास में इस 'अस्तेय' सम्बन्धी विशेषता की ओर भी संकेत किया है। यहाँ कवि ने कंस जैसे पापी, दुराचारी एवं क्रूर शासक तथा उसके सहायकों का वर्णन करते हुए पहले स्तेय वाले अथवा समाज एवं देश में सभी प्रकार की चोरी करने वाले व्यक्तियों की ओर संकेत किया है, क्योंकि ये सभी प्राणी धन जन धान्य आदि की चोरी करके अपने कोष को भरने के प्रयत्न में ही सदैव लगे रहते थे और समाज को उत्पीडित करते हुए ब्रज के प्राणियों का हर तरह से शोषण किया करते थे। कहीं कालीनाग सताता था, तो कहीं केशी तंग करता रहता था। कहीं व्योमासुर बैलों, गायों या बछड़ों की चोरी किया करता था,[1] तो कहीं अघासुर आदि उपद्रव मचाया करते थे। इस तरह सम्पूर्ण ब्रजभूमि में प्रवंचना, छल-कपट एवं धूर्तता के साथ छीना-झपटी चल रही थी। ऐसे दूषित वातावरण को ठीक करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अपना सर्वस्व ब्रज के लिए न्योछावर कर दिया, समाज के इन चोरों को समाप्त करके ब्रज में सुख और शान्ति की स्थापना की ओर आत्मोत्सर्ग करते हुए इस 'अस्तेय' का पूर्णरूपेण पालन करके दिखा

---

१ कभी चुराता वृष वत्स धेनु था।
कभी उन्हें था जल बीच बोरता। १३।७०

दिया। उनके आचरणों, उनके शुभकार्यों एवं उनके व्यवहारों ने 'प्रियप्रवास' में यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन का आधारभूत तत्व छीना-झपटी नहीं, लेना-देना है; अनधिकार चेष्टा नहीं, अपने अधिकार का परिपालन है; विषमता नहीं, समता है और स्तेय नहीं, अपितु अस्तेय है। इसी कारण राधा के पास संदेश भेजते हुए श्रीकृष्ण ने सुख और योग की लालसाओं की अपेक्षा जगत-हित को महत्व दिया है, आत्मार्थी की अपेक्षा आत्मत्यागी को महत्व दिया है, अपनी सेवा की अपेक्षा प्राणी-सेवा को श्रेयस्कर बताया है, आत्म-सुख की अपेक्षा विश्व-सुख को महान् कहा है और स्वार्थोपरत रहने की अपेक्षा सर्वभूतोपकारी जीवन को अधिक महत्वशाली सिद्ध किया है।[1] अतः कवि ने 'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति की 'अस्तेय' नामक विचारधारा को भी अत्यधिक महत्व देने की सुन्दर चेष्टा की है।

ब्रह्मचर्य—जीवन की सम्यक् अभिवृद्धि के लिये भारतीय संस्कृति में जो चौथी विचारधारा प्रवाहित है, उसे 'ब्रह्मचर्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मचर्य का सीधा-साधा अर्थ तो यह है कि संयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इसका एक और भी अर्थ किया करते हैं। उनके मत से ब्रह्म का अर्थ है बड़ा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चरगतिभक्षणयोः' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चलना, अतएव ब्रह्म होने के लिये, क्षुद्र से महान् होने के लिये, विषयों के छोटे-छोटे रूपों से निकलकर आत्मतत्व के विराट् रूप में अपने को अनुभव करने के लिये चल पड़ना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।[2] इस तरह ब्रह्मचर्य के दो अर्थ प्रचलित हैं। कुछ भी हो 'ब्रह्मचर्य' का पालन करना भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अपने मन, अंतःकरण एवं इंद्रियों पर संयम करने से ही ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। यहां जीवन के चतुर्वर्गों में तो ब्रह्मचर्य को सर्वप्रथम महत्व दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आरम्भिक काल में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञानोपार्जन करना चाहिए। इसके अनंतर भी यम-नियमों में उसका समावेश होने के कारण यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य अर्थात् इंद्रिय-संयम की शेष जीवन के लिये भी कितनी आवश्यकता है। इसी कारण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले व्यक्ति यहां सर्वाधिक पूज्य, महान् एवं

---

१. 'प्रियप्रवास' १६।४१-४६

२. आर्य-संस्कृति के मूल तत्व, पृ० २३४

श्रेष्ठ माने गये हैं जिनमे से परशुराम हनुमान, भीष्म पितामह महात्मा गौतम, स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ आदि प्रसिद्ध हैं।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' म ब्रह्मचय की उक्त दोना विशेषताओ को श्रीकृष्ण एव राधा के जीवन मे पूर्णरूपेण चरितार्थ होते हुए अकित किया है। यहाँ श्रीकृष्ण और राधा इन्द्रिय-सयम को तो आरम्भ से ही अपनाते हुए अकित किये गये हैं और दोनो को अत तक इस सयम की साकार मूर्ति क रूप म देखा जा सकता है। विषय भोगो के प्रति दोनो ही अत्यत उपेक्षा रखते हैं और राधा तो कौमय व्रत धारण करत हुए ही अपना सारा जीवन व्यतीत करती है। दूसरे लघु स महान् अथवा विषयो के छोटे छोटे रूपो से निकल कर आत्म तत्व के विराट रूप म अपने को अनुभव करते हुए भी हम यहा दोनो—राधा और श्रीकृष्ण को देख सकते हैं। श्रीकृष्ण तो स्पष्ट ही यहाँ साधारण गोकुल ग्राम के अहीर-पुत्र से विश्वात्मा या विश्वनियता के पद को प्राप्त करते हुए चित्रित किये गये हैं।[1] साथ ही राधा भी एक साधारण व्रज वाला से ऊपर उठती हुई अपने महान् कार्यों एव उदात्त चरित्र के द्वारा व्रज की आराध्या देवी बन जाती है।[2] इस तरह कवि ने ब्रह्मचर्य के दोनो रूपो को चित्रित करते हुए भारतीय सस्कृति की इस विशेषता को अच्छी तरह अकित किया है और 'कौमार व्रत निरत बालिकाओं' द्वारा व्रज म शान्ति के विस्तार की बात कहकर[3] कवि ने यह स्पष्ट घोषणा भी की है कि ब्रह्मचर्य की भावना को अपनाकर काय करने स विश्व में शान्ति का भी प्रसार होता है।

अपरिग्रह—भारतीय सस्कृति त्याग प्रधान है। यहाँ भोगो की अपेक्षा त्याग को प्रवृत्ति की अपक्षा निवृत्ति को, ग्रहण की अपेक्षा दान को और सग्रह की अपेक्षा अपरिग्रह को महत्व दिया गया है। यही कारण है कि यहाँ आत्म तत्व का यह नियम बना हुआ है कि भोगो और भोगकर हट जाओ। इसी

---

१ व्यापी है विश्व प्रियतम मे विश्व मे प्राण प्यारा।
यों ही मैंने जगतपति को श्याम मे है विलोका। १६।११२

२ आराध्या थीं व्रज अवनि को प्रेमिका विश्व की थीं।१७।५०

३ जो थीं कौमार-व्रत निरता बालिकायें अनेकों।
वे भी पा के समय व्रज में शान्ति विस्तारती थीं। १७।५१

को यहां अपरिग्रह कहा गया है।[१] भारतीय संस्कृति कभी भोग को बुरा नहीं कहती, वरन् भोगों में लिप्त रहने को बुरा मानती है। इसी कारण तो यहाँ ईशोपनिषद् में कहा गया है कि "यह जो कुछ स्थावर-जंगम स्वरूप संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है, उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर"[२] इसमें स्पष्ट ही अपरिग्रह त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने की ओर संकेत किया है। श्रीमद्भगवद्गीता में इस त्याग की महिमा का बड़ा विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वहाँ पर त्याग को भी तीन प्रकार का बताया गया है—सात्विक त्याग, राजस त्याग और तामस त्याग। इनमें से 'अमुक कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा समझकर ही जो शास्त्र-विधि से नियत कर्म आसक्ति एवं फल को त्यागकर किया जाता है, वह सात्विक त्याग माना गया है। दूसरे, जो कुछ कर्म है, वे सब दुःख रूप है, ऐसा समझकर जो मनुष्य शारीरिक क्लेश के भयसे कर्मों का परित्याग कर देता है, उसका यह त्याग राजस त्याग कहलाता है। तीसरे, जो मनुष्य अपने नियत कर्मों का मोह के कारण त्याग कर देता है, उसका वह त्याग तामस त्याग कहलाता है। इन तीनों प्रकार के त्यागों का उल्लेख करते हुए यह भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों का उल्लेख करते हुए भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों के त्याग को त्याग नहीं कहना चाहिए और न केवल सब कर्मों के फल के त्याग करने को ही त्याग कहना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यज्ञ, दान और तप तो त्यागने के योग्य है ही नहीं। इन्हें तो सदैव करना चाहिए, परन्तु इनको करते समय सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म की आसक्ति और उनके फलों को त्याग करना ही सबसे बड़ा त्याग है। इसलिये संसार में सबसे बड़ा त्यागी वह है, जो अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नहीं करता और कल्याणकारक कार्यों में आसक्त नहीं होता तथा शुद्ध गुणयुक्त एवं संशय-रहित रहता है और कभी कर्म-फल की अभिलाषा नहीं करता। इस तरह गीता में आसक्ति एवं फल को त्याग कर नियत कर्म करने की प्रेरणा दी गई है और अपने नियत कर्म में आसक्ति का न होना तथा फल की इच्छा न रखने को ही सबसे बड़ा त्याग बतलाया गया है।[३] यही त्याग भारतीय संस्कृति का अपरिग्रह है।

---

१. आर्यसंस्कृति के मूल-तत्त्व, पृ० २४१

२. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥ १।१

३. श्रीमद्भगवद्गीता ८।२-१२

प्रियप्रवास मे कवि हरिऔध ने भी ऐसे ही अपरिग्रह या त्याग को सर्वाधिक महत्व दिया है और बताया है कि जो व्यक्ति मुक्तिकी कामना से तपस्या करता है उसे तो आत्मार्थी ही कहना चाहिए वह आत्मत्यागी नहीं हो सकता। आत्मत्यागी तो वह है जो सभी प्रकार की आसक्ति एव कामनाओ को छोडकर ससार के कल्याणकारी काय करता है और लोक-सेवा मे लगा रहता है किन्तु किसी प्रकार के फल की इच्छा नही रखता।[1] इसी कारण प्रियप्रवास म श्रीकृष्ण नद-यशोदा तथा गोपियो से मिलने के लिए उत्सुक होकर भी गोकुल नही आ पाते क्योकि विश्वप्रम मे लीन होने के कारण वे सम्पूण स्वार्थों एव विपुल सुखो को तुच्छ समझने लगते हैं और लोक सेवा के लिए लिप्साओ स भरी हुई सैकडो लालसाओ को भी योगियो की भाँति दमन करते हुए सदैव जगत हित म लगे रहते हैं। उनके हृदय में ससार के कल्याण करने की इतनी तीव्र अभिलाषा भरी हुई है कि वे निष्काम भाव से सदैव जनता की भलाई मे लगे रहते हैं दीन हीनो की सेवा करते रहते हैं और सदैव लोकोपकार म ही लीन रहे आते हैं।[2] यही बात त्यागमूर्ति राधा म भी है वह अपना सारा सुख सारा वैभव एव सर्वस्व त्यागकर ब्रजभूमि के सतप्त प्राणियों की सेवा एव उनकी देखभाल म ही अपना जीवन व्यतीत करती है और विविध व्यथाओ मे डूबे हुए ब्रज को सुखी बनाने के लिए निशि दिन प्यार से सिक्त होकर गृह पथ बाग कुज वनो आदि म घूमती रहती है।[3] इस तरह कवि ने त्याग के आदश को स्थापित करते हुए यहाँ भारतीय सस्कृति की इस अपरिग्रह वाली विशेषता का भी उदघाटन अत्यत सजीवता के साथ किया है।

आध्यात्मिकता—भारतीय सस्कृति आरम्भ से ही आध्यात्मिकता का

---

१ जो होता है निरत तप मे मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है न कह सकते ह उसे आत्मत्यागी।
जी से प्यारा जगत हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल में आत्म-त्यागी वही है।

२ प्रियप्रवास १४।२१ ३०

३ इन विविध व्यथाओं मध्य डूबे दिनों में।
अति सरल स्वभावा सुदरी एक बाला।
निशि दिन फिरती थी प्यार से सिक्त होके।
गृह पथ, बहु बागों कुज-पुजों, वनों मे। १७।२६

प्रमुखता देती चली आई है। इसी कारण इस संस्कृति को आध्यात्मिकता-प्रधान कहा जाता है। इसके इस अध्यात्मवाद का श्रीगणेश वेदों में ही मिल जाता है। ब्राह्मण-युग में आकर यह अध्यात्मवाद कुछ क्षीण होगया था। परन्तु उपनिषदों में आकर यह पुनः सजीव एवं सक्षम हो उठा तथा भारतीय जन पुनः मन को बाह्यजगत् से हटाकर अन्तर्जगत् की ओर लगाने लगे। उपनिषद्-विद्या तो आध्यात्मिकता का अखंड भंडार है, वहाँ प्राणियों को भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी गई है और वे उपाय भी बताए गये हैं, जिनके द्वारा एक सांसारिक जीव संसार की अन्तरात्मा को समझकर उससे तादात्म्य स्थापित करता हुआ मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। उपनिषदों में प्रायः इसी बात को विविध विधियों से समझाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य किस तरह भौतिकता के जटिल बंधनों से मुक्त होकर चिदानंद को प्राप्त कर सकता है तथा वह असत् से सत् की ओर, अंधकार से ज्योति की ओर एवं मृत्यु से अमरता की ओर अग्रसर हो सकता है।[1] वहीं पर यह समझाया गया है कि सम्पूर्ण सुख और दुःखों का भोक्ता यह आत्मा ही है। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय नामक चारों अवस्थायें एवं वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ एवं ईश्वर नामक चारों रूप इसी आत्मा के हैं। यह आत्मा ही अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरों में विद्यमान रहता है और यह आत्मा ही शुद्ध-बुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।[2] इसी से जीवधारी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर इसी में जीवित रहते हैं और मरने पर इसी में लीन हो जाते हैं।[3] यह आत्मा ही समस्त भूतों का अधिपति है, सबका राजा है, इसी में जीव, लोक, देव, प्राण आदि सबका समावेश होजाता है, यही आनंदमय ब्रह्म है और इसी में प्रत्येक जीवात्मा लीन होना चाहता है।[4]

यहाँ पर भौतिकता को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। भौतिकवादी तो केवल यह चाहते हैं कि हम प्रकृति पर विजय पाकर भौतिक उन्नति करते हुए ही सुख और आनंद प्राप्त करने की चेष्टा करें। जैसे पहले बैलगाड़ी चलती थी, अब मोटर एवं वायुयान बना लिये। पहले मिट्टी का दीपक जलता था, फिर मिट्टी के तेल को जलाने की पद्धति निकाली अब और अधिक उन्नति

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् १।३।२७
२. वेदान्त-सार, पृ० २-११
३. तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१
४. बृहदारण्यकउपनिषद् २।५।१५

करके बिजली का आविष्कार कर लिया। इस तरह भौतिक पदार्थों का आविष्कार करके उत्तरोत्तर सुख पाने की चेष्टायें करना भौतिकवादियो की उन्नति और आध्यात्मिक विचारो वाली प्रकृति पर विजय प्राप्त पाने की अपेक्षा आत्मा पर विजय पाना अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। उनका विचार है कि आज का मानव इसलिये सतप्त है, इसलिये सुख एव आनद प्राप्त नही कर रहा है कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मे लीन है इन मनोवेगो पर अपना अधिकार नही कर सका है और आत्मा के बल को न पहँचानकर इधर-उधर भटक रहा है। अत भारतीय सस्कृति मे समस्त मनोविकारो पर नियत्रण करके योग अथवा सयम द्वारा आत्मा पर नियत्रण करना, उस आत्मा की शक्ति को पहँचानना अथवा उस आत्मिक शक्ति के रहस्य को जानकर उसका उपयोग करना ही मानव की सबसे बडी विजय मानी गई है और इसी के लिए वैदिक युग से लेकर आज तक प्रयत्न भी हुए हैं।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे इसी आध्यात्मिकता के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। यहाँ पर हरिऔधजी ने अन्य कृष्ण-भक्त कवियो की भाँति ज्ञान के शुष्क विषय अथवा योग-साधन का खडन करने के उद्देश्य से उद्धव के मुख से योग की प्रशसा नहीं करायी है, अपितु उन्होने एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन की ओर सकेत किया है, जिससे ससार के सभी प्राणी अपने मनोविकारो पर विजय प्राप्त करके सुख एव आनद को सहज ही उपलब्ध कर सकते हैं। आपने बताया है कि यह बात ठीक है कि भ्रमित चित्त को पहले योग द्वारा सम्हालना चाहिए, परन्तु इसके लिए सुदर साधना है 'विश्वप्रेम अथवा 'लोकहित', क्योकि इसमे लीन होने से सम्पूर्ण स्वार्थ, मोह, वासना आदि समाप्त हो जाती हैं और एक अनुपम शान्ति मिलती है।[१] यहाँ श्रीकृष्ण ने भी तो पृथ्वी के समस्त प्राणियो की भलाई का व्रत लेकर अपने समस्त स्वार्थों एव विपुल-सुखो को तुच्छ बना डाला है और लोक-सेवा के लिये लिप्साओ से भरी हुई हृदय की सैकडो लालसाओ को योगियो की भाँति दमन कर लिया है।[२] इसी तरह राधा को भी हरिऔधजी ने 'विश्व-प्रेम' एव 'लोकहित' के साधन को अपनाते हुए अपने समस्त भौतिक सुखो, सम्पूर्ण मनोविकारो एव आत्मा पर विजय प्राप्त करते हुए अकित किया है, जिससे वह श्रीकृष्ण के ही रूप को सभी प्राणियो मे व्याप्त देखती है और उनकी

१. प्रियप्रवास, १४।३६
२ वही १४।२१-२२

हृदय से सेवा-सुश्रूषा करती हुई तथा उनको सभी तरह से धैर्य एवं सांत्वना प्रदान करती हुई मानवी से देवी बन जाती है। उस प्रेम-योगिनी का जीवन संयम एवं योग की साकार मूर्ति बन जाता है, क्योंकि उसके हृदय में निष्काम भाव से प्राणि मात्र के हित की भावना जग जाती है, वह विश्वात्मा में लीन हो जाती है और सर्वत्र उसी की महिमा देखती हुई संसार से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित करती हुई स्वयं दुःख-सुख से मुक्त होकर प्राणियों को भी पार्थिव दुःख-सुख से मुक्त करती हुई ब्रज में आनंद एवं शान्ति का प्रचार करती है। इतना ही नहीं इस आध्यात्मिक जीवन को व्यतीत करने के लिए ही हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' में लोक-हित एवं विश्व-प्रेम के साथ-साथ सात्विक प्रवृत्ति को अपनाने के लिए आग्रह किया है, स्वार्थ को छोड़कर निष्काम भाव आत्मोत्सग की सलाह दी है सर्वत्र एक विश्वात्मा के दर्शन की प्रेरणा प्रदान की है, विश्व में व्याप्त प्रकृति के अनन्य सौन्दर्य की झांकी देखने का अनुरोध किया है और नवधा भक्ति द्वारा निष्काम भाव से संसार की सेवा करने पर जोर दिया है।[१]

नवधा-भक्ति—भक्ति का उद्देश्य है अपने इष्ट देव की उपासना, उसके गुणगान, भजन, कीर्त्तन आदि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना। सर्वप्रथम वैदिक युग में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि की उपासना, अर्चना एवं उनको यज्ञों द्वारा प्रसन्न करने की प्रथा की ओर संकेत ऋग्वेद में विद्यमान है। तदनन्तर यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से तीन इष्ट देवों की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। इनमें से ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, विष्णु सृष्टि के पालक और महेश सृष्टि के संहारक माने गये। यद्यपि इन देवों का उल्लेख पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए किया गया है, फिर भी ये तीनों एक ही महान् शक्ति के तीन अंग माने जाते है। आगे चलकर इन तीन देवों के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओं को भी इष्ट देव मानने की प्रथा चली और बहुत से सम्प्रदाय चल निकले। इन सम्प्रदायों का ही यह प्रभाव है कि यहाँ अठारह पुराणों एवं अठारह उपपुराणों में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना एवं भक्ति के विधान का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान ऐसा समझते हैं कि भक्ति का प्रादुर्भाव संभवतः बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रभाव से हुआ, क्योंकि महायान सम्प्रदाय में बोधिसत्वादि की पूजा, उसके गुणगान, भजन, कीर्तन आदि का विधान मिलता है। भक्ति के इन विधानों की ओर जन साधारण का आकर्षण बढ़ता चला गया

---

१. प्रियप्रवास १६।६९–११४

और कालान्तर म बोधिसत्व के स्थान पर विष्णु तथा विष्णु के अन्य अवतारो राम, कृष्ण आदि की शिव दुर्गा आदि की भक्ति होने लगी।[1] परन्तु ऐतिहासिक आधारों पर अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कष पर पहुँचते हैं कि भक्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम दक्षिणी भारत म हुआ था। वहाँ पर विष्णु और शिव की मूर्ति बनाकर उनके प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने की प्रथा आय सस्कृति के भारत मे प्रवेश करने से पूव ही प्रचलित थी। विष्णु भक्तो मे आलवारों का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। इन आलवारों न विष्णु की स्तुति मे सुदर भक्ति रस पूण काव्यो की रचना की। शिव भक्तो म नायन्मारो का नाम प्रसिद्ध है। इनके शैव भक्ति सबधी अत्यत सरस एव भावपूण मिलते हैं। इन नायन्मारो ने तामिल देश म नवीन स्फूर्ति एव नव चेतना का सचार किया था। पल्लव राजाओ के शासनकाल म इस भक्ति-सम्प्रदाय का दिव्य उत्कष दिखाई देता है। शैवभक्तों के 'तेवारम्' और 'तिरुवाचकम्' तथा वैष्णव भक्तो के दिव्यप्रबधम् नामक ग्रथ को रचना भी पल्लव युग मे ही हुई थी। भक्ति सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य 'आगम' क नाम से प्रसिद्ध है। इस आगम साहित्य की रचना मन्दिर-पूजा का विधान आदि समझाने क लिए हुई थी।[2] वहाँ पर इन आलवारो एव नायन्मारो की परम्परा ईसा की दसवी शताब्दी तक मिलती है। तदनन्तर भक्ति का यह सम्प्रदाय उत्तरी भारत मे विकसित हुआ। पहले वैष्णव मत महाराष्ट्र म पडरपुर के आस-पास केन्द्रीभूत हुआ तदनन्तर कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा के आस-पास इन वैष्णव भक्तो की गद्दियाँ स्थापित हुईं। कहावत यह भी प्रचलित है कि भक्ति का प्रादुर्भाव तो दक्षिण मे ही हुआ था और वहाँ से रामानदजी इसे उत्तरी भारत मे लाये, परन्तु कबीरदास ने उस भक्ति को सात द्वीप और नव खडो मे फैलाया।[3]

यह भक्ति दो रूपो मे विकसित हुई है—*निर्गुणभक्ति और सगुणभक्ति।* निर्गुणभक्ति म भगवान के निराकार रूप की उपासना की जाती है, उसके अवतार एव मूर्ति का खडन करते हुए उसे सर्वव्यापी कहा जाता है। उनके *यहाँ दशरथ के पुत्र राम को ईश्वर का अवतार नही माना जाता, अपितु राम,*

---

१ भारतीय सस्कृति, पृ० २३५

२ भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, पृ० २८३-२८४

३ भक्ती द्राविड ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर नें, सप्तद्वीप नवखंड॥

हरि आदि का स्मरण करते हुए उपासना की जाती है।[1] जबकि सगुणभक्ति मे विष्णु के अवतारों की कल्पना करते हुए उनके राम, कृष्ण आदि रूपों की मूर्तियाँ मंदिरो मे स्थापित करके भक्ति की जाती है। इस सगुण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ श्रीमद्भागवत पुराण है। उसमें भक्ति के नौ साधनों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें 'नवधाभक्ति' कहा जाता है और जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दासता, सखाभाव और आत्मनिवेदन।[2]

हरिऔध जी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे इस नवधा भक्ति का वर्णन किया है और उसे अपने समस्त प्रियजनो एवं अपने प्रिय के लिए अत्यंत उत्तम साधन बतलाया है। यहाँ पर भी उक्त नौ नामों का उल्लेख किया गया है।[3] परन्तु विशेषता यह है कि इस नवधा-भक्ति के विवेचन मे भागवत की नवधा-भक्ति से पूर्णतया भिन्नता है। भागवत में तो भगवान की मूर्ति बनाकर उसी की पूजा-अर्चना, उसके ही गुणगान का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करने पर जोर दिया गया है, परन्तु हरिऔध जी इस बात को अच्छा नही समझते कि किसी देवता या प्रभु की एक मूर्ति बनाकर उसी के प्रति भक्ति प्रकट की जाय। उनका दृष्टिकोण कुछ अधिक विशाल एवं उदार है। वे तो यह मानते हैं कि संसार के समस्त प्राणी, नदी, पर्वत, लता, बेलें, वृक्ष आदि नाना पदार्थ उस विश्वात्मा के ही रूप है। अतः इन सबके प्रति पूजा-अर्चना के साथ उचित सम्मान एवं सेवा का भाव प्रस्तुत करना ही सच्ची भक्ति है। उनके मत मे 'श्रवण' नाम की सच्ची भक्ति यह है कि हम आर्त्त एवं उत्पीड़ित, रोगी एवं व्यथित प्राणियो की दीन पुकार सुनें तथा लोक-उन्नायकों, सच्छास्त्रों एवं सत्संगियो के सुन्दर-सुन्दर शब्द श्रवण करें। दूसरी 'कीर्त्तन'

---

१. दशरथ सुत तिहूँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।
—कबीर

२. श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

३. जगत जीवन प्राण स्वरूप का। निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्वप्रिय का प्रिय-साधन भक्ति है। वह अकाम महा-कमनीय है।
श्रवण, कीर्तन, वंदन, दासता। स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना। निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है।
—प्रियप्रवास १६।११४–११५

नामक भक्ति से हरिऔध जी का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे दिव्य एव अनोखे गुणो का गान एव कथन करें, जिससे सोये हुए जाग जायें, अधकार में पडे हुए व्यक्तियों को प्रकाश मिले, भूले भटके व्यक्ति सन्मार्ग पर आजायें और उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो। ऐसे ही वदन' नाम की तीसरी भक्ति से कवि का तात्पर्य यह है कि हमे विद्वानो, गुरुजनो, देश प्रेमियो, ज्ञानियो, दानियो, सच्चरित्रो, गुणियो तजस्वियो आत्मोत्सर्गियो, देवमूर्तियो आदि के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए। चौथी दासता नामक भक्ति से कवि का अर्थ यह है हमे ऐसी बातें करनी चाहिए, जो ससार का कल्याण करने वाली हो एव सभी प्राणियो का उपकार करने वाली हो और ऐसी चेष्टायें करनी चाहिए, जिनसे पतित एव मलिन जातियो का उत्थान हो तथा व्यक्ति हमारी सेवामे सलग्न हो, उनके लिए हमे भी सवस्व न्योछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। पाँचवी 'स्मरण' नामक भक्ति से उनका भाव यह है कि हमे कगालो, विवश प्राणियो, विधवाओ, अनथाश्रितो एव उद्विग्नो का स्मरण रखना चाहिए और उन्हें त्रास देने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही हमें अच्छे-अच्छे कार्यों को याद करना चाहिए और दूसरा के हृदय की पीडा का ध्यान करना चाहिए। 'आत्मनिवेदन' नामक छठी भक्ति से कवि का अभिप्राय यह है कि हमे आपत्ति मे पडे हुए मनुष्यो के दु ख को दूर करने के लिये अपने तन एव प्राणो को भी अर्पित कर देना चाहिए। अचन' नाम की सातवीं भक्ति से कवि का भाव यह है कि हमे भयभीत प्राणियो को शरण, सतप्त व्यक्तियो को शान्ति, निर्बोध व्यक्तियो को सु-मति, पीडितो को विविध औषधियाँ, प्यासा को जल और भूखो को अन्न देना चाहिए। आठवी 'सख्य' नामक भक्ति से कवि का अभिप्राय है कि ससार मे आकाश और पृथ्वी पर जितने भी प्राणी एव पदार्थ दिखाई देते हैं उन सबका सच्चे हृदय से सुहृद एव सखा होना चाहिए इसी तरह कवि की दृष्टि म नवी 'पदसेवन' नामक भक्ति यह है कि जो प्राणि-वर्ग अपने कर्मों से सताया जाकर हमारे चरणो म पडा हुआ है, उसे हमे शरण एव सम्मान प्रदान करना चाहिए।[1]

इस प्रकार कवि हरिऔध के इस नवधा भक्ति विवेचन मे भारतीय सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तो क साथ-साथ आधुनिक युग का प्रभाव भी विद्यमान है। यहाँ कवि ने कोरी मूर्तिपूजा एव भक्ति के प्राचीन आडम्बरो के स्थान पर आधुनिक तार्किक युग की बुद्धि दृष्टि-सम्पन्न तर्क-सम्मत एव

---

१ प्रियप्रवास १६।११७–१२६

न्याय-सम्मत बातें बतलाई है और समस्त व्यक्तियों को भक्ति संबंधी नवीन दृष्टि देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिससे न केवल वैयक्तिक जीवन ही सुधर सकता है, अपितु सामाजिक जीवन में भी आमूलपरिवर्तन हो सकता है तथा उस विश्वात्मा की सच्ची भक्ति भी हो सकती है। कवि का यह भक्ति-विवेचन भारतीय सांस्कृतिक परम्परा का पालन करता हुआ आधुनिक युग के लिये सर्वथा उचित एवं ग्राह्य है।

एक ईश्वर में विश्वास—भारतीय संस्कृति में विभिन्न देवी-देवताओं के अवतारों की कल्पना की गई है, परन्तु आरम्भ से ही भेद में अभेद, भिन्नता में अभिन्नता, पृथक्ता में एकता स्थापन करने का प्रयत्न रहा है। इसी कारण यहाँ ऋग्वेद मे भी "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" कह कर उस विविध रूप धारी अखिल ब्रह्माड नायक को एक ही बताया गया है। इसी तरह यहाँ पर "सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति" कहकर यह संकेत किया गया है कि समस्त देवी-देवताओं के प्रति जो नमस्कार प्रस्तुत किया जाता है, वह उस विश्वात्मा को ही पहुँच जाता है। इतना ही नहीं यहाँ धर्मग्रंथों में भी उस एक विश्वात्मा का निरूपण करने के लिये उसके सर्वव्यापी रूप की कल्पना की गई है। इसी कारण उसे समस्त भूतों के हृदय में स्थित आत्मा कहा गया है और सभी का आदि, मध्य एवं अंत बताया गया है। साथ ही उसे आदित्य, विष्णु, सूर्य, मरुत, वायु, नक्षत्र, सामवेद, इन्द्र, शंकर, कुबेर, अग्नि, सुमेरु, बृहस्पति, स्कंद, सागर, ओंकार, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल, उच्चैश्रवा, ऐरावत, कामधेनु, कामदेव, शेषनाग, यमराज, सिंह, गरुड़, गंगा आदि कहकर सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त बताया गया है।[1] इस तरह उस सर्वव्यापी विश्वात्मा एवं विश्वरूप एक ईश्वर में विश्वास रखने की ओर भारतीय संस्कृति में प्रारम्भ से ही प्रयत्न हुए हैं।

हरिऔध जी ने भी भारतीय संस्कृति की इस विशेषता को 'प्रियप्रवास' में चित्रित करने का सुन्दर प्रयास किया है और लिखा है कि शास्त्रों में उस परमपिता परमात्मा को अमित शीश, अमित लोचन एवं अनेक हस्त वाला कहा है और बिना हाथ, मुख, नेत्र एवं नासिका आदि के भी छूता हुआ, खाता हुआ, श्रवण करता हुआ, देखता और सूँघता हुआ बताया है। इसका रहस्य यह है कि जगत में जितने प्राणी दिखलाई देते है, वे सभी उस अखिलेश की मूर्तियाँ हैं। इसी कारण वह अनेक आँख, हाथ, पाँव आदि से युक्त है और

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १०।२०-४२

इन प्राणियो की आत्मा मे स्थित होने के कारण इनकी इन्द्रियों से ही वह छूने, सूँघने, खाने आदि की क्रियायें नित्य करता रहता है। इतना ही नही वह तारे, चन्द्र, सूर्य नाना रत्न, पृथ्वी, पानी, पवन, नभ पादप, खग आदि म भी व्याप्त है, ससार की समस्त लीलायें उसी की क्रीडायें हैं और वह सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों मे व्याप्त होकर विश्वात्मा के रूप म स्थित है।[१] इस तरह हरिऔध जी ने भी ईश्वर की एकता, उसकी सर्वव्यापकता एव उसकी प्रभुता का वर्णन करते हुए एक ईश्वर म विश्वास रखने का अत्यत सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है, जो कि पूणतया भारतीय सस्कृति के अनुकूल है।

नारी का महत्व—भारतीय सस्कृति मे नारी को अत्यधिक महत्व दिया गया है। और यहाँ तक कहा गया है कि 'जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।'[२] यह नारी मानव के जीवन म कई रूपो मे सहायता प्रदान करती है। उसके माता, पत्नी, बहिन, पुत्री आदि रूप प्रमुख हैं। माता के रूप मे वह अपने त्याग, प्रेम, दुलार एव स्नेह की सरिता बहाती हुई सतान पर वात्सल्य की वर्षा करती रहती है। वह सेवा की तो साकार मूर्ति है, क्योंकि वह अपने ही लिये जीवन धारणा नहीं करती, अपितु अपनी सतान एव अपने परिवार के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करती रहती है। पत्नी रूप म उसकी महाभारत के अन्तर्गत अत्यधिक प्रशसा की गई है। उसे पुरुष की आत्मा का आधा भाग कहा गया है और पत्नी की प्राप्ति के बिना पुरुष को अपूर्ण ही बतलाया गया है। उसे पुरुष का श्रेष्ठतम मित्र कहा गया है, उसे त्रिवर्ग की मूल बताया गया है और सम्पूर्ण परिवार का उद्धार करने वाली माना है।[३] इतना ही नही पत्नी रूप मे नारी को पुरुष के सम्पूर्ण दु खो की एकमात्र औषधि बताया गया है।[४] नारी के उक्त दो रूप ही सवश्रेष्ठ माने गये हैं। वह एक आदर्श-माता एव आदर्श-पत्नी या सहचरी

---

१ प्रियप्रवास १६।१०७-११०

२ 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'।

३ अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।
भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मूल तरिष्यत।
—महाभारत, आदिपर्व ७४।४१

४ न च भार्या सम किंचिद् विद्यते भिषजा मतम्।
औषध सर्वदु खषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
—महाभारत, आदिपर्व ७४।४५

बनकर अपना गौरव प्रदर्शित करती हुई मानव के जीवन को समृद्ध बनाने का कार्य करती है। नारी के इसी महत्व को प्रदर्शित करते हुए महाकवि कालिदास ने अज के विलाप के अवसर पर उनकी पत्नी के बारे में अज के मुख से कहलवाया था—"तुम गृहिणी, सचिव, सखी और ललित कला सीखने में मेरी प्रिय शिष्य थीं। निर्दय भाग्य ने तुम्हें मुझसे छीनकर मेरा क्या नहीं छीन लिया अर्थात् सर्वस्व छीन लिया है।"[1] इस तरह नारी पतिव्रता होकर पुरुष को, वात्सल्यमयी होकर पुत्र को, सहचरी एवं सेविका होकर सारे समाज को अन्याय रीति से अपनी सेवायें प्रदान करती रहती है। प्राचीन काल में कौशल्या, तारा, मंदोदरी, सीता, द्रौपदी, अनुसूया आदि कितनी ही नारियाँ ऐसी हो गई हैं, जिन्होंने गृहिणी-पद का सम्यक् निर्वाह करते हुए समाज में गौरव प्राप्त किया था और जिनका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ उनके आदर्श की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है और समाज में नारी के महत्व को अत्यधिक स्वीकार किया गया है।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' में नारी के गौरवपूर्ण चित्र अंकित किये हैं। यहाँ यशोदा एक आदर्श-माता के रूप में, राधा एक आदर्श पत्नी के रूप में और गोपियाँ आदर्श सहचरी के रूप में अंकित हैं। माता के वात्सल्य एवं उसकी अनुपम ममता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए इसी कारण कवि ने लिखा है :—

(१) ऊधो माता-सदृश्य ममता अन्य की है न होती।"१०।२६

(२) माता की सी अवनितल में है अ-माता न होती॥ १०।२७

यही बात पत्नी रूप में अंकित राधा के बारे में है। राधा भी आदर्श का पालन करती हुई प्रणय की साकार प्रतिमा के रूप में यहाँ चित्रित है। वह अत्यन्त शान्त, धीर, मधुर हृदया, प्रेम-रूपा, रसज्ञा, मोहमग्ना तथा प्रणय की प्रतिमा बनी हुई है। उसके हृदय में प्रिय कृष्ण के लिए अटूट श्रद्धा एवं विश्वास भरा हुआ है और वह कृष्ण के विश्व-प्रेम एवं लोक-हित की भावना से ओत-प्रोत होकर संसार की सम्पूर्ण लालसाओं, वासनाओं एवं कामनाओं को छोड़कर ब्रज की सेवा में ही अपना जीवन व्यतीत करती है। इसी कारण कवि ने उसे 'ब्रज की आराध्य देवी' कहकर अत्यन्त आदर एवं प्रतिष्ठा प्रदान की है और उसकी प्रशंसा करते हुये नारी के गौरव एवं उसकी प्रतिष्ठा को महत्व प्रदान किया है। 'प्रियप्रवास' का सप्तदश सर्ग तो नारी के गौरव का

---

१. रघुवंश ८।६७

ही सर्ग है, उसमें नारी को समाज सेविका, लोक हितैषिणी, विश्व-प्रेमिका आर्त्त-जनों की उद्धारक, सम्पूर्ण चिन्ताओं को हरने वाली, शान्ति प्रदायिनी, दयामूर्ति, मगलकारिणी आदि अनेक रूपों मे चित्रित किया है।[१] यहाँ पर चित्रित नारी की सेवा भावना, उसकी उदारता, उसका पावन प्रेम, उसके भूत-सम्वर्द्धन के प्रयत्न एव सर्वत्र शान्ति स्थापना सबधी कार्य भारतीय सस्कृति मे अकित नारी के उज्ज्वल एव उत्कृष्ट रूप के परिचायक हैं और हरिऔधजी ने उन्हे इस तरह काव्य मे सगुम्फित करके अकित किया है कि जिससे नारी के महत्व के साथ-साथ भारतीय सस्कृति का उत्कृष्ट रूप भी पाठको के सम्मुख स्पष्ट हो गया है।

अस्पृश्यता की भावना—भारतीय सस्कृति अत्यत उदारता एव महानता से भरी हुई है यहाँ चारो वर्णों की स्थापना समाज का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये ही हुई थी और सभी को समानता का अधिकार दिया गया था। परन्तु कालान्तर मे समाज के अदर शूद्र वर्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराने की भावना जाग्रत हुई, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अपनी ही जाति के प्राणी अपने से भिन्न होने लगे, उनमे ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हुए और वे अन्य धर्म एव अन्य जातियो मे सम्मिलित होने लगे। इसका मूल कारण यह बताया जाता था कि हमारे धर्म शास्त्रो म ही शूद्रा को त्याज्य एव अस्पृश्य कहकर हीन एव हेय बताया गया है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण ने शूद्रो को भी यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया गया है।[२] गौतम धर्म सूत्र मे तो शूद्र के लिए सत्य, अक्रोध, शौच और श्राद्ध कर्म भी बताये गये हैं।[३] कुछ आचार्यों के अनुसार वे पाकयज्ञ के भी अधिकारी हैं। महाभारत मे इसी कारण लिखा है कि शूद्र जनेऊ धारण करके पाकयज्ञ कर सकता है।[४] विष्णु स्मृति मे शूद्र व्यापारियो का भी उल्लेख मिलता है।[५] मनुस्मृति मे शूद्र के लिए दासकर्म एव शिल्पवृत्ति का भी विधान मिलता है।[६] हमारे यहाँ

---

१ प्रियप्रवास १७।२९-५२
२ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।४।८
३. गौतम धर्मसूत्र २।१, ३।४
४ महाभारत, शान्तिपर्व, ५०।४०
५. विष्णुस्मृति २।१४
६. मनुस्मृति १।९१, १०।२०

बहुत से शूद्र जाति के व्यक्तियों को अत्यंत आदर एवं सम्मान भी दिया गया है और वे बड़े विद्वान भी हुए हैं, जिनमें से वाल्मीकि मुनि, कबीर, नाभादास, रैदास, नामदेव, आदि प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं यहाँ पर छूआछूत एवं अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी बराबर प्रयत्न होते रहे हैं। इस दूषित भावना को दूर करने के लिए यहाँ सभी सन्तों एवं महात्माओं ने प्रयत्न किये है, जिनमें से कबीर, तुलसी, दादू, मीरा आदि प्रसिद्ध हैं। रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद, महात्मा गांधी आदि ने भी इसे दूर करने का बराबर प्रयत्न किया है। गांधी जी ने तो अस्पृश्य लोगों को 'हरिजन' कहना ही प्रारम्भ कर दिया था और उनके निवास-स्थानों पर स्वयं रहकर उनके अंदर शुद्धता, सात्विकता, सौजन्य एवं सहृदयता आदि का प्रचार करके उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया था।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' में इस अस्पृश्यता को दूर करने के लिए स्पष्ट लिखा है तथा 'दासता' नाम की भक्ति का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए बताया है कि हमें सर्दैव गिरी हुई जातियों को उठाने का प्रयत्न करना चाहिये और जो लोग हमारी सेवा करते हैं उनके लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारी ये ही चेष्टायें एवं ऐसे ही प्रयत्न सच्ची 'दासता' नाम की भक्ति के अंतर्गत आते हैं।[1] इतना ही नहीं 'सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ है उसी की' कहकर कवि ने छूआ-छूत या ऊँच-नीच की भावना को तुच्छ कहकर सभी को एक विश्वात्मा की मूर्ति कहा है और पारस्परिक भेदभाव को छोड़कर अस्पृश्यता-निवारण पर जोर दिया है। साथ ही श्रीकृष्ण के द्वारा समस्त प्राणियों की अपने हाथ से ही सेवा कराके कवि ने यह संकेत किया है कि समाज में कोई छोटा या कोई बड़ा अथवा कोई स्पृश्य एवं कोई अस्पृश्य नहीं है। सभी समान हैं। सभी के प्रति प्रेम, सहानुभूति, उदारता आदि होनी चाहिये और किसी को भी तुच्छ समझकर कभी ठुकराना नहीं चाहिए। इसी कारण तो उनके कृष्ण 'प्रियप्रवास' में सभी की सेवा अपने हाथ से करते हैं और कोई भी घर ऐसा नहीं दिखाई देता, जहाँ यदि कोई

---

१. जो बातें है सब हितकरी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हो सेवा में निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति सब सुखदा दासता-संज्ञका है। १६।१२१

भी प्राणी दुखी हो तो कृष्ण वहाँ न पहुँचे।[1] इस प्रकार हरिऔधजी ने समाज में एकता एव समानता लाने के लिए अस्पृश्यता को दूर करने की ओर सकेत किया है और देश को इस भयानक रोग से बचने की सलाह दी है।

प्रकृति प्रेम—भारतीय सस्कृति का विकास ही प्रकृति की सुरम्य गोदी में हुआ है। इसी कारण यहाँ का मानव आदिकाल से ही प्रकृति का अनन्य भक्त बना हुआ है। इसके लिए यहाँ का साहित्य साक्षी है क्योंकि ऋग्वेद से लेकर आज तक यहाँ के काव्यों में सर्वाधिक महत्व प्रकृति की मनोरम छटा को ही प्राप्त हुआ है। कवियों ने उषा, सध्या, दिवस-श्री, रजनी, सूर्य, चन्द्र, तरुलता, ऋतुयें, हरे भरे मैदान नदी, सरोवर, पर्वत आदि के जितने रमणीक एव भव्य चित्र अपने अपने काव्यों में अकित किए हैं, उतने अन्य किसी के नहीं किये। प्रकृति प्रेम की बहुलता का ही यह परिणाम है कि यहाँ के महाकाव्यों की यह एक विशेषता बन गई है कि उनमें षट ऋतुओं सध्या रजनी आदि के भव्यचित्र होने चाहिए। यह प्रकृति यहाँ के जीवन में इतनी व्याप्त है कि मानव एक क्षण भी उससे पृथक् नहीं रह सकता। इस प्रकृति प्रेम को हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' में पर्याप्त स्थान दिया है। यहाँ पर उनके चरित्र-नायक श्रीकृष्ण ने तो अपना अधिकाश व्रज का जीवन प्रकृति की रमणीक गोद में ही व्यतीत किया है। श्रीकृष्ण जब कभी विपिन में अपने साथियों के साथ विहार किया करते थे तब यमुना के वारि विलास, गोवर्द्धन पर्वत की सुरम्य छटा, निझरों का कल-कल गान, कुजों की मजुल छटा आदि देखते हुए आनन्द विभोर हो जाते थे तथा कदम्ब की किसी शाखा पर बैठकर अपनी मधुर वशी बजाया करते थे। वे वनस्थली में उत्पन्न सुन्दर जडी बूटियों को बडे ध्यान से देखा करते थे और उनके रहस्य को अपने साथियों को समझाया करते थे। उनकी दृष्टि में एक तिनका भी व्यर्थ न था। वे एक एक पत्ते एव एक एक तिनके को भी सार्थक समझते थे और उनकी दृष्टि में धूल का एक कण भी निरर्थक न था।[2] शरद ऋतु की मजुल एव उज्ज्वल चन्द्र-

---

१ रोगी दुखी विपद आपद मे पडों की।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत व्रज मे न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।१२।१६७

२ प्रियप्रवास १३।२७-३५

ज्योत्स्ना के अन्तर्गत अपने साथियों सहित विहार करने में, क्रीड़ायें करने में अथवा घूमने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। चन्द्रिका में स्नान किये हुए वन प्रदेश को देखकर उनका मन प्रसन्नता से भर जाता था। उस समय रजनी अलौकिक कौमुदी का वस्त्र तथा तारों के उज्ज्वल गहने पहन कर एक पुरन्ध्री सी बन जाती थी। ऐसे मनोरम वातावरण में उनके सभी साथी कितने ही दलों में विभक्त होकर नाच, गान, चिंतन, मनन आदि में लीन हो जाते थे और श्रीकृष्ण प्रत्येक दल में जा-जाकर वन-विहार का आनंद लेते थे।[1] इस तरह कवि ने अपनी प्रकृति-प्रेम संबंधिनी भावना को उत्कट रूप में प्रस्तुत करते हुए यहाँ संध्या, रजनी, प्रभात, षट् ऋतुओं आदि के रमणीक चित्र अंकित किये हैं तथा अपने चरित्र नायक के प्रकृति-प्रेम द्वारा मानव के हृदय में स्थित प्रकृति के प्रति सहज आकर्षण को भी अत्यंत भव्य एवं चित्ताकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है।

समन्वय की भावना--भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सदैव समन्वय की भावना को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। इसी कारण इस संस्कृति को समन्वय-प्रधान संस्कृति कहा जाता है। यहाँ के विभिन्न अवतारी पुरुषों, महात्माओं, ऋषियों, सन्तों एवं लोक नेताओं ने सदैव समन्वय के प्रयत्न किए हैं, दोनों अतियों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाने की सलाह दी है और भिन्न-भिन्न जातियों, आचार-विचारों, साधनाओं, धर्मों, सम्प्रदायों, रीति-रिवाजो आदि के रहते हुए भी उनमें समन्वय स्थापित करने की चेष्टायें की हैं। हमारे यहाँ बुद्धदेव समन्वयकारी थे, गीता में भी समन्वय की भावना विद्यमान है, तुलसीदास ने भी समन्वय किया है और महात्मा गांधी भी समन्वयकारी थे। यहाँ कभी केवल प्रवृत्ति या केवल निवृत्ति को ही महत्व नहीं दिया गया यहाँ केवल त्याग या केवल भोग को ही जीवन के लिए आवश्यक नहीं बतलाया गया, यहाँ केवल ज्ञान या केवल भक्ति को ही जीवन की उन्नति के लिए अभीष्ट नहीं कहा गया अपितु प्रवृत्ति और निवृत्ति, त्याग और भोग, ज्ञान और भक्ति, भौतिकता एवं आध्यात्मिकता आदि में समन्वय स्थापित किया गया है, अनेकता में एकता एवं भेद में अभेद देखने की चेष्टा की गई है और यहाँ पर विचारकों ने सभी वस्तुओं में अभिन्नता के साथ एक ही सत्य के दर्शन किये हैं। इसी कारण यहाँ ब्रह्म और संसार जीव

---

१. प्रियप्रवास १४।८८ १४०

और ईश्वर तथा जड़ और चेतन मे भी समन्वय स्थापित करने के प्रयत्न हुए हैं।[१]

हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे इस समन्वय की भावना पर बल दिया है। यहाँ कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण का जीवन इस तरह चित्रित किया है, जिसमें त्याग एव भोग और प्रवृत्ति एव निवृत्ति दोनो का सुदर समन्वय मिलता है। गोकुल मे रहते हुए वे गोप एव गोप-बालाओ के साथ आनद-क्रीडाओ मे मग्न भी दिखाये गये हैं।[२] तथा अपने जीवन को उत्सर्ग करते हुए अथवा भयकर सकटो में फँसते हुए त्यागमय जीवन भी व्यतीत करते हैं।[3] इसीतरह मथुरा मे जाकर राजसी भोगो का उपभोग करते हुए प्रवृत्ति मार्ग के अनुयायी भी दिखाई देते हैं और निरतर विश्व प्रेम एव जगत हित मे लीन रहने के कारण निवृत्ति मार्ग की ओर भी उन्मुख दिखाये गये हैं।[४] इसी तरह कवि ने विरह-विह्वल गोपियो तथा लोकसेवा म रत राधा का चित्रण करके भोग एव त्याग अथवा प्रवृत्ति एव निवृत्तिका सुदर समन्वय दिखाने की चेष्टा की है। 'प्रियप्रवास' की राधा तो इस समन्वय भावना की साकार मूर्ति है, क्योकि उसके हृदय मे तो अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के प्रति अटूट प्रेम विद्यमान रहता है और वैसे वह रात दिन त्याग एव लोकसेवा मे लगी रहती है। इस तरह भक्ति और ज्ञान, कर्म और तपस्या, प्रेम और त्याग, प्रवृत्ति और निवृत्ति आदि कितनी ही विरोधी भावनाओ का समन्वय राधा के जीवन मे चित्रित किया गया है। साथ ही प्रियप्रवास' के कृष्ण और राधा दोनो पात्र ही धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का सुदर समन्वय प्रस्तुत करते हुए अकित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त कवि ने उद्धव के रूप मे भी ज्ञान और भक्ति का समन्वय स्थापित किया है, क्योकि वे ज्ञानी के रूप में ही गोकुल पधारते हैं और गोकुल मे आकर वहाँ की भक्तिप्राण जनता के प्रेमपूर्ण उद्गारो को सुन-सुन-

---

१ श्रीमत्परमशिवस्य पुन विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानदमय-प्रकाशैकघनस्य एव विधमेव शिवादि-धरण्यन्तम् अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुत अन्यत् किंचित् ग्राह्य ग्राहक वा, अपितु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्य नाना वैचित्र्यसहस्रै स्फुरति। —प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, पृ० ८

२. प्रियप्रवास, १४।७७-१३८

३. वही ११।२३-२८,११।८४-८५ आदि।

४ वही १४।२२-३१

कर वे भी भक्ति-विभोर हो जाते हैं तथा राधा के चरणों की रज लेकर यहाँ से विदा होते हैं।[1] इतना ही नहीं कवि ने जगत और ब्रह्म दोनों का भी सुंदर समन्वय किया है और उस ब्रह्म या विश्वात्मा को जगत के प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त दिखाते हुए तथा समस्त प्राणियों को उसी की मूर्तियाँ, नाना प्रकाशपूर्ण पदार्थों में उसीका प्रकाश एवं पंचतत्वों में उसीकी सत्ता बताते हुए सम्पूर्ण जगत को ही उसका रूप बताया है।[2] कवि के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट ही यह व्यंजना हो रही है, कि संसार ब्रह्म का रूप होने के कारण सत्य भी है, परन्तु परिवर्तनशील होने के कारण इसे असत्य भी कहा जाता है। इस तरह कवि ने समन्वय की भावना को अंकित करते हुए 'प्रियप्रवास' में यह दिखाने की चेष्टा की है प्रवृत्ति ही निवृत्ति की ओर लेजाने का साधन है, भोग ही त्याग की ओर उन्मुख करने का साधन है, संसार के भोगों की निस्सारता ही आत्मत्याग, आत्मोत्सर्ग की ओर बढ़ाने की सीढ़ी है। यहाँ कृष्ण और राधा के चरित्र-चित्रण द्वारा कवि ने अपने जिन समन्वयकारी विचारों को प्रस्तुत किया है उनमे स्पष्ट ही हमें उस अनंत, अमंद एवं स्वच्छंद आनंद की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है, जिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता और भौतिकता, सत और असत दोनों के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो भारतीय संस्कृति के अंतर्गत जीवन का अभीष्ट लक्ष्य कहलाता है।

अतः भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों का अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति की अधिकांश विशेषताओं को अंकित करने की सफल चेष्टा की है और अपने चित्रण द्वारा यह दिखाने का सुंदर प्रयत्न किया है कि 'प्रियप्रवास' भारतीय संस्कृति के उन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, जिनको अपनाकर न केवल कोई एक देश ही उन्नति कर सकता है, अपितु

---

१. चुप हुई इतना कह मुग्ध हो। व्रज-विभूति-विभूषण-राधिका।
   चरण की रज ले हरि-बंधु भी। परम-शान्ति समेत विदा हुए।
   १६।१३६

२. मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
   वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
   व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा।
   यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका।

सम्पूर्ण विश्व उन्नति करता हुआ सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। भारतीय-सस्कृति की उक्त विशेषतायें सार्वभौम हैं, वे जीवन के अखड प्रवाह से सबन्धित हैं और उनमे मानवता के सभी उदात्त गुण विद्यमान हैं। इसी कारण 'प्रियप्रवास' आधुनिक युग का प्रथम प्रयास होकर भी महाकाव्यो की श्रेणी मे अग्रगण्य है और भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है। इसमे कवि की सबसे बडी सास्कृतिक देन यही है कि त्याग, तपस्या एव सयम के साथ मानव को जगत-हित मे लीन रहना चाहिए तथा वैयक्तिक स्वार्थ को छोडकर परमार्थ या विश्व-कल्याण के कार्यो मे अधिकाधिक अग्रसर होना चाहिए। कवि के इन विचारो को अपनाकर चलने से निस्सदेह मानव मात्र का कल्याण हो सकता है और विश्व की सारी समस्याओ को सुगमता से सुलझाया जा सकता है।

———

प्रकरण ६

प्रियप्रवास में जीवन-दर्शन

जीवन-दर्शन—'दर्शन' भारतीय-जीवन का एक अभिन्न अङ्ग है। भारतीय मस्तिष्क ने जिस दिन से सोचना-विचारना प्रारम्भ किया, उसी दिन से दर्शन का जन्म हुआ। यहाँ के प्राचीन से प्राचीन वाङ्मय से लेकर आजतक 'दर्शन' अविच्छिन्न रूप से भारतीय साहित्य में व्याप्त दिखाई देता है। इसी कारण भारत को दार्शनिकों का देश कहा जाता है और यहाँ का प्रत्येक मनीषी दार्शनिक कहलाता है। इस दर्शन का भारतीय धर्म से भी घनिष्ट सम्बन्ध है। धर्म की व्याख्या करते हुए वैशेषिक दर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद ने लिखा है कि "जिससे अभ्युदय व निःश्रेयस की सिद्धि होती है, उसे धर्म कहते हैं।"[1] अभ्युदय से अभिप्राय लौकिक जीवन के विकास से है और निःश्रेयस से अभिप्राय पारलौकिक उन्नति एवं कल्याण से है। इस तरह धर्म के अन्तर्गत हमारे यहाँ ऐसे सिद्धान्तों, तत्वों अथवा जीवन-प्रणाली का स्वरूप समझाया गया है, जिससे समूची मानव-जाति उत्तरोत्तर विकास करती हुई इस लोक में वैभव एवं अभ्युदय को प्राप्त होकर तथा मृत्यु के उपरान्त भी जीवन-मरण अथवा आवागमन के चक्र से सर्वथा मुक्त होकर परम सुख एवं परम शान्ति को प्राप्त कर सकती है। इस धर्म के अन्तर्गत जिन-जिन विशेषताओं का समावेश मिलता है, वे सभी विशेषताएँ 'दर्शन' में भी विद्यमान हैं। 'दर्शन' भी विचारों की ऐसी परम्परा है, जो धर्म के समान मानव को उन्नत एवं श्रेयस्कर बनाती हुई संसार के समस्त बंधनों से मुक्त करती है और आत्मा या ब्रह्म का साक्षात्कार कराती हुई उसे परम सुख एवं परमशान्ति प्रदान करती है। 'दर्शन' का मूल उद्देश्य ही यह है कि वह ब्रह्म, जीवात्मा आदि का साक्षात्कार कराता हुआ सांसारिक बंधनों से मानव को मुक्त करके निःश्रेयस अथवा पारलौकिक उन्नति की ओर अग्रसर करता है। भारत में सांख्य, योग,

---

१. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः—वैशेषिक १।१।२

न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमासा तथा उत्तरमीमासा (वेदान्त) नामक षट्-दर्शन तो प्रसिद्ध ही हैं। इनके अतिरिक्त बौद्धदर्शन, जैनदर्शन, शैवदर्शन, शाक्तदर्शन, चार्वाक दर्शन आदि अनेक दार्शनिक सम्प्रदायो के दर्शनो का भी प्रचार है। परन्तु सबका उद्देश्य मानव-कल्याण के लिये आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म का साक्षात्कार कराना और मानव को सासारिक बधन से मुक्त करके परमसुख एव परमशान्ति प्राप्त कराने का प्रयत्न करना ही है। इस तरह 'दर्शन' जीवन को समुन्नत बनाने का एक कल्याणमय साधन है।

जब 'दर्शन' जीवन को समुन्नत बनाने का एक साधन है, तब दर्शन और जीवन के अटूट सम्बन्ध का अनायास ही पता चल जाता है। परन्तु 'दर्शन' एक पारिभाषिक शब्द है और इससे किसी विशिष्ट विचार-परम्परा का बोध होता है। फिर कवि का कार्य किसी दर्शन की परम्परा का निर्माण करना अथवा किसी विचार-परम्परा की स्थापना करना नहीं होता। वह तो दर्शन की किसी मान्य परम्परा का अनुयायी होकर अथवा कुछ सर्वमान्य दार्शनिक विचारो को लेकर अपने काव्य में उन्हें स्थान देता है। प्रायः कविगण उन दार्शनिक विचारो को ही अपने-अपने काव्यो मे स्थान दिया करते हैं, जिन्हें वे जीवन के लिए अत्यत महत्वपूर्ण समझते हैं अथवा जिनको वे अपने काव्यगत विचारो के सर्वथा अनुकूल समझते हैं। इसलिये कवि कभी दार्शनिक नही होता और न वह किसी दर्शन की विशिष्ट परम्परा का निर्माता होता है। वह तो जीवन के लिए आवश्यक दार्शनिक विचारों को लेकर केवल अपने चरित्रनायक या अपने सम्पूर्ण काव्य से उनकी सगति मिलाने का कार्य किया करता है। इसीलिये किसी काव्य मे आये हुए कुछ दार्शनिक विचारो को किसी कवि का दर्शन न कहकर कवि का जीवन-दर्शन कहना अधिक समीचीन ज्ञात होता है, क्योकि वहाँ कवि जिन दार्शनिक विचारो को जीवन के लिये अपेक्षित समझता है, उन्ही का उल्लेख करता है। इसीकारण जीवन-दर्शन से हमारा अभिप्राय यह है कि किसी कवि ने मानव-जीवन के लिये किन-किन प्रचलित दार्शनिक विचार-धाराओ को उपयुक्त समझा है और उनको किस तरह मानव-कल्याण के लिये अपने काव्य मे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। अतः इस प्रकरण मे हम हरिऔधजी की उन विशिष्ट-विशिष्ट मान्यताओ का ही उल्लेख करेंगे, जिनको उन्होने मानव-जीवन को मगलमय बनाने के लिए उपयुक्त एवं अपेक्षित समझा है और जिनका सम्बन्ध किसी न किसी भारतीय दार्शनिक विचार-धारा से है।

ब्रह्म की एकता एव व्यापकता—ब्रह्म या आत्मा एक है। वह सर्वत्र

व्याप्त है। उसे अनेक रूपों में देखा जाता है और उसके अनेक नाम बताये जाते हैं। वैसे वह एक ही है और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह ब्रह्म के अंश के कम या अधिक रहने से बन गई है, अन्यथा सब कुछ उसी एक ब्रह्म का स्वरूप है। इस बाह्य भिन्नता का कोई अर्थ नहीं है। जो कुछ भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं, वे सब उसी ब्रह्म के परिवर्तित रूप हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सर्वत्र वह ब्रह्म ही ब्रह्म है।'[1] ये दार्शनिक विचार भारतीय जीवन में अत्यधिक व्याप्त हैं। इनमें अद्वैतवाद अथवा अभेदवाद की जिस दार्शनिक परम्परा की ओर संकेत किया गया है, हरिऔधजी भी उससे अत्यधिक प्रभावित थे। इसी कारण आपने लिखा भी था "ईश्वर एकदेशीय नहीं है, वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणि-मात्र में उसका विकास है—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"[2] उनकी यही धारणा 'प्रियप्रवास' में भी विद्यमान है। यहाँ पर भी आपने ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे अनंत शीश और अगणित लोचनों वाला तथा असंख्य हाथ-पैर वाला कहा है। साथ ही बिना मुख के खाता हुआ, बिना त्वचा के स्पर्श करता हुआ, बिना कानों के सुनता हुआ, बिना आँखों के देखता हुआ और बिना नासिका के सूँघता हुआ लिखा है परन्तु वह ये सब कार्य कैसे करता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कवि ने लिखा है कि सम्पूर्ण जगत में जो असंख्य प्राणी दिखाई देते हैं वे सब उसी ब्रह्म की मूर्तियाँ हैं। अतएव इन असंख्य प्राणियों की आँखों के रूप में उसकी असंख्य आँखें हैं और असंख्य कानों, हाथों आदि के रूप में उसके असंख्य अन्य अवयव भी हैं। इस तरह वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होकर नानाप्रकार के कार्य करता रहता है। उसी का प्रकाश तारागण, सूर्य, अग्नि, बिजली, नानारत्न, विविध मणियों आदि में दिखाई देता है और उसी की प्रभुता पृथ्वी, पानी, पवन, नभ, वृक्ष, खग आदि में दिखाई देती है।[3] इस तरह इन सभी बातों के आधार पर यह स्पष्ट पता चलता है कि वह ब्रह्म विश्व रूप है। वह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है और सारा विश्व उसमें समाया हुआ है।[4] अतः कवि ने विश्वात्मा

१. ऐतरेय उपनिषद् १-२, तैत्तिरीयोपनिषद् २।१
२. महाकवि हरिऔध, पृ० १७३
३. प्रियप्रवास १६।१०७-११०
४. वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
   व्यापी है विश्व प्रियतम में विश्व में प्राणप्यारा ॥१६।११२

या ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त कहकर भिन्नता में भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद एव द्वैत मे भी अद्वैत की स्थापना करते हुए ऐसे सिद्धान्त की ओर सकेत किया है, जिसे अपनाने के कारण मानव समस्त प्राणियो को अपने समान ही समझता हुआ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुकूल आचरण कर सकता है और अन्य सभी प्राणियों को सुखी बनाता हुआ स्वय भी परमसुख या परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

जीव की कर्मानुसार गति—भारतीय दर्शन के अनुसार जब आत्मा शरीर के बधन को स्वीकार करता है, तब उसे 'जीव' नाम से अभिहित किया जाता है। इस जीव को अपने कर्मानुसार नाना शरीर धारण करने पड़ते हैं। मृत्यु के उपरान्त यह जीव अपने स्थूल शरीर को तो छोड़ देता है, परन्तु सूक्ष्म-शरीर से, जो लिंग शरीर भी कहलाता है वह जकड़ा रहता है। परन्तु जो जीव अपने पुण्यकर्मों द्वारा अथवा साधना द्वारा आत्मतत्व को पहचान लेता है, वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक मे चला जाता है, जहाँ से फिर उसे वापिस नहीं आना पड़ता।[1] शैवदर्शन म *भी आत्मा को स्वतत्र और जीव को परतत्र या बधन से पड़ा हुआ माना है।* इसके बधन का कारण बतलाया है कि यह माया जन्य अज्ञान से आवृत रहता है तथा आणव आदि मलो से सकुचित रहा आता है।[2] जैनदर्शन मे भी जीव को कर्मों के कारण ससार-बधन मे पड़ा हुआ बतलाया गया है। बौद्ध भी जीव को कर्म-बधन मे बँधा हुआ मानते हैं और रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान नामक पाँच स्कधो के समुच्चय रूप में उसकी व्याख्या करते हैं। वे जीव को 'नाम रूपात्मक' कहते हैं। इसकी बधन-मुक्ति के लिए बौद्धदर्शन मे अष्टांगिक मार्ग बताया गया है, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि द्वारा जीव ससार के कर्म-बधनो से मुक्त हो जाता है।[3] इस तरह भारतीय दार्शनिको ने जीव को नाना प्रकार के *बधनों में ग्रस्त* दिखाकर ससार म सकट सहन करता हुआ बताया है और इन

---

१ भारतीय सस्कृति, पृ० २१६

२ *"मायाप्रमातृत्वं सकोचोऽवभासित स एव शिवादिभेदाख्यादयात्मकाज्ञान* स्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसकुचित ज्ञानात्मा बन्ध।"

—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० १२

३ बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७४–८१

संकटों से बचने के लिए अनेकानेक मार्ग सुझाये हैं। परन्तु सभी एक मत से यह कहते हैं कि पापकर्म करने के कारण जीव बंधन में पड़ता है और पुण्य-कर्मों के कारण वह इन बंधनों से सर्वथा दूर रह कर परम शान्ति या मोक्ष अथवा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में भी जीवों की इसी गति की काव्यात्मक व्याख्या करते हुए पूतना, कंस, कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, केशी, चाणूर, मुष्टिक आदि के रूपों में ऐसे नारकीय जीवों का वर्णन किया है, जो समाज को पीड़ा पहुँचाते हुए नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते हैं और अपने पाप-कर्मों के कारण ही दुर्गति को प्राप्त होते हैं[1] और राधा एवं श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र द्वारा यह दिखाया है कि पुण्यकर्म करने वाले जीव केवल एक स्थान को ही सुख और शान्ति से सम्पन्न नहीं बनाते, अपितु अपने सत्कर्मों शुभप्रेरणाओं एवं परोपकारादि के द्वारा सम्पूर्ण जगती में सुख और शान्ति की स्थापना करते हैं। यहाँ राधा और श्रीकृष्ण के लोक-सेवा एवं लोक-हित संबंधी पुण्यकार्यों में जीव के समस्त पुण्यकर्मों की जो काव्यात्मक व्याख्या की गई है, वह सर्वथा अनुकरणीय एवं स्पृहणीय है। श्रीकृष्ण का विनम्र होकर सबसे मिलना, कलह-विवाद को शान्त कराने का प्रयत्न करना, लघु व्यक्तियों को शिक्षा देना तथा रोगी, दुखी, एवं आपद् ग्रस्तों की सेवा करना एक पुण्यात्मा जीव के शुभ कर्मों की ओर संकेत कर रहा है।[2] ऐसे ही राधा को समस्त ब्रजजनों के संताप दूर करने का प्रयत्न करते हुए गोप एवं गोपियों को सांत्वना देना, उनके समीप जाकर उनके कष्टों का निवारण करना, दुःखी गोप-बालकों को शिक्षा देना एवं कृष्ण लीलायें कराना, दुखित प्राणियों को वेणु, वीणा आदि बजाकर एवं श्रीकृष्ण की लीला का गान करके समझाना आदि कितने ही ऐसे लोकहितकारी कार्यों में लीन चित्रित किया है,[3] जो एक पुण्यात्मा जीव के उन समस्त पुण्यकर्मों के परिचायक हैं, जिनसे वह संसार के बन्धन से मुक्त होकर स्वयं सुख एवं शान्ति का अनुभव करता हुआ सम्पूर्ण विश्व के मानवों को भी परमसुख और शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यही कारण है कि राधा अपने शुभ कार्यों द्वारा सम्पूर्ण कलह-जन्य दुर्गुणों को दूर कर देती थी, मलिन मन

---

१. पर किसी चिर संचित-पुण्य से। गरल अमृत अर्भक को हुआ।
विषमयी वह होकर आप ही। कवल काल-भुजंगम का हुआ। २।३५

२. प्रियप्रवास १२।८०-८७

३. वही १७।२६-४६

मे व्याप्त सम्पूर्ण कालिमाओ को धो देती थी, सभी प्राणियों के हृदय-तल मे भावज्ञता का बीज बोदेती थी और चिन्ता से व्याप्त घरो म शाति-धारा वहा देती थी।[1] इस प्रकार कवि ने पाप और पुण्य दोनो म फसे हुए जीवो की ओर संकेत करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह बताया है कि काम, क्रोध, लोभ मोह तृष्णा आदि से परिपूर्ण पाप कर्मो के करने से जीव बधन म पडकर नारकीय यातनायें सहन करता है और परोपकार, लोकहित, लोकसेवा विश्व प्रेम आदि से परिपूर्ण पुण्य कर्मो म लीन रहने वाला जीव इहलोक म शान्ति एव सुख की धारा बहाता हुआ परलोक मे भी अखड सुख एव अनत शान्ति को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यहाँ कवि ने प्राचीन विचारों को नवीनता के साथ सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है। साथ ही कवि ने यहाँ किसी भी स्थान पर यह नही लिखा है कि कोई असुर श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होकर मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त हुआ था, अपितु सभी दुर्गति को प्राप्त हुए, भयकर मृत्यु को प्राप्त हुए आदि लिखा है जिससे स्पष्ट ही कवि ने यह घोषित किया है कि बुरे कर्मों का बुरा परिणाम एव शुभ कर्मो का शुभ एव मगलमय परिणाम होता है। कवि के ये विचार भी जीवन को समुन्नत बनाने मे अत्यत प्रेरणा देने वाले हैं।

संसार की परिवर्तनशीलता—भारतीय मनीषियो ने ससार को गतिशील माना है। यहाँ निरतर पदार्थो का उद्भव, विकास और ह्रास होता रहता है, क्योकि जगत् क सभी जीव एव सभी पदाथ नित्य बनते बिगडते रहते हैं। उपनिषदों म कहा भी गया है कि उस ब्रह्म से ही समस्त भूतो की उत्पत्ति होती है, वे कुछ समय तक स्थिर रहते हैं और अत मे उसी मे सब विलीन हो जाते हैं।[2] वह उत्पत्ति एव विलीनता का काम निरतर चलता रहता है। इसी कारण यहाँ सदैव एक सी स्थिति नही रहती। दिन और रात की तरह सुख और दुख चलते रहते हैं और चक्र की अराओ की भाँति सभी वस्तुएँ निरतर गतिशील रही आती हैं। कभी समुद्र मरुस्थल बन जाता है, मरुस्थल समुद्र बन जाते हैं। पवत मैदान हो जाते हैं, मैदान पर्वत बन जाते हैं नद सूखकर खेत बन जाते हैं और खेत जलमग्न होकर नद बन जाते हैं। हिम आतम, दुख-सुख लाभ हानि, हर्ष शोक आदि का चक्र बराबर चलता रहता है 'जगत्' शब्द ही

---

१. प्रियप्रवास १७।४७

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति—तै० उपनिषद् ३।१

स्पष्ट ही गमनशीलता एवं गतिशीलता का द्योतक है इसी तरह 'संसार' शब्द भी संसरणशीलता, गतिशीलता एवं आवागमन की ओर संकेत करता है। इसी लिये कुछ विद्वानों ने संसार को निस्सार, कुछ ने असत्य, कुछ ने मिथ्या एवं कुछ ने परिवर्तनशील कहा है। हरिऔधजी ने केवल संसार की परिवर्तन शील स्थिति की ओर ही 'प्रियप्रवास' में संकेत किया है। सर्व प्रथम तो हरिऔधजी तुलसी आदि महात्माओं की तरह यह मानते हैं कि यह संसार उस चित्रकार की चित्रमयी रचना है जिसे देख-देखकर उसे भी दुःख होता है, क्योंकि उसकी यह रचना किसी न किसी प्रकार के संकट में ही लीन रही आती है और इसे वह कभी सदैव सुख और आनंद में लीन नहीं देखता।[1] कवि की दृष्टि में इस दुःख का मूल कारण यहाँ की परिवर्तनशीलता है, क्योंकि यहाँ पर प्रायः यह देखा जाता है कि कुछ घड़ी पूर्व ही जिस भूमि में प्रमोद का प्रवाह तीव्र गति से वह रहा था, उसी रस-प्लावित भूमि में कुछ घड़ी ही उपरान्त विपाद का तीव्र स्रोत बहता दिखाई देता है।[2] जहाँ पर कुछ घड़ी पूर्व स्वर की मधुर लहरियाँ पवन में अधिकाधिक गूँजती हुई सुनाई पड़ती थीं तथा सुन्दर संलाप आदि सुनाई पड़ते थे, कुछ ही समय के उपरान्त वहाँ नीरवता छाई हुई दिखाई देती है।[3] यह परिवर्तन केवल मानव-समाज तक ही सीमित नहीं, अपितु प्रकृति में भी विद्यमान है। वहाँ भी विभिन्न ऋतुओं अथवा ग्रीष्म-शीत, वर्षा-शरद आदि के रूप में वर्तमान रहता है। यह परिवर्तन किसी को नहीं देखता। जो कमल अत्यंत सौंदर्य एवं माधुर्य के साथ सरोवर में विकसित होता है, उसकी सुकुमार पंखुड़ियों को भी हिम-पात के द्वारा यह नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है और उसे विकसित नहीं रहने देता। इसी

---

१. धाता ने हो दुखित भव के चित्रितों को विलोका। ७।११
तुलसीदासजी ने भी जगत को चित्र मानकर 'विनयपत्रिका' में लिखा है :—
केसव, कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये।
सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।। १११

२. कुछ घड़ी पहले जिस भूमि में, प्रवहमान प्रमोद-प्रवाह था।
अब उसी रस-प्लावित भूमि में, वह चला खर स्रोत विषाद का। २।२०

३. प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ पवन में अधिकाधिक गूँजती।
कल अलाप सुप्लावित था जहाँ, अब वहाँ पर नीरवता हुई। ११५०

तरह जो चद्रमा अपनी उज्ज्वल एव अमृतमयी कलाओ द्वारा रजनी के सौंदर्य एव माधुर्य की वृद्धि करता हुआ जब पूर्ण विकसित होता है, तभी खल राहु उसे निगलकर उसके सौंदर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।[1] इस प्रकार ससार मे प्राय: यह देखा जाता है कि जिस घर मे सुख अपने दिव्य रूप के साथ सुदर नृत्य करता हुआ दिखाई देता है, वह आनदपूर्ण सुदर घर भी दुख के लेश से कभी बच नही पाता।[2] इस प्रकार कवि ने ससार के इस विराट परिवर्तन की ओर सकेत करते हुए मानवों को सचेत एव सावधान होने के लिये चेतावनी दी है और बताया है कि ससार की इस वैभवमयी स्थिति मे लीन होकर यह कभी नही भूलना चाहिए कि ऐसी स्थिति सदैव नही रहती, यह स्थिति भी परिवर्तनमयी है, आज है कल नही रहेगी और यह वैभव भी नष्ट हो जायेगा। निस्सदेह कवि के ये विचार अत्यत प्रेरणा एव प्रोत्साहन प्रदान करने वाले हैं क्योकि कवि ने ससार को निस्सार, मिथ्या, क्षणभगुर अथवा असत्य नही कहा है, अपितु उसकी परिवर्तनशीलता की ओर ही सकेत किया है।

नैतिक व्यवस्था—भारतीय दर्शन मे नैतिक व्यवस्था पर सर्वाधिक बल दिया गया है। वहाँ पर इस व्यवस्था को 'ऋत' कहा गया है और ऋग्वेद मे इस 'ऋत' को सत्य से भी पहले उत्पन्न होता हुआ बतलाया गया है।[3] भारतीय मनीषियो ने किसी न किसी प्रकार इस ऋत' को मानव-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित माना है। इसके पीछे मानव-जीवन का वह विचार छिपा हुआ है, जिससे सदाचार, सद्भावनायें, सत्कार्य, सत्प्रेरणा आदि का जन्म होता है और जिनसे मानव असत्य मे हटकर सत्य मार्ग पर अग्रसर होता है। यही वह व्यवस्था है जिसके लिए भर्तृहरि ने 'न्यायपथ' कहा है और बताया है कि चाहे नीति निपुण व्यक्ति निन्दा करें या स्तुति करें, चाहे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा न हो, चाहे अभी मृत्यु हो अथवा बहुत काल के उपरान्त

---

१. कमल का दल भी हिमपात से, दलित हो पड़ता सबकाल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी, निगलता करता बहु क्लान्त है।४।२१

२. सुख जहाँ निज दिव्य स्वरूप से, विलसता करता कल-नृत्य था।
अहह सो अति सुदर सद्म भी। बच नहीं सकता दुख लेश से। ४।२३

३ ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—ऋग्वेद १०।१९०।१

हो, परन्तु धीर पुरुष न्याय-पथ से अपना पग कभी पीछे नहीं हटाते।[1] किन्तु यह नैतिक व्यवस्था अथवा ऋत या न्यायपथ है क्या ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि समाज में संतुलन स्थापित करने के लिये, सुव्यवस्था क़ायम रखने के लिये, जीवन को सभी प्रकार के संघर्षों से बचाने के लिए अथवा समाज का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए जिन कार्यों के करने की व्यवस्था की गई है अथवा जिन कार्यों के करने का निषेध किया गया है वे ही 'विधि' और 'निषेध' सम्बन्धी बातें इस नैतिक व्यवस्था के अंतर्गत आती है। 'प्रियप्रवास' में हरिऔध जी ने भी इस नैतिक व्यवस्था में विश्वास प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण एवं राधा के नैतिक आदर्श द्वारा मानव-जीवन को समुन्नत बनाने की सुदर प्रेरणा दी है। कवि ने यहाँ स्पष्ट बताया है कि एक मानव अपने जीवन को नैतिक व्यवस्था द्वारा ही उन्नत बना सकता है, आदर के योग्य बना सकता है और उसे श्रेष्ठ एवं सदाचार सम्पन्न करके विश्ववंद्य बना सकता है। उनके लिए कवि ने स्थान-स्थान पर संकेत दिये हैं और बताया है कि उसे शान्त और शिष्ट होकर जीवन व्यतीत करना चाहिए, सदैव मर्यादा का ध्यान रखना चाहिए, कभी कोई दुर्वृत्तता की बात मुख से नहीं निकालनी चाहिए और सदैव मुख से प्रिय वचन बोलने चाहिए।[2] उसे सदैव छोटे-बड़े सभी के हित का ध्यान रखना चाहिए। सभी के दुख में सहायक बनना चाहिए। बड़ों से सदैव विनम्रतापूर्वक मिलना चाहिए। कभी किसी की विरोधी बातें नहीं सुननी चाहिये। यदि कहीं कलह या शुष्क-विवाद छिड़ रहा हो, तो तुरन्त उसे शान्त करना चाहिए। यदि कोई बलवान किसी निर्बल को सताये तो उसका तिरस्कार करना चाहिए। सदैव रोगी, दुखी, आपद-ग्रस्त प्राणियों की सेवा करनी चाहिए इत्यादि।[3] इस नैतिक जीवन के व्यतीत करने में यदि अनेक कष्टों का सामना करना पड़े तो भी उनका सहर्ष सामना करते हुए अपने पथ से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। सदैव राधा और श्रीकृष्ण की भाँति लोक और समाज को सुखी बनाने के

---

१. निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा।— नीति शतक।

२. प्रियप्रवास ६।६२–६३

३. वही १२।८०–६०

लिए, उन्हें सब तरह से शान्ति एवं समृद्धि-सम्पन्न करने के लिये नीति-पथ से अथवा न्याय-पथ से कभी कदम पीछे नहीं हटाना चाहिए। सारा 'प्रियप्रवास' इसी नैतिकता से परिपूर्ण है। यहाँ पर कवि ने श्रीकृष्ण और गोपियो के प्रेम सम्बन्ध को भी नैतिक रूप देते हुए उसकी अत्यन्त सुन्दर व्याख्या की है। कवि ने लिखा है कि जिस तरह अनेक तारिकायें अपने निमल चन्द्रमा मे आसक्त रहती हैं, लाखो कमल कलियाँ एक सूर्य की प्रेमिकायें है, उसी तरह यदि विपुल बालायें एक श्रीकृष्ण मे अनुरक्त है, तो इसम विचित्रता ही क्या है ? क्योकि प्रेमी की गरिमा को तो केवल प्रेमी हृदय ही जान सकता है।[1] इस तरह कवि ने वासनात्मक प्रेम म भी नैतिक दृष्टि का समावेश करके जीवन के सभी क्षेत्रो मे नैतिक व्यवस्था को महत्व दिया है।

बधन का कारण—ससार में जीवो के बधन का कारण यहाँ अविद्या या अज्ञान माना गया है। भारतीय दार्शनिको का मत है कि प्राय अविद्या के कारण ही जीव जन्म-मरण के चक्कर मे पडता है, राग द्वेष मे लिप्त होता है, प्रमाद और मोह मे लीन होना है और नाना प्रकार के कुकर्म करता हुआ अधोगति को प्राप्त होता है। योगसूत्र मे अविद्या की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि अनित्य, अशुचि दु ख और अनात्मा को क्रमश नित्य, शुचि सुख तथा आत्मा समझ बैठना ही अविद्या है।[2] इसी अविद्या के कारण मानव अहकार के वशीभूत होकर स्वय को सभी का कर्त्ता समझ बैठता है, उसकी बुद्धि मे भ्रम भरा रहता है और वह प्रकृति के गुण एव कर्मो मे आसक्त होकर सदैव कर्म-बधन मे बँधा रहता है।[3] इस बधन की ओर सकेत करते हुए गीता मे लिखा है कि प्रकृति के सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण नामक तीन गुण होते हैं। इनमे से सतोगुण सुख मे लगाता है, रजोगुण कर्म मे लगाता है और तमोगुण ज्ञान को आवृत करके प्रमाद मे लगाता है। सतोगुण से मानव मे चेतनता और बोधशक्ति बढती है, रजोगुण से अशान्ति,

---

१. आसक्ता हैं विमल विधु को तारिकायें अनेकों।
हैं लाखों ही कमल-कलियाँ भानु को प्रेमिकायें।
जो बालायें विपुल हरि मे रक्त हैं चित्र क्या है ?
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है। १४।६६

२. अनित्याशुचि दु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
—योगसूत्र २।५

३ श्रीमद्भगवद्गीता ३।२७, २६

चंचलता एवं भोगों की लालसा जाग्रत होती है और रजोगुण से आसक्ति एवं अज्ञान की वृद्धि होती है।[१] परन्तु सारी अविद्या अथवा सारे बंधन का मूल कारण मोह या आसक्ति है जिससे काम, क्रोध, विस्मृति, राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, जो मानव को उदासीन नहीं रहने देती और जिसके छोड़ने पर ही मानव बंधन से मुक्त हो सकता है।[२] प्रियप्रवास में हरिऔधजी ने भी 'मोह' को सारे अनर्थों की जड़ बताया है और कहा है कि यह मोह ही प्राणी को नाना प्रकार के स्वार्थ एवं सुख की वासनाओं में लीन कर देता है, जिससे उसका चित्त आवेगों एवं ममत्व से परिपूर्ण हो जाता है।[३] इसी मोह के कारण नंद-यशोदा यहाँ श्रीकृष्ण के लिए रोते-खीझते हुए दिखाये गये हैं, इसी मोह के कारण गोप एवं गोपियाँ रातदिन रोती रहती हैं और इसी मोह के बारे मे "मैं मानूँगी अधिक मुझ में मोहमात्रा अभी है"[४] कहकर राधा भी दुःखी एवं बेचैन दिखाई देती हैं। इसी मोह के कारण सभी गोकुल के प्राणी जिस तरह व्यथित एवं बेचैन दिखाये गये हैं, उसी तरह यह मोह संसार के समस्त प्राणियों को व्यथित एवं बेचैन बनाता रहता है और ज्ञान को आवृत करके प्राणियों को अविद्या या अज्ञान के जाल में फँसाये रहता है। कवि ने 'प्रियप्रवास' में मोह या आसक्ति-जन्य वेदना का चित्र अंकित करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव को अविद्या में ग्रस्त करने वाला यह मोह ही है। इसी कारण उद्धव जी गोपियों को योग द्वारा भ्रमित मन को सम्हालने की सलाह देते हैं और बताते हैं कि वासना-मूर्तियों को देखकर तुम भ्रम और मोह में मत पड़ो और सम्पूर्ण स्वार्थों को जगतहित के लिए आनंद सहित त्याग दो। तब तुम्हारा सारा दुःख शान्त हो जायेगा और अनुपम शान्ति मिलेगी।[५] इस मोह को छोड़ने की शक्ति अन्य किसी व्रजवासी में तो दिखाई नहीं देती। परन्तु राधाजी पूर्णतया मोह को छोड़कर समत्व बुद्धि एवं सहृदयता से परिपूर्ण दिखाई देती हैं। इसी कारण कवि ने लिखा है कि जैसी मोहावरित तामसीरात व्रज मे छाई हुई थी, वैसे ही राधा उसमें कौमुदी के

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४
२. वही २।६१–६४
३. नाना स्वार्थो सरस-सुख की वासना-मध्य डूबा।
   आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता। १६।६३
४. प्रियप्रवास १६।१३०
५. वही १४।३६

तुल्य शोभा देती थी अर्थात् मोह या आसक्ति को छोड़कर ससार के कल्याण में लगी रहती थीं।[1] इस तरह कवि ने भी मोह या आसक्ति से उत्पन्न अविद्या या अज्ञान को ससार के बधन का कारण बताकर उसके परित्याग की सलाह दी है और ससार के समस्त जीवो के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

श्रेय के साधन—तदनतर कवि के वे विचार आते हैं, जिन्हे उसने मानव-कल्याण के लिए, ससार के श्रेय के लिए अथवा जगत्हित के लिए अत्यत आवश्यक समझा है। श्रेय और प्रेय दोनो शब्द उपनिषदों में आए हैं। कठोपनिषद् मे इन दोनो की ओर सकेत करते हुए बताया गया है कि धीर पुरुष तो भलीभाँति विचार करके अपने कल्याण के लिए 'श्रेय' को अपनता है और मूर्ख पुरुष लौकिक योग-क्षेत्र की इच्छा से भोगो के साधन रूप 'प्रेय' को अपनाया करता है।[2] इससे स्पष्ट है कि श्रेय से तात्पर्य उन कार्यों एव विचारो से है, जो अन्त मे कल्याणकारी होते हैं और प्रेय से तात्पर्य ऐसे कार्यों एव विचारो से है, जो भोगो की भाँति अन्त मे अमगलकारी एव कष्ट देने वाले होते हैं। इसीकारण श्रेय प्रारम्भ मे कटु एव अन्त मे सुखद होता है और प्रेय प्रारम्भ मे सुखद और अन्त मे कटु होता है। यही कारण है कि मनीषी विद्वान् अथवा क्रातदर्शी कवि सदैव ऐसे विचारो एव ऐसे कार्यों को जनता के सम्मुख रखना अधिक समीचीन समझते हैं, जिन्हें अपनाकर मानव कल्याण की ओर अग्रसर हो, श्रेय के अनुयायी बनें और प्रेय की ओर न मुडें अथवा भोगो मे लिप्त होकर सकट सहन न करे। महाकवि हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे कुछ ऐसे ही विचारो की ओर सकेत किये हैं, जिन्हे हम मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी समझते हैं और जो मानव के श्रेय के लिए साधन बन सकते हैं। उन विचारो में से कुछ इस प्रकार हैं —

(१) **निष्काम कर्म**—हरिऔधजी ने सर्वाधिक बल ऐसे सत्कार्यों पर दिया है, जो सभी प्रकार की कामनाओ से रहित होकर किये जाते हैं। ऐसे

---

१ जैसो मोहावरित व्रज मे तामसी-रात आई।
वैसे ही वे लसित उसमें कौमुदी के समा थीं। १७।५०

२ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस् तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीर।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥
—कठोपनिषद् १।२।२

कार्यों को ही श्रीमद्भगवद्गीता में 'निष्काम कर्मयोग' कहा गया है। वहाँ पर भगवान् कृष्ण ने सभी प्रकार की ग्रासक्ति या कामनाग्रों को त्यागकर किये जाने वाले कर्मों को ही अत्यधिक महान् एवं उत्कृष्ट बताया है और अर्जुन से कहा है कि "हे धनंजय ! ग्रासक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और ग्रसिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित होता हुग्रा कर्मों को कर, यह समत्व भाव ही योग कहा जाता है।"[1] गीता के ऐसे निष्काम-कर्म-योग सम्बन्धी समत्व भाव वाले कार्यों को हरिग्रौधजी ने अत्यधिक महत्व दिया है और अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि वे एक योगी की ही भाँति सम्पूर्ण लिप्साग्रों से भरी हुई सैकड़ों लालसाग्रों का दमन करते हुए सदैव निष्काम भाव से जगत-हित सम्बन्धी कार्यों में लीन रहते है। वे सर्व प्रथम अपने कर्त्तव्य की मीमांसा करते है, फिर वे धीरता के साथ उसमें लीन हो जाते है और किसी वांछा के विवश होकर अथवा किसी वासना से लिप्त होकर वे कभी अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते। यदि गुरुजनों की सेवा करते समय उन्हें किसी की आर्त्तवाणी सुनाई देती है, तो वे बड़ों की सेवा छोड़कर पहले उसे शरण देते हैं। ऐसे ही यदि उन्हें कहीं आग लगी हुई दिखाई देती है, तो सारे कार्य छोड़कर पहले उसे बुझाने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरह उन्हें यदि उनके किसी प्रिय अथवा अन्य किसी भी प्राणी को कोई दुष्ट कहीं सताता हुआ दिखाई देता है, तो सर्वप्रथम वे अपनी वेदनाओं को भूलकर उसे मुक्त करने तथा दुष्ट को दंड देने का कार्य करते हैं। इस प्रकार वे सदैव निर्लिप्त होकर जनता की भलाई के लिए ऐसे-ऐसे कार्य करते रहते हैं, जिनमें सदैव लोक का लाभ ही निहित रहता है और उनका अपना कोई लाभ या स्वार्थ निहित नहीं होता।[2] कवि के इस वर्णन में निष्काम कर्म की महत्ता को अत्यन्त सजीवता के साथ अंकित किया गया है। इस वर्णन का उद्देश्य यही है कि मानव इस 'निष्काम कर्म' की भावना को अपनाकर श्रीकृष्ण की भाँति अपने जीवन को भी श्रेयस्कर बनाने की चेष्टा करे और सर्वत्र जन-हित को ही प्रमुखता दी जाय। इसीकारण कवि ने निस्स्वार्थ एवं निष्काम लोकसेवा को 'भव के श्रेय का मर्म' कहा है[3] और इसी

१. योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ।। २४।८

२. प्रियप्रवास १४।२१-३०

३. वही १४।३५

निस्स्वार्थ भूतहित अथवा निष्काम भाव से की हुई लोकसेवा के द्वारा मानव को विश्ववद्य श्रीकृष्ण की भाँति ही ससार मे पूज्यभाव, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करता हुआ बतलाया है।[१] अतएव मानव की उन्नति एव प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके कल्याण के लिए 'निष्कामकर्म' सबधी भावना अत्यत अपेक्षित है।

(२) सात्विक जीवन—जीवन की सफलता सदैव सरल एव शुचि पूर्ण जीवन व्यतीत करने मे ही है और सात्विक जीवन से तात्पर्य भी ऐसे ही जीवन मे है, जो सम्पूर्ण छल छद्मो से परे सरलता शुचिता पवित्रता, सादगी, सौम्यता, उदारता आदि से परिपूर्ण हो। ऐसा जीवन सदैव सतोष सुख एव शान्ति से भरा रहता है, उसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हलचल पैदा नही करते और वह सदैव सयम नियम से अनुशासित होने के कारण समाज के लिए भी कल्याणकारी होता है। इसके विपरीत नाना प्रकार के भोगो, विविध वासनाओ मलिनताओ एव क्रूरताओं से भरा हुआ असात्विक जीवन न केवल व्यक्ति के लिए ही हानिकारक होता है, अपितु समाज एव राष्ट्र के लिये भी सदैव अहितकर माना गया है। भारतीय मनीषियों ने इसी कारण सात्विक जीवन को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। श्रीमद्भगवद् गीता में सात्त्विक जीवन व्यतीत करने के लिय सात्विक आहार, सात्विक यज्ञ, सात्विक तप, सात्विकदान, सात्विक त्याग सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति, सात्विक सुख आदि का बडा ही विशद वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि यदि मानव सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढाने वाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को रुचिकर आहारो का प्रयोग करना चाहिए।[२] जो व्यक्ति सात्विक यज्ञ करना चाहते हैं उनके लिए बताया गया है कि मन का समाधान करके फल की तनिक भी इच्छा न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करना चाहिए।[३] इसी तरह सात्विकदान के बारे मे बताया गया है कि जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर किसी प्रकार का प्रत्युपकार करने की अभिलाषा न रखकर तथा दान देना ही है ऐसा भाव मन

---

१. प्रियप्रवास १२।९०
२ श्रीमद्भगवद्गीता १७।८
३ वही १७।११

में लाकर दिया जाता है, वही दान सात्विक कहलाता है।[१] ऐसे ही यह कर्म करना मेरा कर्त्तव्य है ऐसा समझकर जो शास्त्रोक्त विधि से निश्चित किया हुआ कर्म आसक्ति एवं फल को त्यागकर किया जाता है उसी को सात्विक त्याग बताया गया है।[२] ऐसे ही राग-द्वेष को छोड़कर किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न करके तथा अहंभाव से रहित होकर जो नियत कर्म किया जाता है, वही सात्विक कर्म कहलाता है[३] और ऐसे ही कर्म करने वाला सात्विक कर्त्ता माना गया है।[४] साथ ही ऐसी बुद्धि को सात्विक बुद्धि माना गया है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बंधन और मोक्ष को तत्वतः जानती है।[५] इसी तरह गीता में सात्विक धारणा में अव्यभिचारी भाव की प्रधानता बताते हुए और सात्विक सुख में पहले विष के सदृश एवं पीछे अमृत के सदृश्य दिखाई देने वाले सुख का रूप समझाते हुए दोनों की व्याख्यायें की गई हैं।[६] इन समस्त विवरणों का अनुशीलन करने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए मानव को फल और कामना रहित होकर अपने नियत कार्य को बड़ी लगन एवं अध्यवसाय के साथ करना चाहिए और कभी राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होना चाहिए।

हरिऔधजी ने भी प्रियप्रवास में आरम्भ से ही श्रीकृष्ण के ऐसे जीवन को चित्रित किया है, जिसमें राग-द्वेष से परे परोपकार एवं लोकहित की प्रधानता है, जो कभी तामसी एवं राजसी प्रवृत्तियों को अपने पास तक नहीं आने देते और जो सदैव व्यक्तिगत सुख एवं भोगों की लालसाओं को छोड़कर सर्व-भूतोपकार में लगे रहते हैं। कवि को इसी कारण लिखना पड़ा है कि यद्यपि उनकी अवस्था अभी थोड़ी ही है, तो भी वे शुभ कार्यों में नितान्त रत रहते हैं और उनके इस श्रेष्ठ स्वभाव को देखकर यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता १७।२०
२. वही १८।६
३. वही १८।२३
४. वही १८।२६
५. वही १८।३०
६. वही १८।३३, १८।३७

वे महात्मा हैं।[१] प्राय विद्या, सुमगति, सुनीति एव शिक्षा तो क्रमिक विकास पर निर्भर हैं अर्थात् जो जितना चाहता है, उतना ही इन्हें प्राप्त कर सकता है, परन्तु पृथ्वी पर अच्छे या बुरे और मलिन या दिव्य स्वभाव की प्राप्ति तो निसर्ग सिद्ध है अर्थात् ईश्वर की महती अनुकम्पा अथवा प्राकृतिक अज्ञात शक्तियों की अनुकूलता से ही मानव दिव्य स्वभाव को प्राप्त करता है और उनकी प्रतिकूलता के कारण ही वह मलिन स्वभाव वाला बन जाता है।[२] यद्यपि कवि के इस कथन मे पर्याप्त सत्य विद्यमान है और कहा भी गया है कि 'स्वभावो दुरतिक्रम" अर्थात् स्वभाव कभी बदलता नही, फिर भी यदि मानव चाहे और प्रयत्न करे तो वह अपने बुरे स्वभाव को बदल सकता है। कवि ने श्रीकृष्ण के लोकपावन एवं दिव्यचरित्र का वर्णन करके यही सकेत किया है कि उनकी तरह आचरण करता हुआ व्यक्ति निस्सदेह शुचिता पवित्रता, उदारता, राग-द्वेष-हीनता आदि से परिपूर्ण होकर सात्विक एव शुभ कर्मों मे लीन हो सकता है और जीवन के अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकता है। इस तरह कवि ने सम्पूर्ण काव्य मे सात्विकता को महत्व देते हुए जिस तरह श्रीकृष्ण के जीवन को अकित किया है वैसे ही राधा भी सात्विकता की मूर्ति बनी हुई है। वे आजीवन कौमार व्रत का पालन करती हुई सात्विक जीवन व्यतीत करती हैं। उनमे भी यहाँ सरलता, शुचिता, पवित्रता, भोगो के प्रति अनासक्ति राग-द्वेष हीनता एव अपने करणीय कर्मों के प्रति अत्यधिक रुचि विद्यमान है। अत कवि ने उक्त दोनो लोकपावन चरित्रो के द्वारा सात्विक जीवन के महत्व को प्रदर्शित किया है और बताया है कि जीवन मे परम सुख एव परम शान्ति की प्राप्ति सात्विक जीवन द्वारा ही हो सकती है।

---

१ थोड़ी भली प्रविच है उनकी अवस्था।
तो भी नितान्त रत वे शुभ-कर्म में हैं।
ऐसा विलोक वर बोध स्वभाव से ही।
होता सु सिद्ध यह है वह हैं महात्मा। १२।६१

२. विद्या सुसगति समस्त सु-नीति शिक्षा।
ये तो विकास पर की अधिकारिणी हैं।
अच्छा-बुरा मलिन दिव्य स्वभाव भू में।
पाता निसर्ग कर से नर सर्वदा है। १२।६२

(३) उच्च विचार—मानव-जीवन अपने विचारों के द्वारा ही निर्मित है। प्राय: जैसे जिसके विचार होते हैं, वैसा ही वह बनता है। संसार में यह देखा गया है कि एक बच्चा नीच मनोवृत्ति के कारण ही आगे चलकर अत्यंत नृशंस एवं क्रूर बन जाता है और उच्च मनोवृत्ति वाला बालक बड़ा होने पर सदैव उदार एवं महान् व्यक्ति बनता है। इन विचारों का सम्बन्ध जीवन से इतना घनिष्ठ है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया विचारों के आधार पर ही होती है। इसी कारण भारतवर्ष में पहले बचपन से ही बालक की चित्तवृत्तियों का शोधन करने के लिए अथवा उनके विचारों को समुन्नत बनाने के लिए गुरुकुल की शिक्षा को महत्व दिया जाता था। छोटी अवस्था में ही बालक गुरु के आश्रम में रहकर संसार के सम्पूर्ण मोह-माया एवं भोगों के वातावरण से दूर रह कर त्याग, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, दया, आत्मसंयम, परोपकार आदि के विचारों को अनायास ही सीख लेता था। गुरुकुल के अनुशासन में रहकर उसे संयमित जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ जाती थी और आज्ञापालन का विशिष्ट गुण उसकी नस-नस में व्याप्त हो जाता था। महाभारत में आई हुई धौम्यऋषि के शिष्य आरुणि उद्दालक की कथा प्रसिद्ध ही है कि किस तरह गुरु के आश्रम में रहकर उद्दालक वेदशास्त्रों के पूर्ण ज्ञान के साथ-साथ आत्मसंयम, आज्ञापालन, तत्परता, कार्य के प्रति तीव्र लगन, सहिष्णुता आदि उन्नत गुणों को भी सीख गया था। इसका कारण यह था कि गुरुकुल या गुरु के आश्रम में एक शिष्य को सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से प्रमाद न करना, सत्य कार्यों में प्रमाद न करना, धर्म से प्रमाद न करना, कल्याण-कार्य आदि से प्रमाद न करने की जो शिक्षा मिलती थी और माता, पिता, गुरु एवं अतिथि की सेवा मान-सम्मान आदि के बारे में जो विचार पुष्ट हो जाते थे, उनका यह प्रभाव पड़ता था कि वह बालक ग्रहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी उन उच्च विचारों से कभी विमुख नहीं होता था। गुरु की सेवा में रहकर जब एक शिष्य इस तरह उच्च विचारों को ग्रहण कर लेता था, तब फिर यह संभव नहीं था कि वह आगामी जीवन में उन्हें भूल सके अथवा किसी और प्रकार का जीवन व्यतीत कर सके। इसके लिए एक कारण यह भी था कि उस शिक्षा-दीक्षा में ही ऐसे विचार भरे रहते थे, जिनके अनुसार प्राय: एक आचार्य अपने शिष्यों से कहा करता था कि माता की सेवा करने वाले बनो। पिता की सेवा करने वाले बनो। आचार्य की सेवा करने वाले बनो। अतिथि की सेवा करने वाले बनो। जो-जो बुरे कार्य हैं तुम्हें उनका अनुकरण नहीं करने चाहिए, परन्तु जो-जो सुंदर कार्य

हैं अथवा जो-जो सुंदर आचरण हैं, उनको तुम्हें अवश्य अपनाना चाहिए।[1] इन विचारों का यह प्रभाव पड़ता था कि वह शिक्षित विद्यार्थी जीवन में कभी किसी प्रकार के दुराचार एवं बुरे कार्यों में लिप्त नहीं होता था और सदैव उच्चाशय होकर उन्नत कार्यों में लीन रहता था, न्यायमार्ग पर चलता था, सत्कार्यों को करता हुआ अन्य व्यक्तियों को भी सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था और ऐसे ही व्यक्तियों से देश एवं समाज गौरव को प्राप्त होता था।

हरिऔधजी ने भी इसी तरह उन्नत विचारों को जीवन के लिए अत्यावश्यक माना है और श्रीकृष्ण के जीवन चरित्र के रूप में मानवमात्र के लिए काव्यात्मक ढंग से उनका चित्रण किया है। साथ ही आपने यह बताया है कि उन्नत आशय एवं उच्च विचार वाले व्यक्ति ही लोभ-मोह, माया, काम, क्रोध आदि को जीतकर सारे समाज में सुख और शान्ति की धारा बहाने का कार्य करते हैं, पापियों, दुष्टों एवं दुरात्माओं से समाज की रक्षा करते हैं और पद-पद पर संकट में ग्रस्त जर्जर समाज को आनंद एवं उल्लास पूर्ण बनाकर सर्वत्र मानवता का प्रचार किया करते हैं। उच्चाशय एवं उच्चविचार वालों की विशेषता ही यह होती है कि वे मोह या वासना के शिकार होकर समाज-सेवा या विश्व-शान्ति के कार्यों से विमुख नहीं होते, अपितु श्रीकृष्ण की भाँति पारिवारिक स्नेह, प्रियजनों का उत्कट प्रेम, सखाओं की प्रीति आदि की परवा न करके उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहते हैं। उनके सम्मुख किसी एक परिवार का सुख या आनंद नहीं रहता, वरन् वे सम्पूर्ण समाज एवं सम्पूर्ण विश्व में शान्ति एवं सुख की स्थापना करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अपने इसी उद्देश्य में लीन रहने के कारण ही श्रीकृष्ण को शोभाशालिनी व्रजभूमि, प्रेमास्पदा गोपिकायें, प्रीति प्रतीति की साकार प्रतिमा माता यशोदा, वात्सल्यशाला पिता नंद, प्यारे गोपकुमार, *प्रेम-मणि रूप गोपीगण,* प्रेम की साकारमूर्ति दिव्यांगना राधा आदि को छोड़कर मथुरा जाना पड़ा था[2] और अपने इन्हीं उच्च विचारों के कारण वे व्रजभूमि के प्राणियों के प्रेम से व्यथित तो होते रहते थे, परन्तु मथुरा से लौटकर पुनः गोकुल नहीं आये। क्योंकि वे जानते थे कि स्थानीय मोह, गंभीर स्नेह, प्रगाढ़ प्रेम और

---

१ मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

२ प्रियप्रवास ६।४

चित्ताकर्षक सौंदर्य उनके मार्ग के बाधक बनकर उन्हें कर्त्तव्य-पथ से च्युत कर सकते थे। कवि ने इसी तरह सम्पूर्ण काव्य में उच्च विचारों का समावेश करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि श्रीकृष्ण की भाँति एक साधारण व्यक्ति भी पुरुषोत्तम बन सकता है। परन्तु उसके लिए अपेक्षित है कि वह भोगों की लालसा, सम्पूर्ण स्वार्थमयी कामनायें, लिप्सायें आदि छोड़कर सभी छोटे-बड़ों के हित में लीन रहे, दुःख के दिनों में दूसरों की सहायता करे, अत्यंत प्यार के साथ सभी से मिले, बड़ों के प्रति विनम्रता का वर्त्ताव करे, सभी से शिष्टतापूर्वक बातें करे, कभी भूलकर भी किसी को अप्रिय लगने वाली बातें न करे, दूसरों के विरोध की बातों में रुचि न दिखाये, कभी भूलकर भी दूसरों पर अप्रसन्नता प्रकट न करे, सदैव बराबर वालों से भी प्रीतिपूर्वक मिले, अपने से छोटों को प्रसन्न बनाने की चेष्टा करे और सदैव लोक-हित या लोक के लाभ को महत्व देता हुआ अपने वैयक्तिक लाभ या वैयक्तिक सुख की चिन्ता न करे।[1] कवि के विचार से उच्चविचारों में लीन रहने वाला उत्तम व्यक्ति वही है जो आत्मीय सुख की परवा न करके अपनी समस्त लिप्साओं, भोगों की कामनाओं एवं मधुर लालसाओं को जगत-हित के लिये उत्सर्ग कर देता है, जो किसी प्रकार के स्वार्थ या लोभ के वशीभूत न होकर सदैव लोक-सेवा में लगा रहता है, जैसे एक मात्र सर्वभूतोपकार ही प्रिय है और जो समष्टि के लिये व्यष्टि-बलिदान को महत्वपूर्ण समझता है।[2] कवि का दृढ़ मत है कि उच्चविचारों के उदय होते ही मानव के हृदय में लोकहित एवं विश्वप्रेम के भाव जाग्रत हो जाते हैं, वह फिर संकीर्णता को छोड़कर उदारता को, भोगों को छोड़कर त्याग को और वैयक्तिकसुख की तुच्छ लालसाओं को छोड़कर लोकसेवा को अपना लेता है। अतएव कवि ने मानव-जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए, उसे भौतिक पतन से आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने के लिये तथा श्रेयस्कर बनाने के लिए उच्च विचारों को अपनाना नितान्त आवश्यक बताया है।

(४) आत्मोत्सर्ग—भारतीय मनीषियों ने अत्यंत प्राचीन काल से "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के महामंत्र का उद्घोष करते हुए यह संकेत किया है कि यदि असत से सत की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, कष्टों से सुखों की ओर तथा अशान्ति से शान्ति की ओर

---

१. प्रियप्रवास १२।७६-८४

२. वही १६।४०-४६

बढ़ना चाहते हो, तो सभी प्राणियों को अपने समान समझो और अपनी आत्मा को ही चराचर जगत में व्याप्त देखते हुए संसार के प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए, उन्हें शान्ति एवं सुख प्रदान करने के लिए अथवा उनको भी अपने समान आनन्दमग्न बनाने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने की चेष्टा करो। 'आत्मोत्सर्ग' का अर्थ ही यह है कि हम अपना कर्तव्य समझ कर निस्वार्थभाव से दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करें तथा पर के लिए 'स्व' का परित्याग करें। भारतीय मनीषियों ने 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु' कहकर बताया है कि शरीर रथ है और इसके चलाने वाला सारथी आत्मा है। शरीर को आत्मा की सवारी नहीं करनी चाहिए, अपितु आत्मा को शरीर की सवारी करनी चाहिए। जो बात शरीर के साथ है, वही सम्पूर्ण जगत के साथ भी है अर्थात् आत्मा का जगत की सवारी करनी चाहिए *न कि जगत आत्मा की सवारी* करने लगे और मनुष्य सब कुछ भूल कर जगत के बोझ से लद जाय। उसे तो स्वार्थ त्याग करके जगत का भोग करते हुए भी जगत के भोगों से बोझ को अपने ऊपर नहीं आने देना चाहिए, *अपितु सारथि की भाँति इन्द्रियों का दमन करके अपना सर्वस्व जगत के* लिए अर्पण कर देना चाहिए। इसी बात को समझाने के लिए हमारे यहाँ उपनिषदों में कहा गया है—'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति' अर्थात् जो व्यक्ति प्राणिमात्र को विश्वात्मा में पिरोये हुए मनकों की तरह देखता है, और हर प्राणी में उसके शरीर को नहीं, परन्तु उसके आत्मतत्व को ही यथार्थ समझता है, उसी को वास्तविक ज्ञान है। जैसा मैं हूँ, वैसे ही दूसरे हैं, सभी में एक आत्मतत्व ही विकास पा रहा है मेरे भले में सबका भला, सबके भले में मेरा भला है—यह है भारतीय संस्कृति का आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी दृष्टिकोण जिसकी आज नितांत आवश्यकता है।[1] यहाँ यह स्पष्ट समझाया गया है कि स्वार्थ को नहीं, परार्थ को अपनाने का प्रयत्न करो, क्योंकि स्वार्थ से तो स्वार्थ का ही जन्म होता है, और उससे सच्चे आत्मतत्व का विकास नहीं होता। सच्चे आत्मतत्व का विकास उसी समय होगा जब स्वार्थ परार्थ को जन्म देने लगे। इसी के लिए यहाँ संसार को अपना ही रूप मानकर उसकी सेवा-सुश्रूषा, उसके लिए सब कुछ त्याग, उसकी उन्नति के लिए सारे प्रयत्न आदि करने पर जोर *दिया गया है।*

---

१ आर्य-संस्कृति के मूल तत्व, पृ० १११

हरिऔधजी ने भी मानव-जीवन के इस मार्मिक तत्व को भली प्रकार समझकर 'प्रियप्रवास' में उसे महत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि संसार में नाना प्रकार के सुख और भोगों की लालसायें अत्यंत प्रिय और मधुर होती हैं, परन्तु जगत-हित की लिप्सा उनसे भी कहीं अधिक सुंदर होती है, क्योंकि ऐसी इच्छा आत्मा को मुक्ति प्रदान करती है और उससे मानव के हृदय में आत्मोत्सर्ग की अभिलाषा और भी विशदता के साथ जाग्रत होती है। संसार में प्रायः देखा जाता है कि बहुत से प्राणी मुक्ति की कामना से तपस्या किया करते हैं, परन्तु उन्हें हम आत्मोसर्ग करने वाला नहीं कह सकते, वे तो आत्मार्थी होते हैं। आत्मोत्सर्ग करने वाले सच्चे आत्म त्यागी वे होते हैं जो सभी प्रकार के राग-द्वेष से रहित होकर जगत के हित एवं लोकसेवा में लगे रहते हैं।[1] वैसे तो सारा जगत मोह के आवरण से ढका हुआ है। सभी प्राणी नाना प्रकार के स्वार्थों एवं वासनाओं में लीन होकर आवेग एवं ममत्व से परिपूर्ण मोह में मग्न रहे आते हैं, जिससे जगत में सर्वत्र संकट ही संकट छाये रहते हैं और स्वार्थपरता, अशुचिता, असात्विकता, वासनात्मक प्रेम एवं कामवासना की ही प्रबलता दिखाई देती है। परन्तु जो व्यक्ति निष्काम भाव से भरा हुआ है, जो प्रणय की पवित्र मूर्ति बन गया है और जो सात्विक जीवन व्यतीत करता है, उसमें आत्मोत्सर्ग की भावना पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है।[2] कवि ने इस आत्मोत्सर्ग के विकास का वर्णन करते हुए बड़े ही सुंदर ढंग से समझाया है कि मानव-हृदय में किस तरह उत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और फिर इस भावना के जाग्रत होते ही उसके आचरणों में किस तरह परिवर्तन आ जाता है। 'प्रियप्रवास' में बताया गया है कि सर्वप्रथम सद्वृत्तियों के द्वारा हृदय में श्रेष्ठ गुणों का समावेश होता है। इसी सद्गुण के कारण मानव-हृदय में प्राणिमात्र के लिए एक आसंग-लिप्सा जाग्रत होती है। तदुपरान्त संसर्ग के कारण उस हृदय में सहृदयता उत्पन्न होती है और फिर वह आत्म-सुधि खोकर आत्मोत्सर्गता में लीन हो जाता है।[1] इसके अनन्तर जब

---

१. प्रियप्रवास १६।४१-४२

२. निष्कामी है, प्रणय-शुचिता-मूर्ति है, सात्वकी है।
   होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म-उत्सर्ग की है। १६।६३

१. आदी होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति द्वारा।
   हो जाती है उदित उर में फेर आसंग-लिप्सा।
   होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है।
   पीछे खो आत्म-सुधि लसती आत्म-उत्सर्गता है। १६।६७

उसके हृदय मे आत्मोत्सर्ग की भावना जग जाती है तब उसे सम्पूर्ण पदार्थों मे अपना ही स्वरूप झलकने लगता है और सभी पदार्थ अपनी ही आत्मा के अग दिखाई देने लगते हैं। फिर वह दूसरो की सेवा-सुश्रूषा को भी अपनी ही सेवा-सुश्रूषा समझने लगता है और दूसरो के लिये किये गये त्याग को भी अपने ही लिये किया गया त्याग जानने लगता है। कवि ने इस तरह 'प्रियप्रवास' मे आत्मोत्सर्ग के महत्व को प्रदर्शित करते हुए मानवो को स्वार्थ के सकुचित दायरे से निकल कर परार्थ के जिस विशाल क्षेत्र मे पदार्पण करने की प्रेरणा प्रदान की है, वह अत्यत उपयुक्त एव समीचीन है तथा मानव मात्र का कल्याण करने वाली है।

(५) विश्वबधुत्व—मानव अहकार का पुतला है। वह इस अहकार के वशीभूत होकर ही घर, परिवार, सभा, समाज, राष्ट्र, देश आदि के निर्माण मे तत्पर हुआ है और इसी के परिणामस्वरूप उसने अपने सुख एव आनद के लिए नाना प्रकार के साधनो का आविष्कार किया है। आज विश्व मे जितने कुटुम्ब, बिरादरी, जाति, सम्प्रदाय आदि दिखाई देते हैं, वे भी मानव के अहकार से ही निर्मित हैं। इसीलिए महाभारत मे कहा गया है कि समूचे कुल की भलाई के लिए एक मनुष्य को त्याग दे, गाँव के हित के लिये एक परिवार को छोड दे, देश की भलाई के लिए एक गाँव को छोड दे और आत्मा के उद्धार के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का ही परित्याग करे।[1] उक्त कथन में क्रमश अहकार को त्यागकर मानव को विश्वबधुत्व की भावना को ग्रहण करने की ओर सकेत किया गया है और बताया गया है कि आत्मीयता अथवा आत्मा का प्रसार ही जगत मे सर्वश्रेष्ठ है। उसके लिये यदि हमे अपना सर्वस्व त्याग करना पडता है, तो उससे भी कभी पराङ्मुख नही होना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए समझाया है कि 'किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्चकोटि का है धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमे धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप मे दिखाई पडता है।[2] शुक्लजी ने भी

---

१ त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। सभापर्व, ६२।११

२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २८३

यहां विश्वधर्म को महत्व प्रदान करते हुए यह संकेत किया है कि मानव की श्रेष्ठता विश्वधर्म को ग्रहण करने में ही है. जैसे महाभारत में श्रात्मोद्धार के लिए सर्वस्व त्यागकर विश्वमय होने की श्रावश्यकता है, वैसे ही विश्वधर्म के लिए मानव को विश्वबंधुत्व या विश्वप्रेम में लीन होना श्रावश्यक है। बिना विश्व-प्रेम को श्रपनाये हुए वह श्रहं के संकुचित दायरे से नहीं निकल सकता श्रौर न वह बिरादरी, कुटुम्ब, जाति, देश के सीमित विचारों को ही छोड़ सकता है। भारत के प्राचीन ऋषियों ने इसी विश्व-प्रेम की भावना को जाग्रत करने के लिये यहां श्रारम्भ से ही मानव-मस्तिष्क में ऐसे विचार भरने का प्रयत्न किया था, जिनमें सर्वत्र यह गूंज सुनाई पड़ती थी कि "हम सभी सुखी रहें, सभी नीरोग रहें, सभी कल्याण के दर्शन करें श्रौर किसी को भी कोई दुःख प्राप्त न हो।"[१] इन विचारों में स्पष्ट ही विश्वप्रेम की घोषणा सुनाई पड़ती है। इतना ही नहीं भारत के मनीषी कवियों ने इसी विश्व-बंधुत्व को जाग्रत करने के लिये लिखा है कि "यह मेरा है, यह पराया है" ऐसी तुच्छ भावना उन लघुचेतना वाले व्यक्तियों के हृदय में ही उठा करती है जिनकी दृष्टि संकुचित होती है, परन्तु जो उदार चरित्र वाले महान् व्यक्ति होते हैं वे तो सम्पूर्ण वसुधा को एक कुटुम्ब मानते हैं।"[२]

हरिश्रौधजी ने 'प्रियप्रवास' में भी इसी विश्वप्रेम एवं वसुधैव कुटुम्बकम् को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। यहां कवि ने श्रीकृष्ण तथा राधा के लोकपावन चरित्रों द्वारा यह स्पष्ट दिखाया है कि वे दोनों ही प्राणी परिवार, कुटुम्ब, बिरादरी, जाति, समाज, वर्ग श्रादि की संकुचित इकाई से निकलकर श्रपने 'श्रहं' को 'इदं' में मिला देते हैं श्रौर इस जगत के कल्याण के लिये श्रपने व्यक्तिगत सुख, श्रानन्द एवं भोग श्रादि की परवा न करके सम्पूर्ण समाज एवं सम्पूर्ण विश्व के हित में लग जाते हैं। यह विश्व प्रेम श्रीकृष्ण को तो श्रपने प्रियजन, परिजन एवं प्राणों से भी श्रधिक प्रिय राधा तक को छोड़ने के लिए बाध्य कर देता है श्रौर इसी विश्वप्रेम के वशीभूत होकर राधा श्रपने प्राणों से भी श्रधिक प्रिय श्रीकृष्ण को छोड़ते हुए तनिक भी संकोच नहीं करती

---

१. सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुखमाग्भवेत।

२. श्रयंनिजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

तथा प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहें न आवें'[1] कहती हुई एक ऐसे आत्म-संतोष मे निमग्न दिखाई देती है, जो उसे विश्वधर्म का अनुयायी बना देता है और जिसके कारण वह सम्पूर्ण जगत को अपना ही कुटुम्ब समझने लगती है। यह विश्व प्रेम बडा ही अनुपम एव महान् है। इसके उदय होते ही मानव असाधारण गुणो को हृदय मे स्थान देता हुआ ससार के सम्पूर्ण पदार्थों मे अपना ही रूप देखने लगता है, सभी को अपना समझने लगता है और उसमे आत्मीयता इतनी अधिक भर जाती है कि ससार के प्राणियो की सेवा-सुश्रूषा किसी अन्य की सेवा नही ज्ञात होती, अपितु दूसरो का भी दुख अपना ही जान पडता है दूसरो की कठिनाइयाँ अपनी जान पडती हैं और वह सच्चे हृदय से दीन दुखियो के कष्टो का निवारण करने मे ही सच्चे आनन्द का अनुभव करने लगता है।[2] हरिऔधजी के इस विश्वप्रेम एव विश्वबन्धुत्व का स्वर 'प्रियप्रवास' मे इतना अधिक व्याप्त है कि पक्ति-पक्ति मे से उसकी मधुर गूँज सुनाई पडती है। यहाँ कवि ने विश्व बधुत्व का निरूपण इस उद्देश्य से किया है कि आधुनिक भ्रमित मानव इस विचारधारा को अपनाकर इस 'मैं-मोर', *'तू-तोर' अथवा 'अपने-पराये' की सकुचित भूमि को छोडकर कुछ उन्नत एव* उच्च भूमि मे पहुँचने का प्रयत्न करे और जगत के द्वन्द्वो से मुक्त होकर प्राणियो के कल्याण कार्य मे अग्रसर हो सके। अतएव प्रियप्रवास मे विश्व-बन्धुत्व का निरूपण मानव-कल्याण के साधनरूप मे ही हुआ है और उसे अपनाकर निस्सदेह मानव परमसुख एव परमशान्ति को प्राप्त कर सकता है।

(६) परोपकार—ससार का प्रत्येक प्राणी 'अहं' मे लीन होने के कारण सदैव अपने सुख, अपने आनद, अपनी शान्ति, *अपनी प्रसन्नता आदि* के बारे मे ही सोचा करता है। वह दूसरो के सुख, शान्ति आनद आदि के बारे मे बहुत कम सोचता है। जानवरो मे तो यह ममत्व की भावना और भी अधिक होती है। परन्तु कुछ जानवर ऐसे भी होते हैं जिनमे दूसरा की भलाई करने का स्वभाव निसर्ग सिद्ध होता है। फिर भी मानव जानवरो से अधिक बुद्धि-सम्पन्न है। इसी कारण वह अपने और पराये के बारे में अधिक सोचता-विचरता है। किन्तु भारतीय जीवन मे ममत्व अथवा अपने ही अपने बारे मे एक मात्र सोचने को अधिक महत्व नहीं दिया गया है। यहा अपनी अपेक्षा दूसरा के हित या दूसरो के उपकार करने की ओर आरम्भ से ही आग्रह किया

---

१. प्रियप्रवास १६।६८

२. प्रियप्रवास १६।१०४-१०५, १७।२६-४७।

गया है। मेघ, फल वाले वृक्ष, नदी, सरोवर आदि के उदाहरणों द्वारा प्रायः यह समझाया गया है कि जिस तरह नदी, मेघ आदि दूसरों के हित के लिए ही सारा कार्य किया करते हैं, उसी तरह मानवों को भी अपनी अपेक्षा दूसरों के हित का अधिक ध्यान रखना चाहिए। जैसा कि वहाँ कहा भी गया है कि नदियाँ कभी अपने जल का पान स्वयं नहीं करतीं, वृक्ष भी अपने फलों को स्वयं नहीं खाते, और मेघ भी अपने हित के लिए ही पृथ्वी पर वर्षा नहीं करते, परन्तु दूसरों का उपकार करने के लिए उक्त सभी कार्य करते हैं। अतएव परोपकार ही सज्जनों की विभूति है।'[1] मनीषी भर्तृहरि ने भी अपने नीति-शतक में इसीलिए लिखा है कि 'कानों की शोभा स्वर्णकुंडलों से नहीं होती, अपितु सच्छास्त्रों के श्रवण से होती है। हाथों की शोभा स्वर्ण-कंकण के पहनने से नहीं होती, अपितु दान करने से होती है। इसी तरह शरीर की शोभा भी चन्दन आदि के लेप द्वारा नहीं होती, अपितु दीन-हीन प्राणियों के हेतु परोपकार करने से होती है।'[2] अतएव इसी परोपकार का महत्व घोषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि 'अठारह पुराणों में महर्षि व्यास ने केवल दो ही बातें बताई हैं कि परोपकार पुण्यकार्य है और दूसरों को पीड़ा देना पाप है।'[3] इस तरह भारत के मनीषियों ने परोपकार के महत्व को अत्यंत तीव्रता के साथ अंकित किया है।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' में भी इस परोपकार की भावना को जन-कल्याण के लिये अत्यंत उपादेय सिद्ध किया है। इसीलिये श्रीकृष्ण के अधिकांश उन कार्यों का उल्लेख 'प्रियप्रवास' में किया गया है, जिनमें परोपकार की महत्ता विद्यमान है। जैसे, कालीनाग से व्रज के जीवों की रक्षा, भयंकर वर्षा से गोवर्द्धन पर्वत पर व्रजजनों की रक्षा, तीव्र दावाग्नि से गोपों एवं गोपालों की सुरक्षा आदि। यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के परोपकार सम्बन्धी कार्यों का इतना विशद वर्णन किया है कि उन्हें देखकर कवि की भावना का स्पष्ट पता चल जाता है कि वह परोपकार को मानव-जीवन के कल्याण के

---

१. पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः, परोपकाराय सतां विभूतयः॥
२. श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति कायः खलु सज्जनानां, परोपकाराय न तु चन्दनेन॥
३. अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

लिये कितना महत्वशाली समझता है। यह परोपकार की ही कृपा है कि छोटी ही अवस्था मे श्रीकृष्ण 'नूरत्न' बन गये थे और व्रज मे 'महात्मा' के रूप में प्रसिद्ध थे। यह परोपकार की ही महिमा थी कि सतानहीन व्यक्ति श्रीकृष्ण को पाकर अपने को सतानवान समझते थे और सतानवान व्यक्ति अपनी सतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। यह परोपकार की ही महत्ता थी कि वे व्रज के जिस किसी घर मे भी जाते थे, वहीं वे अत्यधिक मान प्राप्त करते थे और पूजे जाते थे।[1] यही बात राधा के बारे में भी है। राधा ने भी श्रीकृष्ण के परोपकार व्रत को उसी तरह अपनाकर दिन रात प्राणियो की हित चिन्तना प्रारम्भ कर दी थी और निरतर परोपकार में लीन रही आती थी। उसके परोपकार ने ही राधा को नद और यशोदा की प्राणप्रिय पुत्री बना दिया था, परोपकार ने ही राधा को गोप-गोपियो एव गोप-बालको की कष्टहारिणी देवी बना दिया था और परोपकार ने ही राधा को सज्जनो के सिर की छाया, खलों की शासिका, कगालो की परमनिधि, पीडितो की औषधि, दीनो की बहिन, अनाथाश्रितो की जननी, व्रजभूमि की आराध्या और विश्व की प्रेमिका बना दिया था।[2] इस तरह कवि ने परोपकार के महत्व का प्रदर्शन करते हुए यह सकेत किया है कि मानव यदि अपना जीवन उन्नत बनाना चाहता है, यदि वह जीवन मे सुख और शान्ति चाहता है, यदि उसे महत्व एव गौरव के साथ-साथ जीवन में अभीष्ट फल की आकाक्षा है और यदि वह सच्चा मानव बनना चाहता है, तो उसे दीन-हीन, अत्यत पतित एव तिरस्कृत प्राणियो से लेकर ससार के सभी व्यक्तियो का उपकार करना चाहिए और कभी किसी के अपकार के बारे मे नही सोचना चाहिए, क्योकि इस परोपकार से न केवल एक मानव-जीवन का ही उद्धार होता है, अपितु विश्व भर का भी कल्याण होता है। अत परोपकार मानव के कल्याण-हेतु अत्यत महत्वपूर्ण साधन है।

(७) निष्काम भक्ति—भक्ति एक ऐसी साधना है जो किसी आदर्श को सम्मुख रखकर उसके गुणो को ग्रहण करने के लिए की जाती है। इसके द्वारा भक्त अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है और अपने उपास्य के अत्यत सामीप्य भाव को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसीलिए प्राय कहा गया है कि जो जिस देवता की भक्ति करता है उसके हृदय मे उसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न

---

१ प्रियप्रवास ११।८८-९१

२ वही १७।३६ ४६

होती है और उसी देवता के स्वभाव एवं गुणानुसार उसे इच्छित पदार्थों की प्राप्ति होती है। प्रायः श्रद्धा और प्रेम के योग को भक्ति कहते हैं और 'जब पूज्य भाव की वृद्धि के साथ श्रद्धा-भाजन के सामीप्य-लाभ की प्रवृत्ति हो, उसकी सत्ता के कई रूपों के साक्षात्कार की भावना हो, तब हृदय में भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए।'[1] ऐसी भक्ति प्रायः किसी न किसी उद्देश्य से की जाती है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर भक्तों के चार रूप बताये गये हैं:—आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।[2] इनमें से आर्त्त भक्तों से अभिप्राय ऐसे व्यक्तियों से है जो किसी संकट के आ जाने पर उस संकट निवारण के लिए अपने इष्टदेव का भजन करते हैं। जिज्ञासु भक्त वे कहलाते हैं जो अपने इष्टदेव के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा से उसका भजन किया करते हैं। अर्थार्थी भक्त वे होते हैं, जो धन सम्पत्ति आदि सांसारिक पदार्थों के लाभ की अभिलाषा से अपने इष्टदेव का भजन किया करते हैं और ज्ञानी भक्त वे होते हैं, जो अनन्यभाव से किसी प्रकार की इच्छा मन में न रखकर अपने इष्टदेव का भजन किया करते हैं। इनमें से सर्वश्रेष्ठ भक्त ज्ञानी ही कहलाता है।[3] उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह किसी कामना को सामने रखकर अपने इष्टदेव की या भगवान् की भक्ति नहीं करता। वह तो स्थिर बुद्धि होकर उदारतापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता हुआ भगवान के रूप को सर्वत्र देखता हुआ उनकी उपासना में लीन रहता है। उसकी बुद्धि एवं उसका अंतःकरण इतना विशाल होता है कि वह जगत में जो कुछ देखता है उसी को ईश्वर का रूप मानने लगता है, उसके हृदय में भोगों के प्रति किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं रहती, न उसे किसी पदार्थ के संग्रह की चिन्ता रहती है और जो कुछ उसके पास है, न वह उसकी सुरक्षा के हेतु ही बेचैन होता है। वह तो श्रद्धा एवं अनन्य प्रेम के साथ अपना सर्वस्व अपने इष्टदेव के लिए अर्पण करता हुआ निष्काम भाव से उसकी भक्ति में लीन रहता है। वह जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ तपस्या आदि करता है वह सब भगवान के अर्पण करके आसक्ति रहित होकर

---

१. चिन्तामणि भाग १, पृ०४४

२. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥७।१६

३. तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥७।१७

उनकी उपासना एवं प्रेम में मग्न रहता है। वह जानता है कि मेरा प्रभु सभी प्राणियों में विराजमान है सभी पदार्थों में बसा हुआ है और चराचर जगत रूप है। इसीलिए न वह किसी का अप्रिय करता है और न किसी से कभी द्वेष रखता है, अपितु सभी प्राणियों के प्रति अनन्य प्रेम रखता हुआ सम्यक् बुद्धि, शुभप्रेरणा एवं परमशान्ति के साथ भगवान् के भजन में लीन रहा आता है। गीता में कहा गया है कि ऐसे भक्त धर्मात्मा होने के कारण शीघ्र ही शाश्वत् शान्ति को प्राप्त होते हैं वे अमर हो जाते हैं और स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा अन्य पापयोनि में उत्पन्न क्यों न हुए हों, शीघ्र ही भगवान् की शरण में पहुँचकर परमगति को भी प्राप्त होते।[1]

हरिऔधजी ने भी मानव जीवन की उन्नति एवं अभीष्ट सिद्धि के लिए उक्त निष्काम भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है। आपका कहना है कि ऐसी निष्काम भक्ति ही मानव शरीर द्वारा किये जाने वाले सम्पूर्ण कार्यों में सबसे अधिक दिव्य होती है।[2] इस निष्काम भक्ति द्वारा ही मानव जगत के जीवन को तथा प्राणियों के वास्तविक स्वरूप को जान सकता है और इसी के द्वारा अपने माता पिता, गुरु एवं अत्यंत प्रिय जन के कल्याण करने की प्रेरणा जाग्रत होती है।[3] अब यदि कोई व्यक्ति एक कल्पित मूर्ति बनाकर रात दिन उसी के पदसेवन आदि में लीन रहा आवे तो बुद्धि यही कहती है कि वह उपासक उसी मूर्ति के समान बन जायेगा, उसमें उदारता, अन्तःकरण की विशालता अथवा समस्त प्राणियों से प्रेम की भावना आदि उन्नत विचार जाग्रत नहीं हो सकते। इसी लिए हरिऔधजी के विचार से सर्वोत्तम भक्ति वह है जो जगत के सम्पूर्ण प्राणियों, नदियों या झरनों, पर्वतों, लता-बेलियों, वृक्षों आदि को उस विश्वात्मा का रूप मानकर उनकी रक्षा, पूजा, उनका यथोचित सम्मान एवं

---

१ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शाश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥९।३१-३२

२ शास्त्रों में है लिखित प्रभु की भक्ति निष्काम जो है।
सो दिव्या है मनुज-तन की सर्व-संसिद्धियों से॥१६।११३

३ जगत जीवन प्राणस्वरूप का। निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्वप्रियका प्रियसाधन भक्ति है। वह अकाम महा कमनीय है॥
१६।११४

सेवा आदि के रूप में की जाती है।[1] ऐसी ही भक्ति द्वारा हृदय में राधा के समान उदार भाव जाग्रत हो सकते हैं, ऐसी ही भक्ति राधा की तरह परपीड़ा के जानने के लिए तथा उसे दूर करने के लिए उत्सुक बना देती है, ऐसी ही भक्ति मानव को ऊपर उठाकर दीनबन्धु की श्रेणी में ले आती है और ऐसी ही भक्ति द्वारा एक साधारण व्यक्ति भी सच्चा स्नेही, सच्चा सखा, सच्चा प्रेमी, सदय-हृदय, प्रेमानुरक्त एवं विश्वप्रेमी बनकर जगत में शान्तिधारा बहाता हुआ परमसुख एवं परमशान्ति को प्राप्त करता है तथा अन्त में सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करके परमगति को प्राप्त होता है। इसी कारण हरिऔधजी ने निष्काम भक्ति को महत्व देते हुए उसे मानव जीवन के अभ्युदय के लिए अत्यावश्यक माना है।

(८) निस्स्वार्थ सेवा—मानव-मानव के बीच पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने में यह सेवा भाव अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इसकी ओर हमारे महर्षियों का ध्यान अत्यंत प्राचीन काल में ही गया था। पहले प्रायः यह देखा जाता था कि प्रत्येक प्राणी स्वार्थ में अन्धा होकर केवल अपने सुख एवं अपने पेट की ही चिन्ता में बेचैन दिखाई देता था। उसे न किसी के जीवन की परवा थी और न वह अपने से दुर्बल के जीवन को कुछ महत्वधानी समझता था। 'जीवोजीवस्य भक्षणम्' वाली कहावत के अनुसार प्रत्येक जीव एक दूसरे का भक्षण करके अपनी उदर-पूर्ति में ही लगा रहता था। ऐसी भयंकर स्थिति को देखकर ही भारतीय मनीषियों ने सेवा भाव को महत्व देना प्रारम्भ किया। पहले तो स्वार्थमयी सेवा का ही प्रचार हुआ। माता-पिता अपने बच्चे का लालन-पालन इसलिये करते थे कि वह बड़ा होकर हमें सुख देगा। एक पशु की सेवा इसलिये की जाती थी कि वह या तो हमें दूध देगा, या सवारी के काम आयेगा अथवा हल जोतने में सहायक होगा। परन्तु आगे चलकर समाज में चार आश्रमों की स्थापना हुई। इनमें प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति सर्वप्रथम सेवा-भाव की शिक्षा ग्रहण करता था। वह अपने माता-पिता या गुरुजनों से इस भाव की प्रेरणा लेता था और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही उसे इस सेवा भाव को कार्य रूप में परिणित करने का अवसर प्राप्त

---

१. विश्वात्मा जो परम प्रभु हैं रूप तो हैं उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है।१६।११७

होता था। गृहस्थाश्रम मे वह अपने अन्न और धन से समाज के प्राणियो की सेवा करता था। पुन वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमो मे प्रवेश करके वह तन, मन और बुद्धि से एकमात्र समाज की सेवा मे ही अपना जीवन-यापन करता था। इस तरह इस सेवा-भाव को अत्यत प्रयोगात्मक रूप देकर भारतीय ऋषि-महर्षियों ने यहाँ के जीवन मे से पशुता एव दानवता के भाव निकालकर उनके स्थान पर मानवता के शुद्ध विचारो की स्थापना की थी। परन्तु मानव तो आत्मार्थी है, वह प्राय अपने लाभ एव अपने सुख के लिये ही किसी की सेवा करता है उसमे निस्स्वार्थ भाव का आना अत्यत कठिन है। इसी कारण आज सर्वत्र सघर्ष, युद्ध हलचल, क्रान्ति आदि दिखाई देती हैं। फिर भी इस निस्स्वार्थ सेवाभाव को जाग्रत करने के लिए सदैव प्रयत्न होते रहे हैं। महात्मा गौतम, महात्मा गाधी आदि देश सुधारको, कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियो और रामतीर्थ विवेकानद, अरविंद आदि सतो ने अपने अपने विचारो द्वारा जनता मे निस्स्वार्थ सेवा-भाव को जाग्रत करने का अत्यत सराहनीय कार्य किया है।

हरिऔधजी ने प्रियप्रवास में भी इस सेवाभाव की महत्ता को सर्वाधिक घोषित किया है। उन्होने कृष्ण और राधा के स्वार्थ-रहित कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति उसी समय 'महात्मा' या 'नृ-रत्न' हो सकता है जब वह श्रीकृष्ण की तरह निस्स्वार्थ भाव से आर्त्त प्राणियो की पुकार सुने, दीनो की दुष्टात्माओ से रक्षा करे, सतप्तो को सांत्वना बँधाये, माता पिता एव गुरुजनो को सुख देने का प्रयत्न करे अथवा रोगी दुखी एव आपदग्रस्तों की सच्चे हृदय से सेवा करे।[1] इसी तरह कोई व्यक्ति समाज मे पूज्य एव श्रद्धेय तभी बन सकता है जब वह राधा की तरह निस्स्वार्थ भाव से मूर्छित एव सतप्त प्राणियो को गोद मे लेकर जल के छीटे मारकर अथवा व्यजन डुलाकर उन्हें सचेत बनाने का प्रयत्न करे, आकुल एव बिलखते प्राणियो के सताप को दूर करे, कष्ट से भूमि मे लोटते हुए प्राणियो की धूल पोछकर उन्हें शान्ति प्रदान करे, मोहमग्न प्राणियों का सिर सहलाकर अपनी गोद मे सुलाये, किसी की रोमाचकारी आहें सुनकर उसके घर जाकर सात्वना दे, शोक में निमग्न प्राणियो को अच्छे अच्छे उपदेश पूर्ण वचन कहकर धैर्य बँधाये, मलिन एव व्यथित बालको को खिलौने आदि देकर या खेल में

---

१ प्रियप्रवास १२।७८-८७

लगाकर प्रसन्न बनाये, विरह-व्यथित प्राणियों को नाना युक्तियों से सात्वना दे, पारस्परिक कलह को दूर करे, मन की मलिनता को निकालदे, हृदय में सहृदयता का भाव भरे और चिन्तित प्राणियों के घरों में शान्ति धारा बहाने का प्रयत्न करे।[१] इस तरह हरिऔधजी ने निस्स्वार्थ भाव से की गई सेवाओं का महत्व प्रदर्शित करने के लिये ही श्रीकृष्ण और राधा के सेवा-कार्यों का अत्यंत विवरण के साथ उल्लेख किया है और बताया है कि इस निस्स्वार्थ सेवा द्वारा ही मानव अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र में सुख और शान्ति की स्थापना कर सकता है तथा परमसुख एवं शान्ति को प्राप्त करता हुआ अपने जीवन के अभीष्ट कल्याण को भी प्राप्त कर सकता है।

(६) कर्त्तव्यपरायणता—मानव अपने जीवन में उसी क्षण उन्नति एवं कल्याण को प्राप्त कर सकता है, जब वह अपने नियत कर्त्तव्य का पूर्णरूप से पालन करे और कर्त्तव्य से कभी विमुख न होकर जीवन-यापन करे। भारतीय जीवन को समुन्नत बनाने के लिये पहले समाज के व्यक्तियों के कुछ कर्त्तव्य निश्चित किए गए थे। जैसे ब्राह्मणों का कर्त्तव्य था—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, यम-नियम की साधना द्वारा आत्मविकास के मार्ग में अग्रसर होना, मानव-रिपुओं का दमन कर समाज के सामने अच्छा आदर्श उपस्थित करना आदि।[२] इसी तरह क्षत्रियों के कर्त्तव्य थे—शक्ति का अच्छा विकास करके वीरत्व को धारण करना, समाज की रक्षा करना, धैर्य धारण करना, व्यवहार-कुशल होना, युद्ध से न भागना आदि।[३] वैश्यों के लिये बताया गया था कि वे वेदादि का अध्ययन करें, यज्ञ और व्यापार करें, कृषि-कर्म और पशु-पालन में लीन रहें, दान दें और साधारणतया ब्याज पर ऋण दें आदि।[४] इसी तरह शूद्रों के लिए भी कर्त्तव्य निश्चित किया गया था कि वे सदैव समाज के इन तीनों वर्णों की असूया-रहित सेवा करें।[५] इस कर्त्तव्य-निर्धारण के पीछे यही रहस्य था कि समाज का कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य बनकर जीवन व्यतीत न करे और सभी व्यक्ति सदैव कर्त्तव्यों में लीन रहें। साथ ही जो जिस कर्म के योग्य था वह उसी कर्म में लीन रहकर सदैव अपने वर्ग के लिए नियत

---

१. प्रियप्रवास १७।२६-४६
२. भारतीय संस्कृति—ज्ञानी, पृ० ११६
३. वही पृ० १२०-१२१
४. वही, पृ० १२१
५. वही, पृ० १२२

कर्त्तव्य का पालन करता रहे यही विचार तत्कालीन वर्ण व्यवस्था की आंतरिक भावना मे छिपा हुआ था। जिस तरह कर्त्तव्य के आधार पर वर्ण-व्यवस्था की योजना की गई थी, उसी तरह कर्त्तव्य को सम्मुख रखकर ही आश्रम-व्यवस्था की गई थी। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमों का मूलाधार भी कर्त्तव्य था। इसम भी बचपन से लेकर मृत्यु पर्यन्त मानव-जीवन के कर्त्तव्य निर्धारित किये गये थे और मानव के लिये अपना जीवन सम्यक् रूप से व्यतीत करने की व्यवस्था की गई थी। जैसे ब्रह्मचर्याश्रम मे स्थित एक बालक को वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्या, अग्निचर्या, भैक्षचर्या आदि आवश्यक कर्त्तव्य बताए गए थे। गृहस्थाश्रम में स्थित व्यक्ति के लिए ऋषिऋण, देवऋण पितृऋण एव नृऋण से मुक्त होने के लिए नित्य ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और अतिथि यज्ञ नामक पचमहायज्ञ करने पडते थे। इसी तरह वानप्रस्थ एव सन्यासियो के लिए इन्द्रिय-सयमपूर्वक अपने उपदेशो एव सतुलित विचारो द्वारा मानवों का कल्याण करते हुए मोक्ष-साधन के हेतु नियत कर्त्तव्यो का पालन करना पडता था। इस प्रकार भारत मे मानव-जीवन को सयमित, सतुलित एव सुव्यवस्थित बनाने के लिए कर्त्तव्यपरायणता पर अत्यधिक जोर दिया जाता था और प्रत्येक मानव को निश्चित कर्त्तव्यो का पालन करना पडता था। इस व्यवस्था मे भले ही कुछ सकीर्णता आज दिखाई देती हो, परन्तु तत्कालीन परिस्थिति के विचार स ये सभी बातें अत्यत उपयोगी एव उपादेय दिखाई देती हैं। इतना ही नही इनका पालन यदि आज भी किया जाय, तो मानव अशान्ति एव सघर्ष से विमुक्त होकर सहज सुख एव परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है। जो भी हो, मानव जीवन के लिए जो-जो कर्त्तव्य अपेक्षित हैं, उनके करने से वह अनायास ही सहज सुख प्राप्त करता है और उसे अधिक कठिनाइयो का भी सामना नहीं करना पडता।

कहने की आवश्यकता नही कि हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे मानव को कल्याण की ओर अग्रसर होने के लिए सर्वाधिक बल कर्त्तव्य-परायणता पर ही दिया है। उनके चरित्रनायक श्रीकृष्ण के मुख से कई स्थलो पर सुनाई पडता है कि मानव को अपने कर्त्तव्य से कभी विमुख नही होना चाहिए। अपने समाज या अपनी जाति पर यदि सकट आ पडा हो तो उस समय सकट से मुक्त करना ही मानव का प्रधान कर्त्तव्य है, उस क्षण यही उसका प्रमुख धर्म है कि वह तन-मन-धन से स्वदेश या स्वजाति के उद्धार का प्रयत्न करे। उस समय यदि वह दूसरो को बचा लेता है, तब तो उसके कर्त्तव्य का पूर्ण पालन हो जाता है और यदि किसी कारण उसकी मृत्यु हो जाती है, तो

भी कर्त्तव्य-पालन के कारण उसे विश्व में सुकीर्ति प्राप्त होती है।[1] हरिऔधजी का यह स्पष्ट मत था कि चेष्टारहित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा सचेष्ट होकर मरना सदैव सुंदर होता है।[2] यदि देश या जाति पर विपत्ति आई हुई हो और सभी प्राणी भयभीत हो रहे हों, उस समय पुरुष को कभी शिथिलता नहीं दिखानी चाहिए। उसे तो वीरों के समान आगे बढ़कर निर्भयत सहित विपत्ति का सामना करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि संसार में विजय और विभूति उसी व्यक्ति को प्राप्त होती है, जो अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर दृढ़ता के साथ कठिनाइयों एवं विघ्नों का सामना करता है और प्रतिद्वन्द्वता से किंचिन्मात्र भी नहीं घबड़ाता, वरन् उचित प्रयत्नों एवं धैर्य सहित संकटों में आगे बढ़ता रहता है।[3] इतना ही नहीं कवि ने श्रीकृष्ण की कर्त्तव्य-निष्ठा का सुंदर एवं सजीव चित्रण करते हुए 'प्रियप्रवास' में यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव अपने समाज में उचित आदर एवं श्रेष्ठ सम्मान का अधिकारी उसी क्षण होता है, जिस क्षण वह अपने हृदय में यह निश्चय कर लेता है कि मुझे अपने नियत कर्त्तव्य का पालन सदैव करना है और किसी लोभ, स्वार्थ या मोह आदि में लीन होकर कभी देश या समाज को धोखा नहीं देना है। यहाँ श्रीकृष्ण की यही विशेषता आरम्भ से अंत तक अंकित की गई है कि वे अपने नियत कर्त्तव्य के सम्मुख माता की ममता, पिता का दुलार, प्राणप्रिया का पुनीत प्रेम, सखाओं का स्नेह आदि सभी का बलिदान कर देते हैं और समाज-हित या लोकहित के लिए अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर गोकुल से मथुरा और मथुरा से द्वारिका की ओर ही बराबर बढ़ते चले जाते हैं। निस्सन्देह यह कर्त्तव्यपरायणता की भावना मानव-जीवन का मेरुदंड है, इसके बिना न मानव में मानवता आती है और न वह किसी प्रकार की उन्नति के लिये ही अग्रसर हो सकता है। इसी कारण हरिऔधजी ने इसे 'प्रियप्रवास' में सबसे अधिक महत्व देते हुए अंकित किया है, इसीलिए उनके कृष्ण और राधा दोनों पात्र यहाँ कर्त्तव्यपरायणता की साकार मूर्तियाँ बने हुए हैं और अपने-अपने कार्यों की सुंदर झाँकियाँ दिखाते हुए यह स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि मानव की प्रतिष्ठा, मानव का हित और मानव का

---

१. प्रियप्रवास ११।८४-८७

२. रह अचेष्टित जीवन त्याग से।
   मरण है अति-चारु सचेष्ट हो। १२।४३

३. प्रियप्रवास १२।४३-४७

श्रेय केवल कर्तव्यपरायणता पर ही निर्भर है, क्योंकि इसी के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति श्रीकृष्ण की तरह नररत्न बन सकता है और राधा की तरह किसी समाज का पूज्य एव आराध्य हो सकता है।

(१०) आत्म-साक्षात्कार—अपने वास्तविक स्वरूप को पहँचानना आत्मसाक्षात्कार कहलाता है। आज मानव की दशा यह है कि वह आत्मतत्व से अपरिचित होने के कारण भ्रान्त एव अशान्त होकर इधर-उधर अधकार मे भटक रहा है। वह यह भूल गया है कि एक ही आत्मा समस्त प्राणियों एवं पदार्थों मे विद्यमान है। वही एकमात्र साधन है जिससे हमारी आँखें देखने का कार्य करती हैं, कान सुनने का काम करते हैं नासिका सूँघने का कार्य करती हैं, जिह्वा रस लेने का काम करती है पेड पौधे फलते-फूलते हैं, पक्षी कलरव करते हैं पशु आनद-क्रीडा करते हैं इत्यादि। इतना ही नही यह आत्मतत्व ही सर्वत्र एकरूपता, समता, अभेदता एव अखण्डता स्थापित करता हुआ विद्यमान है। परन्तु आज हम आत्मा के वास्तविक रूप को ही भूले हुए हैं। उसका कारण स्पष्ट है क्योकि यह आत्मा तो द्रष्टा है परन्तु ससार के दृश्यो मे रमकर वह अपने को भूल गया है और दृश्य बन गया है। यह द्रष्टा उसी समय तक रह सकता है जिस समय तक यह ससार के दृश्यो मे अपने को लीन करके भुलाता नही। यह आत्मा तो श्रोता है परन्तु ससार के मधुर स्वरो मे लीन होकर इसने अपने श्रोतापन को खो दिया है और स्वय श्रव्य बन गया है। अब जब तक इस आसक्ति को नही छोडता तब तक श्रव्य ही बना रहेगा, श्रोता नही बन सकता। यह आत्मा तो कर्त्ता है, परन्तु ससार के नाना कार्यों मे लीन होकर इसने अपने कर्तापन को भुला दिया है और स्वय कर्म बन गया है। अब जब तक यह अपने स्वरूप को नही पहँचानता, तब तक कर्त्ता न होकर कर्म ही बना रहेगा। ऐसे ही यह आत्मा तो स्रष्टा है परन्तु आज अपने सृजन कार्यों मे इतना तमन्य हो गया है कि स्वय सृष्टि बना हुआ है तथा अपने स्रष्टापन को भूला हुआ दिखाई देता है। अब जब तक यह अपने रूप को नहीं पहँचानता तब तक सृष्टि के दोषो से मुक्त नही हो सकता और स्रष्टा के महत्वपूर्ण पद को प्राप्त नही कर सकता। इसी कारण सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि जो आत्मा कर्त्ता था, वह कर्म कैसे बन गया, जो द्रष्टा था वह दृश्य कैसे हो गया, जो स्रष्टा था वह सृष्टि क्यों बना हुआ है, जो श्रोता था, वह श्रव्य क्या हो गया है आदि आदि। इसी बात से जाग्रत करने के लिए उपनिषदो मे कहा गया है—'हम भोक्ता हैं, भोग्य बने हुए हैं हम कर्ता हैं, कर्म बने हुए हैं। हम द्रष्टा हैं, दृश्य बने हुए हैं। हम श्रोता हैं,

भ्रष्ट बने हुए है। हम स्वामी है, भृत्य बने हुए हैं। हम राजा है रंक बने हुए हैं, इत्यादि।"[१] इसका मूल कारण क्या है? यही कि ग्राज हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हुए है। सांसारिक माया-मोह ने हमें इस तरह भ्रान्ति में डाल रखा है कि हमें उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार नहीं हो पाता और अहर्निश हम अंधकार की ओर ही बढ़ते चले जा रहे है। आज अपने वास्तविक स्वरूप को न पहँचानने के कारण ही "अन्धेन नीयमाना यथा अंधा" अथवा "अन्धा अन्धे ठेलिया दोनों कूप पड़न्त" वाली हमारी दशा हो रही है। पारस्परिक भिन्नता, फूट एवं वैमनस्य बढ़ते चले जा रहे हैं और मानव प्रत्येक क्षेत्र में विरोध एवं विषमता का सामना कर रहा है। इसी आत्म-साक्षात्कार के अभाव के कारण आज भेद-भाव से उत्पन्न संघर्ष हो रहे हैं, इसी के परिणामस्वरूप मानव-मानव में सहज स्नेह नहीं दिखाई देता और इसीलिए प्रतारणा, प्रवंचना, छल-कपट आदि का बोलबाला है।

हरिऔधजी ने मानव-जीवन की इस विषमता को भली भाँति पहचान कर उसको दूर करने के लिए अपने 'प्रियप्रवास' में इस 'आत्म-साक्षात्कार' की ओर अधिक ध्यान दिया है और बताया है कि 'जिस तरह वायु का स्पर्श होते ही जल में लहरें उठने लगती हैं, वैसे ही किसी न किसी आवेग के उठते ही चित्त भी विचलित हो उठता है और उस उद्वेग से मनुष्य व्यथित हो जाता है।'[२] उस क्षण जगत के नाना-रूपों को देखने के कारण वह व्यथित हृदय अपने वास्तविक रूप को भूलता हुआ मोह-मग्न हो जाता है और इस इस मोह के कारण उसका चित्त भ्रान्ति एवं उद्विग्नता का शिकार बन जाता है।[३] यह मोह इतना बलवान एवं सशक्त होता है कि इसके वशीभूत होकर मानव नाना प्रकार के स्वार्थों, सरस-सुख की वासनाओं आदि में डूब जाता है तथा अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है।[४] उस क्षण वह द्रष्टा न होकर दृश्य, स्रष्टा न होकर सृष्टि और कर्त्ता न होकर स्वयं कर्म रूप में परिणत होता हुआ इस जगत की माया में लिप्त हो जाता है। इसके लिए कवि ने सर्वप्रथम इस 'मोह' के विनाश की ओर संकेत किया है और "ऊँची न्यारी रुचिर महिमा

---

१. आर्य संस्कृति के मूल तत्व, पृ० ८४-८५

२. प्रियप्रवास १६।५२

३. वही १६।५७

४. वही १६।६३

मोह से प्रेम की है"[१] कहकर ससार के सभी पदार्थों एव प्राणियो से प्रेम करने, उनमे अपना ही रूप देखने, उन्हे अपना ही स्वरूप समझने और उनमे अपनी ही आत्मा का विकास देखने की सलाह दी है। इसी कारण कवि ने बताया है कि जिस समय मानव प्रातःकालीन उषा की लालिमा और सन्ध्या की अरुणिमा में अपनी आत्मा के ही सौंदर्य की झलक देखने लगता है। जिस समय मृग-मालिका मे उसे अपनी ही अलको का सौंदर्य और खजन तथा मृगो में अपनी ही आँखों की सुछवि दीखने लगती है। जिस समय वह दाडियो मे अपने दाँतो की, बिम्बाओं मे अपने अधरो की, केलो में अपने जघन की, सूर्य-चन्द्र एव वह्नि में अपनी ही दिव्य आभा को देखने लग जाता है, उस समय उसके हृदय मे एक अद्भुत अभिन्नता एव अभेदता की भावना जाग्रत होती है और वह 'विश्व-प्रेम' में लीन होकर सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगता है।[२] फिर वह अपने मे और विश्व में कोई अन्तर नही देखता, अपितु भिन्नता में भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद और द्वैत में भी अद्वैत देखने लगता है। उसकी दृष्टि ही बदल जाती है। वह आत्मार्थी न रहकर परार्थी हो जाता है स्वार्थरत न रहकर स्वार्थोपरत हो जाता है, किसी का अपकारी न होकर सर्वभूतोपकारी हो जाता है[३] और हृदय मे शान्ति की कामना करता हुआ इस 'भव को प्यार की दृष्टियों से' देखने लगता है।[४] उसे फिर सभी दुखी एव सतप्त प्राणी अपना ही रूप जान पडते हैं। इसीलिए वह फिर प्यार से सिक्त होकर रातदिन उन सतप्त प्राणियों को सात्वना, धैर्य एव शान्ति देने मे ही अपना सौभाग्य समझता है तथा अवनिजन का सच्चास्नेही बनकर सतत सेवा करता हुआ निरन्तर भूत-सवर्द्धना मे ही लगा रहता है।[५] कवि ने इसी स्वरूप को अपनाने अथवा अपनी वास्तविकता को पहचानने के लिये राधा और कृष्ण के चरित्र चित्रण द्वारा मानव-मात्र को 'आत्म-साक्षात्कार' की प्रेरणा प्रदान की है और बताया है कि यदि हम तनिक गहनता एव गम्भीरता के साथ विचार करें और अपनी स्थिति को देखने की चेष्टा करें, तो पता चलेगा कि विश्व के सघर्ष का कारण और कुछ नहीं है,

---

१ प्रियप्रवास १६।७०
२ वही १६।८१-८८
३ वही १६।४१-४६
४ वही १०।१७।२३
५ वही १७।५६-५४

हमारी ही भ्रान्ति, हमारा ही मोह, हमारी ही मिथ्या धारण और हमारी ही अज्ञानता है। यदि हम अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हो जायें और सम्पूर्ण विश्व में अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगें, तो सारे संघर्ष, सारी हलचल, सारे वैमनस्य एवं सारे विद्रोह समाप्त हो जायेंगे और मानव विश्व-प्रेमी होकर सम्पूर्ण वसुन्धरा का सच्चा स्नेही हो जायेगा। परन्तु इसके लिए आत्मसाक्षात्कार करना होगा। अपनी दुर्बलताओं, अपनी कमियों एवं अपनी आसक्तियों को देखना होगा और उन्हें देखकर शीघ्र ही नहीं तो शनैः शनैः दूर करना होगा। निस्संदेह आत्मोन्नति के लिए अथवा आत्म-कल्याण के लिए आत्म-साक्षात्कार सबसे प्रमुख साधन है।

जीवन का चरम लक्ष्य लोकहित है—भारतीय मनीषियों ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की योजना करके मानव का चरम-लक्ष्य मोक्ष सिद्ध किया है। प्रत्येक भारतीयदर्शन ने इस मोक्ष-प्राप्ति पर जोर दिया है, इसके लिए उचित साधन बताए हैं और अपने-अपने विचारों के अनुसार मानव को अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्ष को प्राप्त करते हुए सिद्ध किया। परन्तु "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" कहकर यहाँ यह स्पष्ट घोषण की गई है कि ज्ञान के बिना मुक्ति या मोक्ष प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपाय सुझाये गये हैं, किन्तु अंत में सभी का लक्ष्य मोक्ष ही रहा है। इस मोक्ष को उपनिषदों में 'जीवन्मुक्ति' भी कहा गया है अर्थात् इसी जीवन में मोक्ष की प्राप्ति का होना जीवन्मुक्ति कहलाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में लिखा भी है कि "जब हृदय में रहने वाली समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है और यहीं पर (इसी शरीर में) उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है।"[1] इस प्रकार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य यही है कि वह किसी न किसी प्रकार सम्पूर्ण कामनाओं से विरत होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। आधुनिक युग में मोक्ष या मुक्ति के प्रति लोगों में विश्वास नहीं। आज सभी विचारक कर्म को महत्व देते हैं और कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति की कल्पना करते हैं। उनका विचार है कि उन सम्पूर्ण कर्मों में से 'लोकहित' की दृष्टि से जो कर्म किये जाते हैं, वे ही श्रेष्ठ कर्म हैं, उनसे ही मानव जीवन का अभीष्ट प्राप्त करता है, जीवन में सुख और शान्ति प्राप्त करता है तथा इसीसे उसे मोक्ष की

---

१. यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिता।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ० २।३।१४

भी प्राप्ति होती है। आधुनिक युग में इसी कारण 'लोकहित' को सर्वाधिक महत्व दिया गया है। हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे इसी लोकहित की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वत्र इसी का गुणगान किया है और अपने प्रमुख पात्रों—राधा और कृष्ण को आजीवन लोक-हित मे ही लीन दिखाकर अपने अभीष्ट फल को प्राप्त करते हुए दिखाया है। हरिऔधजी का स्पष्ट विचार है कि लोकहित के द्वारा ही मानव विश्व मे पूज्य होता है,[१] इसी से वह सम्पूर्ण स्वार्थों एव विपुल सुखो को ससार मे तुच्छ समझा करता है और सम्पूर्ण लालसाओ को छोड़कर लोक-सेवा मे लीन होता है।[२] इसी लोकहित के कारण उसके हृदय म आत्मोत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और स्वार्थोपरत होकर वह हृदय से सभी प्राणियो के श्रेय का कार्य करता रहता है।[३] इसी लोक-हित के जाग्रत होते ही वह अपने प्रिय से प्रिय पात्र का भी परित्याग करने म सकोच नही करता और निष्कामी होकर सदैव सात्विक कार्यों मे लगा रहता है।[४] इसी भावना के कारण उसे सर्वत्र विश्वात्मा की प्रभुता व्याप्त दिखाई देती है और वह इस विश्व-रूपी ब्रह्म की निष्काम भक्ति मे लीन होता है।[५] इसी लोकहित की भावना के कारण उसकी दृष्टि पूर्णतया बदल जाती है तथा वह प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करने, उनको सुख और शान्ति देने और उनकी तन-मन धन से व्यथायें दूर करने का प्रयत्न करके अतीव आनन्द का अनुभाव करने लगता है।[६] इस तरह कवि ने लोकहित को इतने व्यापक एव महत्वपूर्ण ढगसे यहाँ चित्रित किया है कि जिससे यह भावना इस काव्य की आत्मा बन गई है और 'पदे-पदे' इसी भावना का स्वर गूँजता हुआ सुनाई देता है। अतएव यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि हरिऔधजी लोकहित को मानव जीवन के लिए अत्यत आवश्यक समझते हैं, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि यदि मानव अपने जीवन मे सुख चाहता है, यदि वह अपने समाज में समता एव शान्ति चाहता है और यदि वह समस्त विश्व में अनन्द की सृष्टि करना

---

१ प्रियप्रवास १०।६०
२ वही १४।२२
३ वही १६।४१-४६
४ वही १६।६६-१००
५ वही १६।११७
६. वही १७।२६-४८

चाहता है, तो उसे एकमात्र 'लोकहित' का भाव अपना कर अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। इस लोकहित से ही उसे जीवन में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है और इसीसे वह जीवन्मुक्त भी हो सकता है, क्योंकि जीवन्मुक्ति के लिए कामनाओं के जिस विनाश की आवश्यकता समझी गई है, वह लोकहित द्वारा ही संभव है। लोकहित के कारण मानव वैयक्तिक स्वार्थ से परे परमार्थ में लीन होकर वस्तुतः जीवन्मुक्ति को ही प्राप्त करता है। इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे सर्वाधिक लोकहित को ही महत्व दिया गया है और इसी को जीवन का चरम लक्ष्य सिद्ध किया गया है।

उपसंहार

प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी की तुलना

पृष्ठभूमि—प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी तीनों ही ग्रंथ आधुनिक युग के प्रतिनिधि महाकाव्य हैं। इन तीनों महाकाव्यों में आधुनिक युग पूर्णतया प्रतिबिम्बित है और तीनों ही ग्रंथ महाकाव्यों के क्रमिक विकास के द्योतक हैं। वैसे तो यदि उक्त तीनों महाकाव्यों को महाकाव्य के आदि, मध्य और अवसान स्वरूप तीन सोपान कहें, तो कोई अत्युक्ति नहीं, क्योंकि जहाँ प्रियप्रवास आधुनिक महाकाव्य के प्रथम प्रयास का द्योतक है, वहाँ साकेत महाकाव्य-परम्परा के क्रमिक विकसित मध्य रूप को सूचित कर रहा है और 'कामायनी' महाकाव्य उसके चरम विकास का द्योतक है। परन्तु जैसा कि आलोचकों का मत है कि अभीतक आधुनिक युग ही चल रहा है, जब कि अन्य युगों की अपेक्षा इस युग की अवस्था पर्याप्त हो चुकी है और मेरे मत से तो भारत की स्वतन्त्रता के उपरान्त अब नवीन युग का श्रीगणेश मानना चाहिए तथा विगत आधुनिक युग को 'प्रयोग-युग' या अन्य कोई उचित नाम देना चाहिए। फिर भी यदि आधुनिक युग की अवधि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ही भाँति मानी जाती है, तो यह निर्विवाद सत्य है कि महाकाव्यों के क्रमिक विकास में प्रियप्रवास प्रथम सोपान पर, साकेत द्वितीय सोपान पर और कामायनी तृतीय सोपान अथवा अभी तक अन्तिम सोपान पर स्थित है। यद्यपि तीनों महाकाव्य काव्य-कला के क्रमिक विकास को प्रस्तुत करते हुए महाकाव्यों के उत्तरोत्तर उत्कृष्ट प्रयासों के द्योतक हैं, तथापि उक्त तीनों महाकाव्यों में पर्याप्त साम्य एवं वैषम्य हैं। यदि तुलनात्मक दृष्टि से उन साम्य एवं वैषम्यों की परीक्षा की जाये, तो पता चलेगा कि खड़ी बोली हिन्दी ने किस तरह इन तीन प्रतिनिधि महाकाव्यों के रूप में विकसित होकर भारतीय काव्य-परम्परा में उत्तरोत्तर वृद्धि की है और किस तरह वह अभिव्यक्ति के क्षेत्र में सशक्त एवं समृद्ध प्रमाण होती

गई है। अब हम कतिपय आधारों पर उक्त तीनों महाकाव्यों की तुलनात्मक समीक्षा करने का प्रयास करेंगे।)

१. वस्तु-योजना—यद्यपि उक्त तीनों महाकाव्य आधुनिक युग के प्रतिनिधि प्रबंधकाव्य हैं, फिर भी तीनों महाकाव्यों में वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। तीनों ने भारतीय पौराणिक अथवा प्राचीन गाथाओं को ही अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। प्रियप्रवास में यदि श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र की झाँकी है, तो साकेत में मर्यादापुरुषोत्तम राम का पुनीत चरित्र अंकित है और कामायनी में मानवों के पूर्व पुरुष वैवस्वत मनु के जीवन को चित्रित किया गया है। अतः तीनों कवि कथावस्तु के लिए उत्तरोत्तर प्राचीनता की ओर अग्रसर होते गये हैं और श्री कृष्ण के रूप में मानव के पूर्ण विकास से लेकर मनु के रूप में उसके आरंभिक स्वरूप तक को पूर्ण रूपेण चित्रित करने का प्रयत्न किया है। दूसरे, तीनों ही कवियों ने कथाओं के परम्परागत रूपों को स्वीकार न करके आधुनिक बौद्धिक जगत के अनुरूप उनमें कुछ नवीन उद्भावनायें की हैं, जिनसे कथायें अलौकिक एवं अग्राह्य न रहकर पर्याप्त बुद्धिग्राह्य एवं मानव-जीवन के अनुकूल बन गई हैं—साथ ही जिनमें आज का बुद्धिजीवी मानव विश्वास भी कर सकता है, नहीं तो कालीनाग का नाथना, गोवर्द्धनपर्वत का अँगुली पर उठाना, हनुमान का पर्वत उखाड़ लाना, मानव का पशुता से मानवता की ओर अग्रसर होना आदि आज तक हास्यास्पद ही बना रहता। तीसरे, तीनों महाकाव्यों में कथा के अधिकांश भाग को घटित न दिखाकर वर्णित दिखाया गया है अर्थात् प्रियप्रवास में तो श्रीकृष्ण के जीवन से संबंधित अधिकांश घटनायें एवं कथायें गोप, अहीर गोपियाँ, नंद-यशोदा आदि के द्वारा वर्णन की गई हैं। साकेत में बालकांड की कथा उर्मिला द्वारा, अरण्यकांड की कथा शत्रुघ्न द्वारा, किष्किधाकांड एवं लंकाकांड की कथा हनुमान द्वारा वर्णित दिखाई गई है और कामायनी में देव-सृष्टि के विनाश की कथा मनु के द्वारा तथा सारस्वत प्रदेश के अनाचार की कथा स्वप्नरूप में वर्णन की गई है। चौथे, तीनों महाकाव्यों में भारतीय संस्कृति के उदात्त एवं उज्ज्वल रूप की झाँकी विद्यमान है तथा यह दिखाया गया है कि भारतीय जीवन में अपनी परम्परागत विशेषताओं की जड़ें कितनी गहराई तक पहुँची हुई हैं। भले ही विदेशी संस्कृतियों के झंझावात भारतीय संस्कृति के वटवृक्ष को झकझोरने का कितना ही प्रयास करें, परन्तु यह इतना दृढ़ एवं सुस्थिर है कि अपनी अक्षुण्णता एवं स्थिरता को कभी गँवा नहीं सकता। पाँचवें, तीनों महाकाव्य यद्यपि प्राचीन कथानकों

के आधार पर निर्मित हैं, तथापि नवीनता पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है और इनमें आधुनिक युग का जन-जीवन पूर्णतया चित्रित है। तीनो ही कवि अपने युग-जीवन से भली प्रकार परिचित थे। इसी कारण तीनो ने प्राचीन कथानको मे आधुनिक जीवन को पूर्णतया समाविष्ट करके इस तरह अंकित किया है कि कथा का बाह्य ढांचा ही प्राचीन है, जबकि उसकी अन्तरात्मा पूर्ण रूपेण आधुनिक युग मे अनुरंजित है। छठे, तीनो ही महाकवियो ने लोकहित मे लीन नारी-जीवन की उज्ज्वल झांकी अंकित करने का प्रयास किया है। इसी कारण यदि हरिऔधजी ने प्रियप्रवास मे राधा के उत्कृष्ट चरित्र की झांकी अंकित की है, तो साकेत मे गुप्तजी ने महारानी कैकेयी, श्रीमती उर्मिला आदि के उपेक्षित जीवन को समुज्ज्वल रूप मे अंकित करने का प्रयास किया है और इसी तरह श्री जयशंकर प्रसाद ने कामायनी मे मानव-जननी श्रद्धा के लोकोत्तर चरित्र का पुनीत झांकी अंकित की है। सातवें, तीनो ही महाकाव्यो मे सम्पूर्ण कथा को किसी एक स्थान मे ही सीमित करते हुए स्थान ऐक्य को विशेष महत्व दिया गया है। जैसे, प्रियप्रवास में सारी कथा व्रज प्रदेश मे ही सीमित है। वहीं श्रीकृष्ण ने जो-जो लोकहित के कार्य किये हैं, उनकी ओर संकेत करते हुए श्रीमती राधा को भी व्रज मे ही लोकहित के कार्य करते हुए दिखाया गया है। साकेत मे भी सारी कथा साकेत अथवा अयोध्या मे ही सीमित है। कवि ने या तो 'सम्प्रति साकेत-समाज वहीं है 'सारा' कहकर यह संकेत कर दिया है या साकेत मे ही बैठे हुए व्यक्तियो द्वारा सम्पूर्ण कथाओ का वर्णन करा दिया है अथवा वशिष्ठ मुनि द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से सम्पूर्ण साकेत वासी अपने स्थान पर खडे-खडे लका मे होने वाली सम्पूर्ण घटनाओ को देख लेते हैं। इसी भांति 'कामायनी' मे कवि ने 'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर' से कथा प्रारम्भ की है, उसकी ही उपत्यका मे सम्पूर्ण घटनायें घटित होती हैं और अन्त में उसी हिमगिरि की एक उन्नत शृंग कैलाश पर सम्पूर्ण पात्रो को एकत्रित करके कवि ने अपनी कथा समाप्त की है। आठवें, तीनो ही महाकाव्य आधुनिक जीवन की अधिकांश समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखे गये हैं।

इन कतिपय साम्यो के साथ-साथ तीनो महाकाव्यो मे वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त वैषम्य भी है। सर्वप्रथम तो तीनो महाकाव्य भारतीय इतिहास मे तीन युगों की कथाओ के आधार पर निर्मित हैं, क्योंकि प्रियप्रवास में द्वापर युग की कथा है, साकेत मे त्रेतायुग की कथा है और कामायनी मे मानव-सृष्टि के आदि युग की कथा है। दूसरे, तीनो महाकाव्यो की कथा का विस्तार

तीन प्रमुख विशेषताओं के आधार पर हुआ है। जैसे प्रियप्रवास में पुरुष और नारी दोनों के उज्ज्वल जीवन की झांकी अंकित करने के लिये श्रीकृष्ण और राधा के लोकहित में लीन उज्ज्वल जीवन को ही चित्रित किया गया है, साकेत में सारी कथा उर्मिला के विरह को मध्यबिंदु बनाकर चली है और कामायनी में मानव की दुर्बलताओं को अंकित करते हुए नारी के द्वारा उसके सुधार का समर्थन किया गया है। तीसरे, तीनों महाकाव्य आधुनिक जीवन के इतिहास में से तीन युगों को चित्रित करते हैं, क्योंकि प्रियप्रवास में आधुनिक युग का वह भाग चित्रित है, जब कि भारत में कांग्रेस के आन्दोलन द्वारा स्वतंत्रता का संग्राम प्रारम्भ हुआ था और भारत में आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, थियोसोफीकल सोसाइटी आदि संस्थायें नैतिक जीवन के महत्व का प्रचार कर रही थीं। इसलिए प्रियप्रवास में नैतिकता की ही सर्वत्र प्रधानता है। साकेत का निर्माण उस समय हुआ जब भारतीय जन पर्याप्त जागरूक होकर आन्दोलनों में अधिक मात्रा में सक्रिय भाग लेने लगा था और गांधी जैसे युग-पुरुष का नेतृत्व पाकर अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में पर्याप्त आगे बढ़ चुका था। इसी कारण इस काव्य में वीर-रमणी एवं वीर-पुरुषों के उज्ज्वल एवं उदात्त गुणों का वर्णन सर्वाधिक हुआ है। इसके अतिरिक्त कामायनी का निर्माण उस युग में हुआ, जबकि भारतीय जीवन में निराशा आती जा रही थी, आन्दोलन बराबर असफल हो रहे थे और भारतीयों को अपने संग्राम में विजयी होने की आशा टूटती सी जा रही थी, तब कवि ने कामायनी लिखकर निराश एवं हताश हुए भारतीयों को उनकी दुर्बलताओं की ओर संकेत करते हुए उन्हें दूर करके पुनः प्रयत्न करने का धैर्य बँधाया था और मनु की भाँति अपने गंतव्य स्थल पर पहुँचाने का आश्वासन भी दिया था। चौथे, प्रियप्रवास की सम्पूर्ण कथा में एक मात्र वियोग का ही प्राधान्य है, साकेत में संयोग एवं वियोग दोनों के ही रमणीक चित्र अंकित किये गये हैं, फिर भी वियोग-चित्र ही अधिक हैं और कामायनी में यद्यपि संयोग और वियोग दोनों का प्रभावशाली वर्णन मिलता है, तथापि वियोग की अपेक्षा संयोग का ही वर्णन अधिक है। पाँचवें, प्रियप्रवास में वस्तु-व्यापार-वर्णन की तो बहुलता है, परन्तु सर्वत्र वियोग का रंग अधिक गहरा होने के कारण उनमें रमणीयता नहीं दिखाई देती, साकेत में वस्तु-व्यापार-वर्णनों में कवि ने चमत्कार दिखाने का अधिक प्रयास किया है और कामायनी में वस्तु-व्यापारों का तो अभाव है, परन्तु जो कुछ भी वर्णन है, उसमें रमणीयता उक्त दोनों ग्रंथों की अपेक्षा अधिक है। छठे, प्रियप्रवास में कवि ने कथा के जिन मार्मिक स्थलों को चुना

है, वे उसके उद्देश्य की सिद्धि मे पर्याप्त सहायक नही हुए हैं और कहीं-कही तो कवि बौद्धिकता के चगुल मे फँसकर उन स्थलो के चित्रण को हास्यास्पद बना बैठा है। साकेत मे ऐसे मार्मिक स्थलो की कमी तो नही है, जिनमे पाठको का चित्त रम सके, परन्तु यहाँ कवि ने जिन उपेक्षित स्थलो को चित्रित किया है, उनमे भावना का रग इतना गहरा हो गया है कि वे पाठको के हृदय में ऊब उत्पन्न कर देते हैं और बडे धैर्य के उपरान्त ही साकेत के वियोग-सागर को पार किया जाता है। इस दृष्टि से कवि का नवम सर्ग भले ही मनोवैज्ञानिक हो, परन्तु हृदय को रमाने एव मार्मिक स्थलो की पहँचान की दृष्टि से अधिक सुदर एव सजीव नहीं है। कामायनी मे कवि ने रमणीक स्थलों को पर्याप्त मात्रा मे चुना है और उनका वर्णन भी बडी सजीवता के साथ किया है। कामायनी का लज्जा सर्ग इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। उसे पढकर पाठक का हृदय पूर्णतया तल्लीन हो जाता है और तनिक भी ऊब उत्पन्न नही होती। परन्तु यहाँ भी कवि ने भावो का वर्णन इतनी अधिकता के साथ किया है कि सर्वत्र दूरारूढ कल्पना का ही प्राधान्य हो गया है। सातवें, तीनो महाकाव्यो मे कवियो ने जो नवीन उद्भावनायें की हैं उनमे से प्रियप्रवास के अन्तर्गत आई हुई कालीनाग, गोवर्द्धन पर्वत आदि की कथायें तथा साकेत के अन्तर्गत वशिष्ठजी द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से लका की समस्त घटनाओ का दिखाना आदि तो हास्यास्पद ही है। इसके अतिरिक्त कामायनी मे कवि ने नवीन उद्भावनायें करके कथा-सूत्र जोड़ने का तो अच्छा प्रयास किया है, परन्तु वह भी कथा को अन्त मे उचित एव न्यायसगत रूप नही दे सका है और यह स्पष्ट रूप से नहीं बता सका है कि मनु को अखड आनन्द कैलाश पर बैठकर तपस्या द्वारा मिला था या समरसता सहित लोक-हित एव लोक-सेवा के कार्यों द्वारा। इस तरह इन कवियों की नवीन उद्भावनाओ के कारण तीनो काव्य जहाँ सरस एव तर्कसम्मत बने हैं, वहाँ मानव की सम्पूर्ण जिज्ञासाओ का समाधान नही कर पाये हैं।

३- चरित्र चित्रण—इन तीनो महाकाव्यो में अनेक पात्र हैं और उनके चरित्र को भी कवियों ने चित्रित किया है। परन्तु यहाँ हम उक्त तीनो महाकाव्यो के उन प्रमुख एव प्रतिनिधि पात्रो को ही लेंगे, जिनके आधार पर इन महाकाव्यों की कथायें निर्मित हुई हैं। इनमे से प्रियप्रवास के राधा और कृष्ण, साकेत के उर्मिला और लक्ष्मण तथा कामायनी के श्रद्धा और मनु आते हैं। इन पात्रो के चरित्र चित्रण में भी पर्याप्त साम्य एवं वैषम्य दिखाई देता है। जैसे इन तीनो महाकाव्यो मे भारतीय सास्कृतिक परम्परा का

—साम्य (—•

अनुसरण हुआ है और उसी के आधार पर एक पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बंध, नारी की पति-परायणता, उसके हृदय की सुकुमारता, संयोग-वियोग के अवसर पर चित्त की अधीरता, क्षुब्धता एवं उत्सुकता, पुरुष की नारी के प्रति उत्सुकता एवं उपेक्षा आदि के चित्र अंकित किये गये हैं। तीनों ही महाकाव्यों में नायक एवं नायिका अपने सामान्य लक्षणों से विभूषित हैं। इसी कारण उनमें वीरता, शौर्य, दक्षता, त्याग, लोकप्रियता आदि गुण विद्यमान हैं। तीनों ही महाकाव्यों के नायक बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, स्वाभिमान, दृढ़ता, तेजस्विता, शूरता, धार्मिकता आदि से सम्पन्न हैं। तीनों ही महाकाव्यों की नायिकायें त्याग, दया, ममता, करुणा, विश्वबंधुत्व, धार्मिकता, पातिव्रतधर्म, सहज स्नेह, प्राणि मात्र के प्रति प्रेम आदि से परिपूर्ण हैं। तीनों महाकाव्यों में नारी के लोकपावन चरित्र की सृष्टि हुई है और उसमें पुरुष की अपेक्षा नारी में अधिक उन्नत एवं उत्कृष्ट गुण दिखाये गये हैं। इसके साथ ही तीनों महाकाव्य चरित्र-प्रधान भी हैं।

इन कतिपय समानताओं के साथ-साथ तीनों महाकाव्यों के चरित्र-चित्रण में वैषम्य भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। सर्वप्रथम प्रियप्रवास एवं कामायनी में तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि इनमें क्रमशः राधा और कृष्ण तथा श्रद्धा और मनु नायिका एवं नायक हैं, जब कि साकेत में नायिका तथा नायक का निर्णय करना कठिन हो जाता है, क्योंकि इस काव्य में उर्मिला तो स्पष्टरूपेण नायिका की भाँति चित्रित है और यहाँ राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, शत्रुघ्न आदि सभी पात्र उर्मिला के चरित्र पर घात-प्रतिघात द्वारा प्रभाव डालते हैं अथवा कभी परिस्थिति के रूप में या कभी पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित होकर उस पात्र को प्रकाश में लाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु लक्ष्मण को नायक कहना उचित नहीं दिखाई देता क्योंकि न तो कवि ने लक्ष्मण में राम की अपेक्षा श्रेष्ठ गुणों का समावेश किया है और न कवि का विचार ही लक्ष्मण को नायक का पद देने की ओर दिखाई देता है। लेखक यहाँ विशेषतया राम के गुणों पर मुग्ध होने के कारण लक्ष्मण के नायकत्व को भूल जाता है। यद्यपि इस महाकाव्य के प्रारम्भ में तो यही दिखाई देता है कि लक्ष्मण और उर्मिला ही इस काव्य के नायक-नायिका रहेंगे, तथापि आगामी रामकथा के प्रवाह में कवि का ब्रह्म इस बात को अंगीकार नहीं करता कि उसका राम अपनी श्रेष्ठता छोड़ दे और लक्ष्मण इस काव्य में नायक का पद ग्रहण कर ले। इसके अतिरिक्त प्रियप्रवास में जहाँ आदर्शवादिता की प्रबलता के कारण श्रीकृष्ण और राधा में एकमात्र

लोकपावन गुणों एव उत्कृष्ट विचारो का ही समावेश दिखाई देता है, वहाँ साकेत तथा कामायनी म कवियो की दृष्टि आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर भी रही है। इसी कारण साकेत मे लक्ष्मण रामचरितमानस की अपेक्षा कहीं अधिक उद्दड, स्वच्छद एव स्वतत्र मनोवृत्ति के दिखाये गये हैं, उनमे क्रान्ति का स्वर विद्यमान है और वे माता कैकेयी, पिता दशरथ तथा पूज्या सीता से भी कटुवाक्य कहते हुए तनिक भी सकोच नहीं करते। अतएव उदात्त गुणो के साथ-साथ उनम मानवीय दुर्बलतायें भी विद्यमान हैं। यही बात कामायनी के मनु में है। प्रसादजी ने कामायनी मे मनु को भी मानवीय दुर्बलताओं से ओतप्रोत एक साधारण व्यक्ति के समान पतन और उत्थान की पेंगो मे झूलते हुए अकित किया है। उनमे अनेक दोष हैं और अनेक गुण हैं। वे जहाँ इन्द्रियो के वश मे होकर पतन के गर्त में गिरते हैं, वहाँ इन्द्रियों पर सयम करके त्याग और तपस्या के साथ उत्थान के कैलाश शिखर पर भी चढ जाते हैं। इसी तरह इन तीनो महाकाव्यो की नायिकाओं में भी पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ 'प्रियप्रवास' की राधा श्रीकृष्ण का सदेश सुनकर आजन्म कौमार व्रत धारण करती हुई लोकसेवा एव लोकहित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है, वहाँ साकेत की उर्मिला केवल वियोग या कष्ट के समय में ही लोकहित एव लोकसेवा के प्रति उदार दिखाई देती है और अन्य अवसरो पर उसे इन बातो का ध्यान नहीं रहता, जबकि कामायनी की श्रद्धा प्रारम्भ स ही त्याग, तपस्या, उदारता एव सेवा की साकार मूर्ति है और अपने इन उदात्त गुणा से वह सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण करती हुई निरतर लोकसेवा एव लोकहित म ही सलग्न रहती है।

इन कतिपय वैषम्यो के साथ ही जब हम इन कवियो की चरित्र चित्रण सम्बन्धी मौलिक उद्‌भावनाओं की ओर दृष्टि डालते हैं, तब पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की राधा, साकेत की उर्मिला और कामायनी की श्रद्धा तीनो ही क्रमश हरिऔध, गुप्त तथा प्रसाद की अपनी सृष्टि हैं। इन तीनों का निर्माण इन कवियो ने अपनी उदार भावना एव उर्वर कल्पना के आधार पर किया है, जो सर्वथा नवीन, मौलिक एव असाधारण है, क्योंकि जहाँ प्रियप्रवास की राधा अपनी परम्परागत विशेषताओं को छोडकर एक अत्यन्त पवित्र एव आदर्श प्रेम की देवी के रूप में अकित हुई है, वहाँ साकेत की उर्मिला अपने उपेक्षापूर्ण जीवन को पुन प्राप्त करती हुई अपने विरह, करुणा एव वीर भावो द्वारा रामकथा मे हलचल उत्पन्न करती हुई चित्रित हुई है।

इसी तरह कामायनी की श्रद्धा अपने भावनारूप को छोड़कर अथवा अमूर्तरूप का परित्याग करती हुई एक दूध का सा धुला हुआ पुनीत पार्थिव रूप धारण करके भी अपार्थिव एवं अलौकिक बनकर कामायनी में प्रतिष्ठित हुई है। ये तीनों नारियाँ आधुनिक आन्दोलनों में भाग लेने वाली वीर रमणियों के रूप में यत्किंचित् चित्रित हैं, परन्तु इनमें से राधा तो पूर्णतया आधुनिक युग की सरोजनी नायडू, कमलानेहरू अथवा विजयलक्ष्मी के लोक-हित संबंधी स्वरूप को अंकित करती हुई प्रस्तुत की गई है और उर्मिला में हमें ऐसी सम्पन्न रमणी का आभास मिलता है, जो आधुनिक क्रान्ति की लहर से प्रभावित होकर अपने पति को तो आन्दोलन में भाग लेने के लिए विदा कर सकती है परन्तु स्वयं उसमें सक्रिय सहयोग नहीं देती तथा श्रद्धा को कवि ने एक ऐसी आदर्श नारी के रूप में अंकित किया है, जो आधुनिक नवीन सभ्यता में भ्रमित नारियों एवं पुरुषों को निश्छल प्रेम, निस्वार्थ त्याग, ध्रुव विश्वास, सहज करुणा, सहिष्णुता आदि का पाठ पढ़ाने के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करती हुई अपने पुत्र एवं पति को भी आन्दोलनों में भाग लेने के लिए प्रेरणा देती है तथा उनमें स्वयं भी सक्रिय भाग लेती है। इसी कारण तीनों महाकाव्यों का चरित्र-चित्रण परस्पर पूरक बनकर जीवन के क्रमिक विकास का भी सूचक है।

५– विरह-वर्णन—तीनों काव्यों में विरह-वर्णन की दृष्टि से भी पर्याप्त साम्य एवं वैषम्य के दर्शन होते हैं। जहाँ तक साम्य का संबंध है तीनों महाकाव्यों में जिस विरह का वर्णन हुआ है, वह जीवन से बाहर की वस्तु नहीं दिखाई देता, अपितु यह जीवन का अभिन्न अंग बनकर सुख और दुःख के चक्र को समझाने के लिए गृहस्थ-जीवन में ही प्रतिफलित होता हुआ दिखाया गया है। तीनों नारियाँ सती-साध्वी के रूप में हमारे सम्मुख आती हैं और तीनों के हृदय में अपने-अपने पतियों के प्रति अटूट स्नेह, अनंत अनुराग एवं तीव्र छटपटाहट है, फिर भी तीनों में संयम, आत्मविश्वास एवं दृढ़ता अपार मात्रा में है। तीनों का वियोग प्रवास-जन्य है क्योंकि श्रीकृष्ण, लक्ष्मण तथा मनु के परदेश चले जाने पर ही राधा, उर्मिला एवं श्रद्धा विरह-व्यथित चित्रित की गई हैं। तीनों पति-प्राणा नारियाँ हैं। अतएव उनमें विभिन्न काम दशायें भी थोड़े-बहुत रूप में विद्यमान हैं और इन्हीं के फलस्वरूप कभी वे अपने प्रिय के गुण कथन में, उनकी चिन्ता में, उनकी प्रतीक्षा में एवं उनके शुभ संदेश सुनने में उत्सुक एवं तल्लीन दिखाई देती हैं, तो कभी भावावेश में आकर रोती-बिसूरती एवं विलाप करती हुई मूर्छित हो जाती हैं। तीनों की

विवशता, विरह-जन्य गहनता एव तीव्रता मे भी पर्याप्त साम्य है और तीनो के हृदयो को विरह के आंसू प्रक्षालित करके इतना अधिक उदार एव महान बना देते हैं, जिससे वे व्यथा-काल में भी सजग एव सचेत होकर अन्य प्राणियों एव पशु-पक्षियों तक का ध्यान रखती हैं और आत्मार्थी न रहकर सदैव के लिये परमार्थी के रूप मे अपना जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर देती हैं। इन मनोभावो के अतिरिक्त जहाँ तक वर्णन-कला का प्रश्न है, तीनो कवियो ने लगभग एक ही परम्परा का अनुसरण किया है, क्योंकि तीनो ही कवि भारतीय परम्परा से पूर्णतया प्रभावित होने के कारण विरह के समय प्रकृति के विभिन्न उपादानो—चन्द्र, वसन्त, कुज, भ्रमर, नदी आदि को उद्दीपन के रूप म अकित करना नही भूले हैं और तीनो ही कवियो ने विरह की तीव्र व्यजना के लिये उत्प्रेक्षा अथवा अतिशयोक्ति अलकार का आश्रय लिया है। इतना ही नहीं तीनो मे लाक्षणिक पदावली का प्रयोग भी मिल जाता है तथा प्रकृति के सवेदनात्मक चित्रणो द्वारा तीनो ही कवियो न विरह-जन्य प्रभाव को दिखाते हुए विरह की व्यापकता एव मार्मिकता की भी सुदर अभिव्यजना की है।

इन कतिपय साम्यो के रहते हुए तीनो महाकाव्यों के विरह-निरूपण मे पर्याप्त वैषम्य भी है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम तीनो नायिकाओं की स्थिति को ही ले सकते हैं। 'प्रियप्रवास' की राधा कृष्ण के साथ बचपन से पर्याप्त क्रीडा विहार तो कर चुकी है, परन्तु अभी तक उसका विवाह नहीं हुआ है। अतएव उसकी मनस्कामना-पूर्ति में विघ्न उपस्थित करन के लिए इस विरह का आगमन हुआ है। उधर साकेत की उर्मिला तथा कामायनी की श्रद्धा दोनो ही परिणीता नारियाँ हैं। उनका जीवन राधा से पूर्णतया भिन्न है। वे जीवन के आनदोपभोग से भी परिचित हैं। अतएव उनके हृदय में विरह की आग राधा से कही अधिक तीव्र है। इनमे से भी उर्मिला तथा श्रद्धा दोनो की परिस्थितियो मे भी बडा अतर है। उर्मिला तो राजरानी है, राजमहल म रहती है, अनेक दासियाँ उसकी परिचर्या के लिए सर्वदा समीप रहते हैं, अभी तक माता न बनने के कारण अकेली भी है। परन्तु श्रद्धा की परिस्थिति उर्मिला से पूर्णतया भिन्न एव भयानक है। वह प्रथम तो विरह के अवसर पर आसन्नगर्भा है, उसके समीप उसे सहायता देने वाला कोई भी दास-दासी या सबधी नहीं है और जब वह माता बन जाती है, तब भी उसे किसी अन्य का आश्रय प्राप्त नहीं होता, वह स्वय ही अपनी और अपने पुत्र की उदर-पूर्ति के साधन जुटाती है,

स्वयं घर का सारा कार्य करती है और स्वयं ही अपने भोले-भाले सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती है। इतना ही नहीं वह अत्यंत संयम एवं धैर्य के साथ अपने विरह की आग को छिपाकर पुत्र के सम्मुख कभी संतप्त एवं व्यथित दिखाई नहीं देती, अपितु विषाद की कालिमा से अपने पुत्र की रक्षा करती हुई उसके सामने तो सदैव प्रफुल्लवदन-सी दिखाई देती है, किन्तु एकान्त में आंसू बहाकर अपना जी हलका कर लेती है। कितना विषाद, कितना शोक, कितनी घुटन और कितनी वेदना श्रद्धा के हृदय में छिपी हुई है, कोई जान नहीं सकता। साथ ही श्रीकृष्ण तथा लक्ष्मण तो प्रसन्नतापूर्वक विदेश जाते हैं, जबकि मनु श्रद्धा से रूठकर एवं उसका हठात् तिरस्कार करके उसे अकेली छोड़ जाते हैं। इस कारण भी श्रद्धा के विरह में गहनता अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में दिखाई देती है। इसीलिए राधा और उर्मिला से कहीं अधिक व्यथा और वेदना का वेग श्रद्धा के हृदय में दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त विस्तार की दृष्टि से राधा की विरह-व्यथा इन दोनों पतिव्रता नारियों से कहीं अधिक जान पड़ती है, क्योंकि उर्मिला का विरह चौदह वर्ष की अवधि के उपरान्त समाप्त हो जाता है और श्रद्धा का विरह भी चौदह-पंद्रह वर्ष के उपरान्त मनु को पुनः प्राप्त कर लेने पर समाप्त हो जाता है, परन्तु बिचारी राधा विरह की आग में आजीवन जलती रहती है, क्योंकि श्रीकृष्ण फिर कभी व्रज में लौटकर नहीं आते और वह कौमार-व्रत धारण करके विरह को वरदान मानती हुई अपना सारा जीवन व्रजवासियों की सेवा-सुश्रूषा में लगा देती है। सेवा करते हुए यदि कभी भूल से उसकी आंखें आंसू गिरा देती हैं, तो उसे यही कहना पड़ता है कि मैं विरह के कारण नहीं रो रही हूँ, अपितु सेवा करते हुए मेरे हृदय में जो पुलक होता है, उसी कारण मेरी आंखों में आनंद का नीर आ जाता है।[1] इस तरह विरह की दृष्टि से भी जब हम उक्त तीनों महाकाव्यों की ओर दृष्टि डालते हैं तो जान पड़ता है कि प्रियप्रवास में एक कुमारी बालिका के विरह-जन्य संताप का चित्रण है, साकेत में एक नव-विवाहिता रमणी के विरह की छटपटाहट है और कामायनी में एक जननी एवं गृहलक्ष्मी के अन्तर्दाह की जलन का वर्णन किया गया है। इस

१. हो के राधा विनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृग युगल में नीर आनंद का है।
जो होता है पुलक कर के आपकी चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगों में। १७।४०

प्रकार नारी की उत्तरोत्तर विकसित विरह भावना ही इन तीनो महाकाव्यो मे अकित है।

5- प्रकृति चित्रण—आधुनिक काव्यों में प्रकृति की जितनी सजीव झांकी अंकित हुई है, उतनी पूर्ववर्ती काव्यो मे नही दिखाई देती। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले प्रकृति उद्दीपन रूप में ही अधिक चित्रित की जाती थी, परन्तु आधुनिक काव्यो मे वह विभिन्न रूपो में उपस्थित होकर काव्य-कलेवर को सुसज्जित करती है। प्रकृति के जितने रूप आधुनिक युग में प्रचलित हैं उन सभी का यत्किंचित् रूप प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी मे मिल जाता है। मुख्यतया इन तीनो काव्यो मे प्रकृति आलम्बन, उद्दीपन, एव अलकार रूप मे अकित होने के अतिरिक्त सवेदनात्मक एव मानवीकरण के रूप मे सर्वाधिक मिलती है। प्रकृति के सचेतन रूप की सुन्दर एव रमणीक झांकियाँ इन तीनो महाकाव्यो मे अत्यत सजीवता एव मार्मिकता के साथ अकित की गई हैं। साथ ही ये तीनो महाकाव्य प्रकृति की सुकुमार एव भयानक छटा मे इतने ओत प्रोत हैं कि वे प्रकृति के प्रागण मे ही लिखे गये जान पडते हैं। इतना ही नही षट्ऋतुओ उषा सध्या, दिवस-रजनी, चन्द्र-ज्योत्स्ना, लता-कुज, पशु पक्षी, नदी-सरोवर, गिरि निर्झर आदि के इतने रमणीक चित्र इन तीनो काव्यो मे विद्यमान हैं कि जिन्हें देखकर पाठक का मन प्रकृति की सुरम्य सुषमा मे अनायास ही तल्लीन हो जाता है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि इन तीनो काव्यो मे प्रकृति को मानव जीवन के अत्यत निकट लाने का बडा ही सफल प्रयत्न हुआ है और इसीलिए प्रकृति मानवों के आनन्द एव उल्लास के समय हर्ष एव प्रफुल्लता प्रकट करती हुई तथा शोक एव विषाद के अवसर पर ओस या वर्षा के रूप में रोती हुई अथवा अन्य किसी प्रकार से शोक प्रकट करती हुई चित्रित की गई है। इन कवियो को प्रकृति मे एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट सत्ता दृष्टिगोचर हुई है, जिसक प्रागण मे लता-वृक्ष, नद नदी, पशु-पक्षी आदि सभी क्रीडा एव कल्लोल करते हुए निरतर विचरण करते रहते हैं, जहाँ पवन और लता, नभ और धरणी, उषा और रवि, रजनी और चन्द्र कमलिनी और भ्रमर आदि भी मानवो की तरह ही नाना प्रकार की रस-क्रीडाओ एव काम-चेष्टाओ में निमग्न रहते हैं तथा जो समय-समय पर विभिन्न रूप धारण करती हुई एव अपनी अद्भुत छटा विकीर्ण करती हुई अपने दर्शकों के मन को विमुग्ध करती रहती है। इन तीनो ही काव्यो में देशगत, समाजगत एव सास्कृतिक विशेषताओ

5-

से युक्त प्रकृति की छटा का उल्लेख हुआ है और इन तीनों काव्यों में प्रकृति के बिम्बग्राही संश्लेषणात्मक चित्रों की भरमार है।

इन कतिपय साम्यों के अतिरिक्त प्रियप्रवास, साकेत एवं कामायनी में प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी वैषम्य भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाता है। जैसे प्रियप्रवास में देश-काल का ध्यान रखकर ही प्रकृति के अधिकांश पदार्थों का वर्णन किया गया है, परन्तु कवि से कहीं-कहीं भूल भी हो गई है। उदाहरण के लिए वृन्दाटवी में लवंगलता, ऐला, नारंगी आदि का वर्णन देशकाल के विरुद्ध है और व्रज में करील सबसे अधिक पैदा होता है—इसका वर्णन तक कवि ने नहीं किया है। साकेत तथा कामायनी में ऐसी भूलें नहीं हैं। परन्तु प्रियप्रवास एवं कामायनी में प्रकृति के जैसे सुन्दर एवं सजीव चित्र दिये गये हैं, वैसे चित्र साकेत में नहीं दिखाई देते। साकेत में कवि प्रकृति के बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत न करके वर्णन में अधिक लीन दिखाई देता है, जिससे उनमें शिथिलता आगई है और कल्पना तथा भाव का योग रहते हुए भी उसका सम्पूर्ण चित्र अपनी कोई छाप पाठकों के हृदय पर अंकित नहीं कर पाया है प्रियप्रवास में कवि ने नाम-परिगणन तथा बिम्बग्राही दोनों प्रणालियों का प्रयोग तो किया है, परन्तु वह अपने प्रकृति-चित्रों में भावों का अधिक समावेश नहीं कर पाया है। वहाँ पर भी वर्णनात्मक प्रणाली की ही प्रधानता है और कवि के प्रकृति-चित्र पाठकों के हृदय को अधिक आकृष्ट नहीं कर पाते। परन्तु कामायनी के कवि ने अपने काव्य में प्रकृति के ऐसे-ऐसे सजीव एवं मार्मिक चित्र अंकित किए हैं, जो भावों से ओत-प्रोत होने के कारण मानव-जीवन के अत्यंत निकट जान पड़ते हैं और जो अधिकाधिक संश्लेषणात्मक होने के कारण पाठकों के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। प्रियप्रवास में कवि प्रकृति-चित्रण के अंतर्गत चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक प्रवृत्त दिखाई देता है। इसी कारण वह कभी नीम को गुणी वैद्य के समान, आँवले को उतावले व्यक्ति के समान, नारंगी के वृक्ष को सोने के तमगे लगाकर खड़े हुए व्यक्ति के समान आदि कहकर अपनी कला का प्रदर्शन करता है।[1] साकेत में भी कवि की प्रवृत्ति इसी चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक दिखाई देती है। इसी कारण गुप्तजी ने नवम सर्ग में प्रकृति के शृंखला-विहीन चित्र अंकित किये हैं, जिनमें अन्विति (Unity) का पूर्णतया अभाव है और जो बिखरे हुए गुलदस्ते जैसे दिखाई देते हैं। परन्तु कामायनी के

---

१. प्रियप्रवास ९।३०-४०

प्रकृति-चित्रण मे ऐसी विशृंखलता नहीं दिखाई देती। यहाँ कवि ने प्रकृति के भावाक्षिप्त रूपो को इस तरह क्रम-बद्ध रूप मे अंकित किया है कि उनमें सर्वत्र अन्विति विद्यमान है, एक रूपता है और वे अपना एक समन्वित प्रभाव पाठकों के हृदय पर अंकित कर देते हैं। कामायनी के उन प्रकृति-चित्रो मे कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई देती, जबकि साकेत मे पद-पद पर शिथिलता विद्यमान है। साथ ही प्रियप्रवास मे सश्लिष्ट चित्रो का अत्यत अभाव है। वहां प्रकृति को वातावरण के निर्माण-हेतु लाने का सर्वाधिक प्रयत्न हुआ है, साकेत मे भी पूर्ण एव सश्लिष्ट चित्र अत्यत अल्प हैं। किन्तु कामायनी में ऐसे चित्रों की बहुलता है। यहाँ पर बिम्बग्रहण प्रणाली का ही सर्वाधिक प्रयोग करते हुए कविवर प्रसाद ने चितासर्ग मे प्रलय का, आशासर्ग मे हिमालय एव चन्द्र-ज्योत्स्नापूर्ण रजनी का, वासनासर्ग में सध्या का, इडासर्ग मे सरस्वती नदी का, रहस्य एवं आनन्दसर्ग मे कैलाश पर्वत आदि का वर्णन किया है। इस तरह प्रकृति के इन वर्णनो को देखने पर स्पष्ट पता चल जाता है कि प्रियप्रवास मे प्रकृति की सजीव झांकी तो है, परन्तु भावाक्षिप्त एव सश्लिष्ट चित्रो की सख्या अधिक नही है, साकेत मे भी यही दशा है जबकि कामायनी मे प्रकृति के भावाक्षिप्त एव सश्लिष्ट चित्र ही अधिक मात्रा मे मिलते हैं और वहाँ लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता द्वारा उन चित्रों को अधिकाधिक मर्मस्पर्शी एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न हुआ है।

6- **कलाभिव्यक्ति**—जहाँ तक तीनों महाकाव्यो की कला और उसके प्रसाधनों का सम्बन्ध है, तीनो मे पर्याप्त साम्य एव वैषम्य है। साम्य के बारे मे विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रियप्रवास साकेत तथा कामायनी तीनो महाकाव्यो मे वर्णनात्मकता है और कथा मे अविच्छिन्न धारा प्रवाह विद्यमान है। तीनों ही कवियो ने विभिन्न दृश्यो को परस्पर सगुम्फित करके इस तरह चित्रित किया है कि कथानक मे एकरूपता एव अन्विति आ गई है, जिससे सम्पूर्ण कथानक आदि, मध्य एव अवसान मे विभक्त होकर अंकित हुआ है। २- तीनो ही काव्यो मे कथोपकथन एव संवादो को भी अत्यन्त सजीवता एव त्वरा के साथ अपनाया गया है। तीनो महाकाव्यो मे यत्र-तत्र नाटकीय विषमता अथवा पताकास्थानको (Dramatic irony) का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है, जिससे कथानको मे विस्मय एव कौतूहल की सृष्टि हुई है और कथा मे रोचकता आ गई है। तीनो ही महाकाव्यो मे नाटकीय-कौशल अथवा नाटकीय दृश्य-विधान के अनुकूल सधि-सध्यगो की भी योजना की गई है, जिससे सम्पूर्ण इतिवृत्त अत्यत सुसगठित एव सुसम्बद्ध बन गये हैं। तीनो महाकाव्यो

में सर्गबद्धता है तथा भावाभिव्यक्ति के लिए शुद्ध एवं संस्कृतनिष्ठ खड़ी बोली को अपनाया गया है, जिसमें यत्र-तत्र मुहावरों का पुट देकर लाक्षणिकता एवं व्यंग्य की भी सृष्टि की गई है। तीनों ही काव्यों में साधर्म्य एवं सादृश्य के आधार पर प्राचीन एवं नवीन सभी प्रकार के अलंकारों को अपनाया गया है और ये सभी अलंकार भावों की अभिवृद्धि एवं वर्णन की स्पष्टता के साथ-साथ कवियों के चित्र-विधान एवं दृश्य-विधान में भी अत्यंत सहायक सिद्ध हुए हैं। तीनों ही महाकाव्यों में शब्द-शक्तियों के समुचित प्रयोग द्वारा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कथन में चारुता लाने का सुन्दर प्रयत्न हुआ है। तीनों ही कवियों की दृष्टि भारत के परम्परागत अप्रस्तुत-विधान की ओर ही अधिक रही है और यदि कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न भी हुआ है तो वहाँ भी देशगत एवं कालगत विशेषताएँ विद्यमान हैं। तीनों कवियों ने भारत में प्रचलित वृत्त-विधान को ही अपनाया है और प्रायः भावों एवं परिस्थितियों के अनुकूल छंदों का प्रयोग किया है। तीनों ही काव्यों में सौंदर्य एवं रस सम्बन्धी विवेचन भी भारतीय परम्परा के ही अनुकूल है और तीनों के सौंदर्य-निरूपण में पर्याप्त साम्य है।

अब यदि वैषम्य के बारे में विचार करें तो पता चलेगा कि जहाँ, प्रियप्रवास एवं साकेत में वर्णनात्मकता या प्रकथन (Narration) की प्रधानता है, वहाँ कामायनी में रसात्मकता अथवा भावात्मकता का प्राधान्य है, इससे जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत में इतिवृत्तात्मकता अधिक दिखाई देती है, वहाँ कामायनी में कोरी इतिवृत्तात्मकता नहीं दिखाई देती, अपितु कामायनी के प्रकथनपूर्ण वर्णनों का अवसान भी रसात्मक वर्णनों में ही हुआ है। ऐसे ही दृश्य-विधानों के अंतर्गत भी तीनों महाकाव्यों में पर्याप्त विषमता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रियप्रवास में तो कवि ने सरलता एवं सुबोधता के साथ परम्परागत गोकुल ग्राम की संध्या, हरि-गमन, उद्धव का आगमन, वृन्दाटवी की शोभा आदि का वर्णन किया है, साकेत में भी कवि ने कवि-परम्पराभुक्त दृश्यों का ही अधिक वर्णन किया है और शुद्ध प्राकृतिक एवं भौतिक आधारों पर उनकी योजना करते हुए निरूपण किया है। परन्तु उस निरूपण में पर्याप्त शिथिलता एवं अरुचि विद्यमान है, जबकि कामायनी के दृश्यविधान में कवि ने प्राकृतिक साधनों का ही सबसे अधिक प्रयोग किया है और उनमें इतनी चारुता एवं रमणीकता लाने का प्रयत्न किया है कि कहीं भी शिथिलता एवं प्रभावहीनता लक्षित नहीं होती और न कहीं अन्विति का अभाव ही ज्ञात होता है। संवाद की दृष्टि से प्रियप्रवास एवं कामायनी में

3—

पर्याप्त शिथिलता दिखाई देती है, जबकि साकेत मे पर्याप्त त्वरा एव स्वाभाविकता है। इसके साथ ही सवादगत सजीवता एव उद्दीप्ति म तो साकेत दोनो से बहुत आगे है, क्योकि यहाँ पर परिस्थिति एव स्वभाव के अनुकूल सवादों की योजना की गई है और अत्यत छोटे छोटे वाक्यो का प्रयोग किया गया है, जबकि प्रियप्रवास एव कामायनी मे सवाद अधिक लम्बे तथा कहीं-कहीं त्वरा-हीन हो गये हैं। शैली की दृष्टि से भी तीनो मे पर्याप्त अतर है। *प्रियप्रवास म सरल शैली की प्रधानता है, जिससे वहाँ* सरल, सुबोध एव मुहावरेदार भाषा का ही अधिक प्रयोग हुआ है, उसमे व्रजभाषा के शब्दो का भी पर्याप्त सम्मिश्रण है और प्रसाद गुण की प्रधानता *दिखाई देती है। साकेत में सरल और अलकृत दोनो शैलियो की प्रधानता है* और विशुद्ध भाषा के साथ-साथ शब्द चमत्कार प्रचुर मात्रा में दिखाई देता है, जबकि कामायनी मे गूढ एव साकेतिक शैली की प्रधानता है जिससे यहाँ लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता की बहुलता दिखाई देती है कहीं-कहीं दूरारूढ कल्पना का भी सहारा लिया गया है और ओज एव माधुर्य गुणो का समावेश किया गया है। इतना ही नहीं कामायनी म वक्रोक्ति का प्रयोग भी उक्त दोनो काव्यो की अपेक्षा अधिक मिलता है, जिसम से उपचार-वक्रता तो सर्वाधिक अपनायी गई है और इसीलिए यहाँ भाषा भी प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कही अधिक व्यजनापूर्ण एव क्लिष्ट हो गई है तथा काव्य भी अधिक सगुम्फित एव लम्बे हो गये हैं।[5] जहाँ तक अप्रस्तुत-विधान अथवा अलकारों का प्रश्न है, प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कामायनी म लाक्षणिकता की प्रधानता होने के कारण रूपकातिशयोक्ति, मानवीकरण, समासोक्ति, विशेषण विपर्यय आदि अलकारो का अधिक प्रयोग हुआ है। कामायनी मे कुछ उपमायें भी अत्यत नूतन एव असाधारण अपनायी गई हैं। साकेत और 'प्रियप्रवास' में प्राय परम्परागत उपमानों का ही प्रयोग हुआ है, जबकि कामायनी में गौर अग के लिए बिजली का फूल, मुख के लिए अरुण मडल तथा ज्वालामुखी, बालो के लिए सुकुमार घन शावक, हँसी के लिए अरुण की एक अम्लान किरण आदि के प्रयोग करके कवि ने नवीन उपमानो का भी प्रयोग किया है।[7] जहाँ तक शब्द-शक्तियो के प्रयोग का प्रश्न है, प्रियप्रवास मे अभिधा की प्रधानता है, साकेत मे अभिधा के साथ-साथ लक्षणा को भी प्रधानता है, जब कि कामायनी मे लक्षणा और व्यजना की ही प्रधानता है और अभिधा का प्रयोग अत्यत अल्प मात्रा मे हुआ है। अब यदि वृत्त-विधान की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण प्रियप्रवास भारतीय

परम्परा में ही प्रचलित वर्णिक वृत्तों में लिखा गया है, जिससे यहाँ केवल शार्दूलविक्रीड़ित, वसंततिलका, मंदाक्रान्ता, मालिनी आदि संस्कृत के छंद ही अपनाये गये हैं। साकेत महाकाव्य में वर्णिक तथा मात्रिक दोनों प्रकार के वृत्त अपनाये गये हैं, जिससे यहाँ दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया आदि मात्रिक छंद भी है और आर्या, गीति, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी आदि छंद भी प्रयोग किये गये हैं। किन्तु कामायनी महाकाव्य मात्रिक छंदों में ही लिखा गया है, जिनमें से कुछ शास्त्रीय छंद हैं, कुछ मिश्रित छंद हैं और कुछ कवि निर्मित छंद है। जैसे ताटंक, वीर, रूपमाला रोला आदि शास्त्रीय छंद हैं, कामायनी के 'ईर्ष्या' और 'दर्शन' सर्ग में मिश्रित छंद अपनाये गये है अर्थात् इनमें पादाकुलक की एक पंक्ति और दूसरी पद्धरि छंद की पंक्ति मिलाकर लिखा गया है। तीसरे, कवि निर्मित छंदों का प्रयोग 'इड़ा', 'रहस्य' और 'आनंद' सर्गों में हुआ है। इस तरह जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत मे छंदों के लिए केवल शास्त्रीय परम्परा का ही पालन हुआ है, वहाँ कामायनी में कवि ने कुछ स्वतंत्रता का भी प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' में सभी छंद अतुकान्त हैं, जब कि साकेत तथा कामायनी मे तुकान्त छंदों का ही प्रयोग हुआ है और जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत में कहीं भी यतिभंग अथवा गतिभंग का दोष नहीं दिखाई देता, वहाँ कामायनी में कहीं-कहीं यतिभंग संबंधी दोष भी मिल जाता है।

अतः कला के विभिन्न प्रसाधनों की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रियप्रवास में जो कला अपने आरंभिक रूप को लेकर प्रस्तुत हुई है और भाषा एवं भावों में गूढ़ता एवं गहनता की कमी है, साकेत में वही कला कुछ विकसित अवस्था में दिखाई देती है, क्योंकि यह काव्य द्विवेदी-कालीन इतिवृत्तात्मकता एवं छायावादयुग की लाक्षणिकता के मध्य में लिखा गया है और कामायनी में यह कला चरम विकास पर पहुँच गई है, जिससे उसमें ध्वनि की प्रधानता हो गई है और लाक्षणिकता एवं प्रतीकात्मकता का प्राबल्य हो गया है। प्रियप्रवास रस और अलंकार प्रधान काव्य है, साकेत में रस और अलंकारों के अतिरिक्त गुणीभूत-व्यंग्य की प्रधानता है और कामायनी ध्वनि-काव्य है, जिसमें बहुधा वस्तु, रस और अलंकार संबंधी ध्वनि का ही प्राधान्य दिखाई देता है। इस प्रकार प्रियप्रवास से लेकर कामायनी तक हमें कला के क्रमिक विकास के दर्शन होते हैं, जिसमें साकेत इस विकास की कड़ियों को जोड़ने का कार्य कर रहा है, क्योंकि इस में प्रियप्रवास की सी सरल एवं सुबोध कला का स्वरूप भी विद्यमान है और कामायनी में

सर्वाधिक प्रयुक्त छायावादी शैली की झलक भी कहीं कहीं मिल जाती है। इस तरह ये तीनों प्रबन्धकाव्य कला के क्रमशः प्रारम्भ, मध्य एवं चरमोत्कर्ष के परिचायक हैं।

7- उद्देश्य—उक्त तीनों महाकाव्य भले ही आधुनिक युग में नवीन चेतना, नवीन स्फूर्ति एवं नवीन जागृति उत्पन्न करने के लिए लिखे गये हों, अथवा आधुनिक युग के संघर्षमय जीवन को चित्रित करने के लिए निर्मित हुए हों या आधुनिक भ्रमित मानव का पथ प्रदर्शन करने के लिए रचे गये हों, किंवा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए इनकी सृष्टि हुई हो किन्तु इतना निर्विवाद सत्य है कि तीनों ही महाकाव्य जीवन की व्याख्या करते हुए मानव-जीवन को सुख, समृद्धि, शान्ति, समता, सहृदयता एवं सज्जनता से परिपूर्ण करने के लिए निर्मित हुए हैं। फिर भी तीनों की रचना के उद्देश्य पूर्णतया भिन्न हैं, क्योंकि महाकवि हरिऔध की दृष्टि मानव-जीवन को उन्नत बनाने के लिए 'लोक-हित' पर लगी हुई थी, उनके विचार से लोकहित ही मानव के कल्याण का एकमात्र उपाय था और अपने इसी विचार एवं उद्देश्य से प्रेरित होकर आपने अपने प्रियप्रवास में पहले श्रीकृष्ण के जीवन में व्याप्त लोकहित की चर्चा की, तदनन्तर श्रीकृष्ण की परम भक्त एवं पूर्णानुरागिनी राधा में इसकी प्रेरणा उत्पन्न की और वह अपने प्राणप्रिय का अनुसरण करती हुई लोकहित की लोकपावन एवं लोककल्याणकारी भावना में लीन हो गई। इतना ही नहीं, उस प्रेममूर्ति राधा ने आजीवन कौमार व्रत धारण करके 'लोकहित' के लिए ही अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया। इस तरह कवि हरिऔध ने 'लोकहित' के प्रचार एवं प्रसार के उद्देश्य से प्रियप्रवास की रचना की। साकेत में कविवर मैथिलीशरण गुप्त चिर-उपेक्षिता उर्मिला की जीवन-गाथा लेकर उपस्थित हुए हैं और उन्होंने उर्मिला के चौदहवर्ष के कठोर विरह एवं मिलन को ही प्रमुख रूप से साकेत में अंकित किया है। इस प्रकार साकेत में रामचरितमानस की भाँति मुख्य कार्य रावण-वध नहीं है, अपितु चिर विरहिणी उर्मिला का अपने सुहाग-अनुराग की वस्तु पति लक्ष्मण से मिलन है। अतएव कवि ने यहाँ उर्मिला के अनुपम त्याग का सजीव चित्र अंकित किया है, उसकी कष्ट-सहिष्णुता को वाणी प्रदान की है और पतिप्राणा नारी की विवशता को साकार रूप दिया है। इस तरह कवि ने 'त्याग' को अंकित तो किया है, परन्तु यह त्याग निवृत्तात्मक या वैराग्यमूलक नहीं है, अपितु इसमें अनुराग का भाव छिपा हुआ है 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही' अथवा "त्याग का संचय-प्रणय का पर्व" कहकर कवि ने इस त्याग का

स्पष्ट निरूपण कर दिया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि त्याग के साथ-साथ जीवन में कर्मण्यता का भी बड़ा महत्व है। बिना कर्मशील बने, त्याग शोभा नहीं देता। इसलिए कविवर गुप्त ने त्याग को जीवन की विभूति बताने के लिये एवं कर्मण्यता को त्याग का सहयोगी सिद्ध करने के उद्देश्य से साकेत महाकाव्य का निर्माण किया है। तीसरे महाकाव्य कामायनी का निर्माण आधुनिक लक्ष्यभ्रष्ट संतप्त मानव को आनंद की प्राप्ति का साधन बताने के लिए हुआ है। इसमें कविवर प्रसाद ने मनु की असफलता एवं विषमता का चित्रण करते हुए आधुनिक मानव की असफलता एवं विषमताओं को ही अंकित किया है और बताया है कि जीवन और जगत को सत्य मान कर निरंतर कर्म करते हुए जीवन मे समरसता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समरसता के आते ही मानव अपने इसी जीवन में मनु की ही भाँति 'आनंद' को प्राप्त कर सकता है। अतएव आनंद-प्राप्ति के उपाय एवं साधन चित्रित करने के लिए अथवा आधुनिक संतप्त मानव को आनंदमय बनाने के उद्देश्य से कविवर प्रसाद ने कामायनी का सृजन किया है। इस तरह उद्देश्य की दृष्टि से तीनों ही महाकाव्यों में पर्याप्त अंतर है, किन्तु मूल रूप में तीनों महाकाव्य जीवन को समुन्नत बनाने के लिए ही सचेष्ट दिखाई देते हैं।

निष्कर्ष यह है कि प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी तीनों ही महाकाव्य आधुनिक जीवन को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इसलिए आधुनिक जीवन की समस्यायें ही इनमें विद्यमान हैं। परन्तु मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए लोकहित, त्याग एवं अनुराग तथा आनंद-प्राप्ति नामक जिन तीन उद्देश्यों की ओर ऊपर संकेत किया गया है, वे तीनों मानव-जीवन के चिरंतन सत्य हैं, उनका किसी युग-विशेष से संबंध नहीं है, अपितु ये युगयुगीन भाव हैं, जिनकी आवश्यकता मानव को सदैव रही है और रहेगी। परन्तु इन तीनों उद्देश्यों का उद्घाटन करते हुए तीनों ही कवियों ने मानव-जीवन के जिस उत्थान-पतन की ओर संकेत किया है, मानव के चिरंतन संघर्ष को जो वाणी दी है और मानव के विचार एवं अनुभूतियों को जो काव्यरूप प्रदान किया है, उनके देखने पर पता चलता है कि प्रियप्रवास एवं साकेत में न तो कामायनी जैसी गहनता है और न मार्मिकता। इनमें अन्तःप्रकृति एवं बाह्य प्रकृति के सामंजस्य का चित्र भी इतनी सजीवता के साथ अंकित नहीं हुआ है, जितना कि कामायनी में दृष्टिगोचर होता है और इनमें मानव-मनोभावों की बारीकियाँ तथा उन बारीकियों की अभिव्यक्ति भी इतनी उत्कृष्ट एवं चित्ताकर्षक नहीं है, जितनी कामायनी में दिखाई देती है। अतएव 'प्रियप्रवास'

एव साकेत दोनो आधुनिक युग की महान् कृति होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से कामायनी से श्रेष्ठ नहीं है।

हिन्दी महाकाव्यों में प्रियप्रवास का स्थान—आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यो मे 'प्रियप्रवास' का स्थान क्या है ? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि यह काव्य इस युग का सर्वप्रथम महाकाव्य है। तुलनात्मक दृष्टि से भले ही यह महाकाव्य साकेत एव कामायनी की अपेक्षा अधिक महान् न हो, परन्तु यही वह प्रथम महाकाव्य है, जिसने खडी बोली मे महाकाव्य के अभाव को सर्वप्रथम दूर किया था, इसने ही खडी बोली के महाकाव्यो की परम्परा का आरम्भ किया था और इसने ही आगामी कवियों को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी, यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम महाकाव्य-सबधी नवीनता का उद्घोष किया था, नवीन शैली एव नवीन कथा-मोडो को अपनाने की सलाह दी थी और अपनी पौराणिक गाथाओ एव ऐतिहासिक कथाओं को नवीन ढग से प्रस्तुत करने का सूत्रपात्र किया था, यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए इस युग मे मानवता, लोकहित एव विश्व प्रेम की घोषणा की थी और यही वह काव्य है, जिसने सस्कृत के छदो का अधिक से अधिक सरलता से प्रयोग करके हिन्दी-काव्य को सम्पन्न बनाने की चेष्टा की थी। अतएव अनुभूति एव अभिव्यक्ति की दृष्टि से भले ही 'प्रियप्रवास' उच्च स्थान का अधिकारी न हो, परन्तु अपनी मौलिकता, नवीनता एव प्राथमिकता की दृष्टि से हिन्दी-महाकाव्य के क्षेत्र मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है और एक आलोक-स्तम्भ की भांति स्थित होकर उसने आधुनिक कवियो का अभी तक जिस तरह पथ प्रदर्शन किया है, उसी तरह वह भविष्य मे भी करता रहेगा।

'प्रियप्रवास' का सदेश—'प्रियप्रवास' आधुनिक मानव को कर्तव्य-पथ पर आरूढ करके उस श्रेय की ओर अग्रसर करने की प्ररणा देने के लिए लिखा गया है। इसीलिए इसमें आरम्भ से अत तक लोक-सेवा, लोकहित एव प्राणिमात्र के प्रेम का स्वर गूँजता हुआ सुनाई देता है। सम्पूण काव्य नैतिकता एव धार्मिक विश्वास से परिपूर्ण है और भारतीय सस्कृति के उन्नत विचारो से ओत प्रोत है। इसी कारण मानव जीवन को सुसमृद्ध बनाने के लिए जिन जिन विचारो, भावो, अनुभूतियो एव प्रेरणाओ की आवश्यकता है, उनसे यह परिपूर्ण है। यहाँ पर कविवर हरिऔध ने विपद ग्रस्त एव सतप्त जीवन से छुटकारा पाने के लिए मानवो को यही सलाह दी है कि 'स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ को अपनाओ। आत्मार्थी होकर जीवन व्यतीत मत करो,

अपितु अन्य प्राणियों का भी ध्यान रखो। भोगों में जीवन का कल्याण निहित नहीं है, अपितु त्याग एवं सात्विक कार्यों में ही कल्याण छिपा हुआ है। परोपकार एवं परहित ही मानव को श्रेष्ठ एवं महान् बनाते हैं। मानव को सदैव अपनी जन्मभूमि एवं अपने स्वदेश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए अपनी जाति एवं अपने देश के संकट को दूर करना ही मानव का परम धर्म है। सदैव मानव को अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ रहना चाहिए। मानवों के लिये प्राणों की ममता में लीन रहना कदापि श्रेयस्कर नहीं है, अपितु जगत् में सर्वभूतहित ही सदैव श्रेयस्कर होता है। सदैव निस्वार्थ भूतहित एवं लोक सेवा से ही मानव संसार में पूज्य होता है। मानव को अधिक से अधिक कष्ट सहन करते हुए तथा सत्य-पथ पर आरूढ़ होकर सदैव लोकहित में लीन रहना चाहिए अपने से तुच्छ एवं दलित प्राणियों को सर्वथा हेय नहीं समझना चाहिए, अपितु उनमें भी विश्वात्मा का दर्शन करके उनके उत्थान का उपाय करना चाहिए। इसके साथ ही हमें सदैव श्रीकृष्ण एवं राधा की भाँति आत्म-त्याग के साथ-साथ अपने समाज एवं अपने देशवासियों की सेवा में ही नहीं, अपितु विश्व के प्रेम में लीन होकर विश्व भर के प्राणियों को अपनी ही आत्मा का स्वरूप जानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा में लीन रहना चाहिए।" यह है 'प्रियप्रवास' का वह अमर संदेश, जिसके फलस्वरूप यह महाकाव्य भारतीय संस्कृति की अमर निधि बनकर हिन्दी-साहित्य का देदीप्यमान रत्न बना हुआ है। निस्संदेह 'प्रियप्रवास' का यह संदेश मानवता का प्रसार करता हुआ जन जीवन में विश्व-बंधुत्व की भावना जाग्रत करने की तीव्र प्रेरणा प्रदान कर रहा है।